निवेदन

यद्यपि अन्य भाषाओं में 'विकासात्मक मनोविज्ञान' का साहित्य काफी समृद्ध है, किन्तु हिंदी भाषा में इस विषय पर, प्रयोगात्मक पद्धति पर, प्रणीत अच्छी पुस्तकों का अभी तक अभाव रहा है। प्रस्तुत पुस्तक इसी अभाव-पूर्ति का एक लघु प्रयास है।

मनोविज्ञान की इस शाखा पर उपलब्ध पुस्तकों में विकासात्मक अवस्थाओं (Developmental periods) का काफी विस्तृत अध्ययन प्राप्त है, किन्तु मैंने इस पुस्तक में उन सभी चीजों का समावेश न करके पाठ्य-क्रम के अनुकूल केवल महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक अध्ययनों का ही निरूपण-विवेचन किया है। मैंने पूर्ण ध्यान रखा है कि विभिन्न पहलुओं के विकास का विवेचन पाठकों को क्रम-बद्ध रूप में प्राप्त हो सके।

विषय की स्पष्टता के लिये, मैंने विकासात्मक पहलुओं का गर्भावस्था से लेकर परिपक्वावस्था तक का, क्रम-बद्ध अध्ययन पर्याप्त वैज्ञानिक आधारों पर प्रस्तुत किया है। विषय के विवेचन में पूर्ण मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाया गया है।

प्रारम्भिक अध्यायों में मैंने विकासात्मक मनोविज्ञान की विषय-वस्तु, उपयोगिता तथा विकास के नियमों का सविस्तर प्रतिपादन किया है। 'आनुवंशिकता तथा वातावरण' अध्याय विस्तारपूर्वक बोधगम्य भाषा में लिखा है और ऐसे विवादग्रस्त विषयों को सुलझे हुए रूप में समझने के लिये, अधिक-से-अधिक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए, एक निष्कर्ष की ओर भी संकेत किया गया है। आनुवंशिकता के तंत्र-जैसे जटिल विषय को समझाने के प्रयास में कुछ चित्र (diagrams) भी दिये गए है।

पुस्तक के सम्बन्ध में मेरी धारणा यह है कि बहुत अधिक लिखने की अपेक्षा कम, किंतु सार्थक लिखना कहीं अधिक उत्तम होता है। अतः, इस बात को ध्यान में रखते हुए ही पाठ्य-क्रम के अनुकूल मैंने इसके विभिन्न अध्यायों में केवल तथ्यों

को संग्रह करने की अपेक्षा इन्हें वर्णनात्मक तथा विश्लेषणात्मक रूप देने की चेष्टा की है। इसमें व्यक्ति के सामाजिक तथा संवेगात्मक विकासों के क्रम-बद्ध अध्ययन के साथ-ही-साथ उसके मनोवैज्ञानिक विकास का भी विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

पुस्तक-प्रणयन की योजना के सिलसिले में, प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में, उस विषय की पृष्ठभूमि के तौर पर एक समीक्षात्मक रूप दे दिया गया है, जिससे पाठक को अध्ययन में अधिक सुविधा हो सके। मनोवैज्ञानिक विषय के पारिभाषिक पहलुओं को बोधगम्य बनाने के लिये मैंने पहले विषय का वर्णन प्रस्तुत किया है और सम्भवतः प्रचलित परिभाषाओं के बाद अन्त में मतान्तरों को दूर करने के लिये मान्य परिभाषाओं को भी दे दिया है।

पुस्तक-रचना में भाषा-सम्बन्धी सहायता हिंदी-संस्कृत के ख्यातिलब्ध विद्वान आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्रीजी तथा प्रो० विद्यानाथ मिश्रजी से मिली है, जिनके प्रति आदर-भाव प्रकट करने में मुझे गर्व का अनुभव होता है।

अपने परम पूज्य प्रोफेसर एम० जे़ड अब्दीन, बी० ए० आनर्स (लंडन) अध्यक्ष मनोविज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय के प्रति मूक श्रद्धा ही अर्पित कर सकता हूँ, जिनके उचित निर्देशन में मैंने बाल-मनोविज्ञान का ज्ञान उपार्जन किया है तथा अमूल्य सुझावों से पुस्तक का परिमार्जन किया है।

इस पुस्तक की भूमिका मेरे पूज्यवर आचार्य डॉ विमलेश्वर डे, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंडन), अध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग, बिहार विश्वविद्यालय ने लिखकर मेरे प्रति जो उदारता दिखलायी है मैं उसे व्यक्त करने में समर्थ नहीं हूँ। इतना ही नहीं, पुस्तक-प्रणयन में प्रारम्भ से ही निरंतर अपने उत्तमोत्तम सुझावों द्वारा इस रचना को सफल बनाने का श्रेय उन्हीं को है।

बंधुवर प्रो० रामप्रसाद पाण्डेयजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने एक सहयोगी एवं घनिष्ट मित्र के नाते पुस्तक-रचना में केवल प्रोत्साहन तथा विषय के प्रतिपादन में सुझाव ही नहीं दिया है, बल्कि उसके प्रकाशन की समस्या का समाधान भी किया है। मित्रवर प्रो० रामचन्द्र ठाकुर ने तो प्रायः इस पुस्तक की पांडुलिपि को पढ़ने का कष्ट उठाकर यथासम्भव परिमार्जन कर, जिस आत्मीयता एवं सहृदयता का परिचय दिया है, उसका उल्लेख करना सम्भव नहीं। अपने विभागीय इन दो बंधुओं की सहानु-

भूति, उदारता तथा सक्रिय सहयोग के फलस्वरूप ही पुस्तक लिखने के कार्य को मैं पूरा कर सका।

प्रो० विश्वनाथ सिंह, लंगट सिंह कालेज, मुजफ्फरपुर के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रगट करता हूँ, जिन्होंने समय-समय पर अपनी सम्मति देकर मुझे सहायता दी है। प्रो० जगदानन्द पांडेय, आरा तथा अनन्य मित्र प्रो० रामदेव नायक, अध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग, रामकृष्ण कालेज, मधुबनी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने पुस्तक को वैज्ञानिक ढंग से लिखने में केवल प्रोत्साहन ही नहीं दिया, बल्कि अपने अमूल्य सुझाव देकर उसकी सफलता में एक कड़ी भी जोड़ी है।

मनोवैज्ञानिक साहित्य में विशेष रुचि रखने वाले अपने प्राचार्य आदरणीय श्री गया प्रसाद सिंहजी के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जो पुस्तक-प्रणयन में काफी उदारता से प्रोत्साहित करते रहे हैं।

माननीय डॉ० रामस्वरूप अग्रवाल, एम० बी० बी० एस०, डी० टी० एम०; श्रद्धेय केशव कृष्ण जायसवाल, बी-एस०-सी०, बी० टेक० 'सम्मान'; बंधुवर तेजनारायण जायसवाल, एम० ए० तथा अभिन्न सहयोगी प्रो० नानकचन्द भगत, एम-एस० सी० आदि के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकता, जिनके सहयोग तथा प्रोत्साहन से मुझे पर्याप्त बल मिलता रहा है। अंत में, अपने प्रकाशक बन्धु को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने सहृदयतापूर्वक पुस्तक-प्रकाशन में शीघ्रता दिखलाई।

रामदयालु सिंह कालेज,
मुजफ्फरपुर,
अगस्त, १६६०

महेन्द्र प्रसाद जायसवाल

अध्याय १२

बौद्धिक-विकास १६७-१८४
(INTELLECTUAL DEVELOPMENT)

१. प्रारम्भ १६७
२. बुद्धि की परिभाषा १६८
३. मानसिक आयु तथा बुद्धि-लब्धि १७१
४. बुद्धि-लब्धि की स्थिरता १७७
५. बौद्धिक परिपक्वता १८०
६. बुद्धि-लब्धि का महत्त्व १८२
७. बुद्धि किससे अधिक प्रभावित होती है? १८३

अध्याय १३

खेल (PLAY) १८५-२०५

१. प्रारम्भ १८५
२. खेल की परिभाषा १८६
गुलिक की परिभाषा---हरलॉक की परिभाषा---खेल की कसौटी।
३. खेल और कार्य १८६
४. बच्चों के खेल की विशेषताएँ १९०
५. खेल के सिद्धान्त १९२
(क) शीलर-स्पेंसर के सिद्धान्त (ख) भावी जीवन की तैयारी का सिद्धान्त (ग) पुनरावृत्ति सिद्धान्त (घ) जन्मजात शक्ति सिद्धान्त (च) विश्रांति सिद्धान्त (ग) मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त (ज) खेल ही जीवन है-का सिद्धान्त।
६. खेल का महत्त्व १९७
शारीरिक महत्त्व—मानसिक महत्त्व— सांवेगिक महत्त्व—सामाजिक महत्त्व—शिक्षागत महत्त्व।
७. खेल को प्रभावित करने वाले तत्व २०१
आयु—स्वास्थ्य—बुद्धि—यौन-भेद—वातावरण।

अध्याय १४

व्यक्तित्व-विकास • २०६—२२६
(PERSONALITY DEVELOPMENT)
१. व्यक्तित्व का स्वरूप २०६
२. व्यक्तित्व-विकास का आरम्भ २०८
३. व्यक्तित्व-विकास को प्रभावित करने वाले तत्व २०६
४. आनुवंशिक प्रभाव २१०
शारीरिक बनावट तथा स्वास्थ्य—स्नायु-मंडल—अन्तःस्रावी पिंड—बुद्धि ।
५. वातावरण का प्रभाव २१६
पारिवारिक वातावरण—शिक्षालय—खेल के मैदान और साथी—पुस्तकालय और चलचित्र—सामाजिक नियम—संस्कृति ।
६. व्यक्तित्व के विशेषक २२१
प्रभुत्व-अधीनता—अंतमुर्खता-वहिमुर्खता—दृढ़ता—सामाजिकता—संवेगात्मक अस्थिरता ।

अध्याय १

विषय-प्रवेश

INTRODUCTION

विकासात्मक मनोविज्ञान व्यक्ति के शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक विकास का अध्ययन करता है। व्यक्ति का विकास गर्भाधान (Conception) के बाद से ही प्रारम्भ हो जाता है। जन्म के पूर्व की अवधि को गर्भावस्था कहते हैं। इस अवधि में व्यक्ति का जीवन रजकोश (Ovum) तथा शुक्रकोश (Sperm) के सम्मिश्रण (union) से प्रारम्भ होकर सामान्यतः ९ महीने के बाद एक नवजात शिशु (neonate) के रूप में विकसित होकर, गर्भ के बाहर आता है। गर्भावस्था में व्यक्ति का विकास बड़ी तीव्र गति से होता है। यह शारीरिक विकास स्वाभाविक रूप में होता है, जिसे परिपक्वीकरण (maturation) कहते हैं। विकासात्मक मनोविज्ञान गर्भस्थ शिशु के इस सर्वांगीन (wholesome) विकास का ज्यों-का-त्यों अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसके बाद, नवजात शिशु को एक बिल्कुल नवीन वातावरण मिलता है, जिसमें वह विकसित होता है।

नवजात शिशुओं की जन्मजात (inborn) क्षमताओं तथा विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रियाओं का अध्ययन भी विकासात्मक मनोविज्ञान का विषय है। इन शिशुओं में शारीरिक, ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक विकास बड़ी शीघ्रता से होने लगता है। फलतः दो सप्ताह के बाद नवजात शिशु शैशवावस्था में प्रवेश कर जाता है। इस अवस्था में होने वाले शारीरिक,

मानसिक तथा सांवेगिक विकास का अध्ययन विकासात्मक मनोविज्ञान में होता है। इतना ही नहीं, शिशुओं के हर प्रकार के विकास के साथ-साथ उनकी विभिन्न प्रकार की क्रियाओं तथा भाषा-विकास का भी अध्ययन किया जाता है। इन सभी पहलुओं (aspects) का विकास साथ-साथ ही होता है। केवल अध्ययन की सुविधा के लिये हम हर पहलू का अलग-अलग विवेचन करते हैं। यह शैशवावस्था (Infancy) २ वर्ष की आयु तक रहती है। विकासात्मक मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास का अध्ययन समग्र रूप में (as a whole) करता है।

बाल्यावस्था एक महत्त्वपूर्ण विकास की अवस्था है। इस अवधि में बच्चों के विकासात्मक पहलुओं का वर्णनात्मक तथा व्याख्यात्मक अध्ययन विकासात्मक मनोविज्ञान में किया जाता है। बच्चों के शारीरिक, मानसिक, सांवेगिक, सामाजिक तथा नैतिक विकास के साथ-साथ उनके चिंतन, भाषा तथा व्यक्तित्व का भी अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है। बालमनोविज्ञान मनोविज्ञान की एक प्रमुख शाखा है, जो बाल्यावस्था में होने वाले बच्चों के हर प्रकार के विकास तथा व्यवहार का, ज्यों-का-त्यों अध्ययन करता है। अध्ययन के सिलसिले में इसका दृष्टिकोण विकासात्मक होता है। विकासात्मक मनोविज्ञान बच्चों में प्रकट होने वाली नई-नई विशेषताओं का ही नहीं, बल्कि कई विशेषताओं के लुप्त होने (disappear) तथा इसके प्रत्यक्ष प्रभाव का भी अध्ययन करता है। बच्चों के मौलिक दाँत (original teeth) क्रमशः गिर जाते हैं। बलबलाना (Babbling) खत्म हो जाता है तथा लेटे रहने या घुड़कने (हाथ-पैर के सहारे चलना) के बदले वे चलने-फिरने लगते हैं। इन विशेषताओं के लोप होने के फलस्वरूप बच्चों के जीवन में काफी परिवर्तन होता है, जिससे उनके वातावरण के साथ अभियोजन स्थापित करने की शैली तथा व्यवहार में नवीनता दीख पड़ती है। विकासात्मक मनोविज्ञान बाल्यावस्था में होने वाले सामान्य विकास के अतिरिक्त असामान्य विकास तथा असंतुलित अभियोजन का भी अध्ययन करता है।

बाल्यावस्था के बाद किशोरावस्था का अध्ययन भी विकासात्मक मनोविज्ञान का महत्त्वपूर्ण विषय है। इस अवस्था में व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा सांवेगिक जीवन में अत्यधिक परिवर्तन होता है और उनमें परवर्ती यौन विशेषतायें अकस्मात ही प्रकट होने लगती हैं। फलतः मनोवृत्तियों (attitudes) तथा प्रतिक्रियाओं में काफी परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं और अभियोजन-शैली में

भी अंतर आ जाता है। इसके अतिरिक्त, विकास की इस महत्त्वपूर्ण अवस्था में व्यक्ति की आन्तरिक आवश्यकताओं तथा बाह्य प्रतिबंधों के संघर्ष के फलस्वरूप होने वाले उनके सामाजिक अभियोजन तथा चारित्रिक और व्यक्तित्व-विकास का भी अध्ययन किया जाता है।

विकासात्मक मनोविज्ञान परिपक्वावस्था का भी अध्ययन करता है। सामान्यतः किशोरावस्था २१ वर्ष की आयु के लगभग समाप्त हो जाती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि इस उत्तरार्द्ध किशोरावस्था में व्यक्ति परिपक्व हो जाता है। किंतु, ध्यान देने योग्य बात है कि किशोरावस्था और परिपक्वावस्था के मध्य सीमान्त रेखा खींचना कठिन है; क्योंकि, कुछ व्यक्तियों का विकास इस आयु के पहले ही समाप्त हो जाता है, जबकि दूसरे व्यक्ति का विकास परिपक्वावस्था में होता है। यह स्पष्ट है कि शारीरिक तथा बौद्धिक विकास २१ वर्ष तक पूर्णरूपेण हो जाता है, किन्तु, संवेगात्मक विकास, सामाजिक अभियोजन तथा व्यक्तित्व-विकास आदि किशोरावस्था में पूर्ण नहीं हो पाता। इतना ही नहीं, विवेक-दाँत (wisdom teeth) २७ वर्ष की आयु के करीब निकलते हैं तथा हड्डियों का पूर्ण वजन (weight) २५ वर्ष की आयु के लगभग ही हो पाता है। अतः, विकासात्मक मनोविज्ञान परिपक्वावस्था में होने वाले विभिन्न प्रकार के शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक विकासों का भी अध्ययन करता है। परिपक्व विशेषतायें (matured characteristics) व्यक्ति में परिपक्वावस्था में ही दीख पड़ती है। उदाहरण के लिये, वस्तुनिष्ठ रूप से चिंतन करना, संतुलित रूप से सामाजिक अभियोजन तथा नियंत्रित ढंग से संवेगात्मक अभिव्यक्ति करना इत्यादि।

अंत में हम कह सकते हैं कि विकासात्मक मनोविज्ञान व्यक्ति के शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक विकास का समग्र रूप में (as a whole) गर्भावस्था से लेकर परिपक्वावस्था तक अध्ययन, करता है। यह अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है, जो क्रमबद्ध तथा नियंत्रित निरीक्षण पर आधारित होता है। परिपक्वावस्था में सामान्यतः व्यक्ति की शारीरिक वृद्धि पूर्णरूपेण हो जाती है और वह हर प्रकार की शारीरिक क्रिया करने में समर्थ हो जाता है। इस अवस्था में उनका मानसिक विकास भी इस हद तक हो जाता है कि वस्तुनिष्ठ रूप से (objectively) वे चिंतन कर सकते हैं तथा अपनी समस्याओं का उचित समाधान प्राप्त कर लेते हैं। जटिल परिस्थितियों को समझने तथा निर्णय करने की योग्यता भी उनमें आ जाती है। इस अवस्था में व्यक्ति

प्रायः आत्मनिर्भर हो जाते तथा समाज के साथ संतुलित ढंग से अभियोजन करने की क्षमता भी उनमें अधिक हो जाती है। तब उनकी रुचि (interest) तथा मनोवृत्ति (attitude) बच्चों तथा किशोरों जैसी नहीं रह जाती, बल्कि, सामाजिक समस्याओं के प्रति वे काफी परिपक्व रुचि दिखाते हैं। उनकी संवेगात्मक अभिव्यक्ति भी नियंत्रित होती है। अतः, परिपक्वावस्था को व्यक्ति के विकास की अंतिम अवस्था मानी जा सकती है।

विकासात्मक मनोविज्ञान में व्यक्ति के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखना आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि विकास परिपक्वीकरण (Maturation) तथा शिक्षण (Learning) पर निर्भर करता है। यद्यपि स्वाभाविक वृद्धि (Natural growth) किशोरावस्था तक ही होती है, शिक्षण का प्रभाव जीवन में किसी निश्चित आयु अथवा अवस्था तक सीमित नहीं होता। फलतः व्यक्ति के विकास की कोई सीमा निर्धारित करना कठिन है। फिर भी, सामान्यतः यह माना जाता है कि परिपक्वावस्था में व्यक्ति का पूर्ण विकास हो जाता है और विकासात्मक मनोविज्ञान में जीवन के आरंभ से लेकर इस अवस्था तक होने वाले हर प्रकार के सामान्य तथा असामान्य विकास का अध्ययन किया जाता है।

यह ज्ञात है कि मनोविज्ञान एक समर्थक विज्ञान (positive science) है। विकासात्मक मनोविज्ञान भी समर्थक विज्ञान है और व्यक्ति में होने वाले विभिन्न प्रकार के विकास तथा अनुभूति और व्यवहार का अध्ययन ज्यों-का-त्यों करता है। इसका यह दृष्टिकोण नहीं रहता कि अमुक व्यक्ति के शारीरिक अथवा मनोवैज्ञानिक विकास की तरह ही अन्य व्यक्तियों का विकास होना चाहिये।

विकासात्मक मनोविज्ञान वैयक्तिक भिन्नता (individual difference) के महत्त्व की उपेक्षा नहीं करता। हमें यह हमेशा ध्यान में रखना है कि सभी व्यक्तियों का व्यक्तित्व-विकास समान रूप में नहीं होता। यह भिन्नता व्यक्ति की जन्म-जात क्षमता तथा प्रशिक्षण पर निर्भर करती है। यद्यपि विकास का क्रम समान रहता है, किन्तु, भिन्न-भिन्न तत्त्वों (factors) के प्रभाव के फलस्वरूप उनके शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक विकास में समानता नहीं रह पाती। अतः, सभी दृष्टिकोण से विकास की पूर्णता सभी व्यक्तियों में एक समान नहीं हो सकती।

उद्देश्य (Aims)

प्रारंभिक जीवन के विभिन्न पहलुओं (aspects) को समझे बिना किसी व्यक्ति के वयस्क जीवन को समझना कठिन है। अतः, विकासावस्था का मनो-

वैज्ञानिक अध्ययन मनोवैज्ञानिकों के लिये आवश्यक प्रतीत हुआ। सामान्यतः निर्देशन और नियंत्रण के द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व का समुचित विकास करना ही मनोविज्ञान का उद्देश्य है। विकासात्मक मनोविज्ञान के भी कुछ महत्वपूर्ण उद्देश्य हैं जिनमें—*पूर्व-कथन* (Prediction), *निर्देशन* (Guidance) तथा *नियंत्रण* (Control) उल्लेखनीय हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति केवल वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग द्वारा ही संभव है। बच्चों के विकासात्मक अध्ययन में पूर्व-धारणाओं (Prejudices) से मुक्त होना आवश्यक है; क्योंकि इनसे प्रभावित होने के फलस्वरूप न तो उचित पूर्वकथन ही हो सकता है और न उनकी सत्यता ही प्रमाणित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, निर्देशन भी उपयुक्त रूप से नहीं किया जा सकता। अतः बाल मनोविज्ञान के इन उद्देश्यों की पूर्ति संभव नहीं हो सकती। बाल-विकास के पूर्वकथन तथा उचित निर्देशन के लिये विकासात्मक मनोविज्ञान का पर्याप्त ज्ञान अत्यावश्यक है। पूर्वकथन तथा निर्देशन की उपयुक्तता के लिये वैयक्तिक प्रधानता अपेक्षित है; क्योंकि सभी व्यक्ति की योग्यतायें (abilities) समान नहीं होतीं। व्यक्ति की आनुवंशिकता (Heredity) तथा वातावरण (Environment) में भिन्नता रहती है, इसलिये उनका विकास भी एक समान नहीं होता।

पूर्व-कथन—पूर्वकथन के लिये बच्चों की आनुवंशिकता तथा पारिवारिक और सामाजिक परिस्थितियों की जानकारी आवश्यक है। उनकी वर्तमान क्षमताओं (capacities) तथा सहज प्रवृत्तियों (aptitudes) के समुचित ज्ञान के आधार पर मनोवैज्ञानिक यह पूर्व-कथन करते हैं कि अमुक बच्चे का विकास किस रूप में होगा। मनोवैज्ञानिकों ने विकास की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि 'विकास पूर्व-कथनीय (Predictable) होता है'। विकास का एक क्रम रहता है और बाद में होने वाले शारीरिक तथा मानसिक विकास का पूर्वकथन किसी व्यक्ति विशेष की योग्यताओं तथा क्षमताओं के अध्ययन के आधार पर एक हद तक किया जा सकता है। पूर्व-कथन की सत्यता के लिये उसी के अनुकूल निर्देशन दिया जाता है, ताकि बच्चों में वर्तमान योग्यताओं तथा क्षमताओं का समुचित विकास हो सके। पूर्व-कथन में बच्चों की रुचि, सहज प्रवृत्ति तथा वर्तमान क्षमता की प्रधानता महत्वपूर्ण है। अतः, संगीत में रुचि रखने वाले को संगीतज्ञ के रूप में, साहित्य-प्रेमी को साहित्यकार के रूप में तथा गणित, पुल और घर आदि बनाने में रुचि रखने वाले बच्चे को इंजीनियर के रूप में पूर्व-कथन किया जाता है। यह पूर्व-कथन बच्चों की शिक्षा (education) तथा

विशेष प्रकार के प्रशिक्षण के लिए महत्वपूर्ण पाया गया है। बच्चों के सभी प्रकार के मानसिक विकास का पूर्वकथन समान रूप से सत्य नहीं हो सकते। केवल सामान्य बच्चों के विकास का पूर्वकथन सुलभता से किया जा सकता है।

निर्देशन—बच्चों के समुचित व्यक्तित्व-विकास के लिये उचित निर्देशन आवश्यक है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि उचित निर्देशन (proper guidance) के द्वारा बच्चों का जीवन अधिक संतुलित तथा खुशहाल बनाया जा सकता है। उनमें वर्तमान सभी योग्यताओं का विकास तथा पालन-पोषण और शिक्षण आदि एक निश्चित ढंग से हो सकता है। निर्देशन के दृष्टि-कोण से बाल्यावस्था का महत्त्व जीवन की किसी भी विकास की अवस्था से अधिक माना जाता है। पूर्व-कथन की सत्यता को प्रमाणित करने के लिये उचित निर्देशन आवश्यक है; क्योंकि, इसके अभाव में बच्चों में बहुत से अवांछित व्यवहार विकसित हो जाने की सम्भावना रहती है।

बच्चों के निर्देशन के लिये उनकी विभिन्न योग्यताओं की माप मनोवैज्ञानिक परीक्षणों (Psychological Tests) के द्वारा की जाती है। इन परीक्षणों द्वारा उनकी रुचि, बुद्धि तथा सहज प्रवृत्ति आदि की जाँच की जाती है और तदनुसार प्राप्त शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के आधार पर निर्देशन दिया जाता है। इसी कारण पूर्व-कथन की प्रतिपन्नता सम्भव हो सकती है। वस्तुतः बाल मनोविज्ञान का उद्देश्य है कि उचित निर्देशन तथा नियंत्रण के द्वारा बच्चों के व्यक्तित्व का विकास उत्तम ढंग से किया जाय, ताकि वे परिपक्वावस्था में अन्य व्यक्तियों तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ सफल अभियोजन स्थापित कर सकने में समर्थ हों।

नियंत्रण—पूर्व-कथन और निर्देशन को सफल बनाने लिये यह आवश्यक है कि बच्चों के व्यक्तित्व-विकास का एक हद तक नियंत्रण (control) भी किया जाय। विभिन्न प्रकार के वातावरण के साथ सम्पर्क में आने के कारण बच्चों में ऐसे भी व्यवहार विकसित हो जाते हैं जो उनके निर्देशित व्यवहार के साथ समानता न रखते हों। इसलिये उनके वातावरण तथा व्यवहार का नियंत्रण मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से आवश्यक हो जाता है। अगर माँ-बाप अथवा अभिभावक मनोवैज्ञानिक ढंग से बच्चों का पालन-पोषण करते तथा उनकी रुचि और योग्यताओं के अनुकूल शिक्षा देते है, तो सामान्य विकास में सुविधा होती है। फिर भी, अगर वातावरण के प्रभाव के कारण अन्यान्य असामान्य प्रतिक्रियायें दीख पड़ती हैं, तो उनका नियंत्रण कर उन्हें विकसित होने से रोका जा सकता हैं। बिना नियंत्रण के

निर्देशन की सफलता संदिग्ध रहती है। बच्चों की बहुत-सी आदतों (habits) से माँ-बाप तथा अध्यापक नाखुश हो जाते हैं; क्योंकि ये उनके निर्देशन के प्रतिकूल होते हैं। अतः, ऐसी स्थिति में वातावरण तथा बच्चे—दोनों का नियंत्रण आवश्यक हो जाता है।• नियंत्रण की सफलता के लिये बाल मनोविज्ञान की सभी प्रणालियों तथा नियमों का समुचित ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

उपयोगिता (Uses)

बच्चों के समुचित विकास के लिये विकासात्मक मनोविज्ञान का अध्ययन काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है। जीवन का प्रारम्भिक काल विकासात्मक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अगर इस अवस्था में बच्चों का पालन-पोषण मनोवैज्ञानिक ढंग से नहीं हो पाता, तो उनका सामान्य विकास (normal development) होना भी संदिग्ध जान पड़ता है। अतः मनोवैज्ञानिक ढंग से बच्चों की योग्यताओं, रुचियों तथा क्षमताओं (capacities) को जाँच कर उन्हें उचित रूप से निर्देशित किया जाय, तो उत्तम व्यक्तित्व का विकास हो सकता है। इतना ही नहीं, बल्कि वे सफलतापूर्वक समाज के साथ अपना अभियोजन (adjustment) भी कर सकने में समर्थ हो सकते हैं। आजकल प्रगतिशील देशों में प्रारम्भिक शिक्षा के लिये नये-नये ढंग के स्कूल खोले गये हैं जिनमें मनोवैज्ञानिक विधियों के द्वारा उनकी रुचि और योग्यता के अनुकूल ही शिक्षा दी जाने की व्यवस्था है। बच्चों के खेलने तथा मनोरंजन के लिये विविध प्रकार के उपकरण स्कूलों में रखे जाते हैं। यह बालमनोविज्ञान के द्वारा ही हम जान पाते हैं कि खेलना बच्चों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है और इससे बहुत लाभ है। यहाँ पर विभिन्न क्षेत्रों में बाल मनोविज्ञान की उपयोगिता का उल्लेख हम करेंगे।

मनोवैज्ञानिकों ने बच्चों का अध्ययन करके यह प्रमाणित कर दिया है कि खेल व्यक्तित्व-विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। खेल शारीरिक, मानसिक, सांवेगिक तथा सामाजिक विकास के लिये काफी उपयोगी है। बच्चे खेलने के सिलसिले में बहुत चीजें सीख लेते हैं। उनमें भाषा-विकास होता है तथा संवेगात्मक संतुलन आता है। खेल के बिना वे नहीं रह सकते। एक मनोवैज्ञानिक ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'खेल ही जीवन है'।×

प्रायः माँ-बाप बच्चों को संतुलित ढंग से प्यार करने में असफल रहते हैं। या तो वे उन्हें अधिक प्यार करते या उनकी उपेक्षा करते हैं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन

×'Play is life.'———Dewy.

में यह स्पष्ट हो चुका है कि इन दोनों स्थितियों में बच्चों का संवेगात्मक विकास संतुलित ढंग से नहीं हो पाता। अतः, बाल्यावस्था का मनोविज्ञान इस बात पर जोर देता है कि बच्चों के समुचित संवेगात्मक विकास के लिये माँ-बाप की ओर से अधिक प्यार तथा उपेक्षा—दोनों ही हानिकारक हैं। इन कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए माँ-बाप को काफी संतुलित ढंग से प्यार करना चाहिये। अतः, बाल्यावस्था का मनोविज्ञान हर माँ-बाप तथा अभिभावक के लिये जानना आवश्यक है; क्योंकि बच्चों के साथ संतुलित संबंध रखने में यह जानकारी काफी उपयोगी सिद्ध हुई है। मनोवैज्ञानिक ढंग से पाले हुए बच्चे जीवन में अधिक खुशहाल देखे गये हैं।

सामान्यतः देखा जाता है कि बच्चों को कभी तो अधिक प्यार और कभी कड़ा दंड भी मिलता है। ऐसी स्थिति में बच्चों का उचित मनोवैज्ञानिक विकास नहीं हो पाता। उन्हें अपने माँ-बाप के प्रति घृणा हो जाती है और इसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व-विकास पर पड़ता है।

सिगमंड फ्रायड (S. Freud), अलफ्रेड एडलर (A. Adler) तथा मेलेन क्लाइन (M. Klein) आदि मनोविश्लेपकों ने शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना है। फ्रायड के मतानुसार भावी जीवन में होने वाले सामान्य तथा असामान्य व्यवहार का मूल कारण शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में माँ-बाप के साथ बच्चों का संबंध ही है। उन्होंने बतलाया है कि मानसिक बीमारियों तथा असामान्य मानसिक प्रतिक्रियाओं का मूल कारण शैशवावस्था या बाल्यावस्था में हुई अप्रिय (unpleasant) अनुभूतियों का दमन (Repression) ही है। अतः, बच्चों के पालन-पोषण में माँ-बाप को यह ध्यान में रखना चाहिये कि उनके संबंध में कोई अप्रियता (unpleasantness) न आने पाये।

एडलर ने व्यक्तित्व-विकास में बच्चों के जन्म-क्रम (Birth order) का काफी महत्त्व दिया है। एकलौते या प्रथम बच्चे का विकास अन्य बच्चों की तरह नहीं होता। एडलर ने बच्चों के व्यक्तित्व-विकास में उनकी 'जीवन-शैली' (Style of life) को काफी महत्त्वपूर्ण माना है। उनका मत है कि यह जीवन-शैली बाल्यावस्था के प्रारम्भिक भाग में ही बन जाती है। उन्होंने अपनी पुस्तक ‡ में बच्चों की शिक्षा के लिये इन सभी बातों पर काफी जोर दिया है।

‡ The Education of Children — Adler.

अगर माँ-बाप इन सारी बातों की जानकारी के मुताबिक अपने बच्चों का पालन-पोषण तथा शिक्षण-व्यवस्था करें, तो निःसन्देह उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास हो सकता है। प्रथम और अंतिम तथा एकलौते बच्चों के पालन-पोषण या प्रशिक्षण में निर्देशन के साथ-साथ उचित नियंत्रण की भी आवश्यकता है।

वाटसन ने वातावरण के प्रभाव को बतलाते हुए कहा है कि एक सामान्य बच्चे का विकास किसी रूप में भी हो सकता है। वह डाक्टर, इंजिनियर, प्रोफेसर, डाकू, खूनी तथा यौन-अपराधी आदि कुछ भी बन सकता है। केवल उनके लिये उपयुक्त वातावरण चाहिये और निर्देशन तथा नियंत्रण के द्वारा वैसा बनाया जा सकता है। अतः, हर माँ-बाप तथा अध्यापक को वातावरण के महत्त्वपूर्ण प्रभाव को समझते हुए बच्चों के व्यक्तित्व-विकास पर पूर्ण निगरानी रखनी चाहिये।

शिक्षा के क्षेत्र भी बाल्यावस्था के मनोविज्ञान की जानकारी काफी उपयोगी प्रमाणित हुई है। शिक्षकों के लिये बालमनोविज्ञान का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना वे बच्चों को वैज्ञानिक ढंग से शिक्षा नहीं दे सकते। पहले यह मालूम नहीं था कि किस आयु में बच्चों की शिक्षा प्रारम्भ की जाय। लेकिन, बाल्यावस्था के मनोवैज्ञानिक अध्ययन ने अब यह ज्ञात हो चुका है कि बच्चों में शिक्षागत तत्परता (Educational Readiness) जब तक न आ जाय, शिक्षा देने का प्रयास कोई महत्त्व ही नहीं। अतः, अध्यापकों तथा माँ-बाप को इसपर यथेष्ट ध्यान देना चाहिये कि शिक्षा का प्रारम्भ बच्चों में शिक्षागत तत्परता के बाद ही करें। इसके लिये परिपक्वीकरण (maturation) आवश्यक है। उन्हें यह भी स्मरण रखना है कि सीखना परिपक्वीकरण पर ही निर्भर करता है।

हम देखते हैं कि बीसवीं शताब्दी में बालमनोविज्ञान ने आधुनिक शिक्षा-पद्धति को काफी प्रभावित किया है। इसकी उपयोगिता तब और भी बढ़ जाती है, जब हम बच्चों की शिक्षा उनकी योग्यता (abilities) के अनुकूल देने से अधिक लाभ देखते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि-परीक्षणों (Intellegence tests) का प्रयोग इस दिशा में काफी महत्त्वपूर्ण बतलाया है। बच्चों का बुद्धि-परीक्षण प्रारम्भ में ही कर लिया जाता है और उसी के अनुकूल तीव्र बुद्धि, मंद बुद्धि तथा औसत बुद्धि के बच्चों की शिक्षण-व्यवस्था अलग-अलग की जाती है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन से स्पष्ट है कि इन तीनों स्तर के बच्चों को एक साथ शिक्षा देने से न तो तीव्र बुद्धि और न मंद बुद्धि के बच्चों को ही लाभ होता है। अतः, यह सुझाव दिया गया है कि इन स्तरों के बच्चों के लिये योग्यतानुसार अलग-अलग पाठ्य-क्रम तैयार किये जाँय ताकि उनकी कठिनाइयाँ कम जायँ और उन्हें विशेष लाभ हो

सकें। मानसिक पक्ष से दुर्बल (Feeble minded) बच्चों की शिक्षा में अनवरत निगरानी (Supervision) तथा उचित नियंत्रण की आवश्यकता होती है। माँ-बाप तथा शिक्षक को यह जान लेने के बाद कि अमुक बच्चा इस मानसिक स्तर का है--उसके लिए उसी के अनुकूल पाठ्य-क्रम को काम में लावें। उनसे अधिक उम्मीद करना या सामान्य रूप में प्रगति नहीं होने के कारण दंड देना उचित नहीं। तीव्र बुद्धि तथा प्रतिभाशाली बच्चों के लिये कम सावधानी की जरूरत नहीं है। उनके लिये उन्नत (advanced) पाठ्य-क्रम उपयोग में लाया जा सकता है।

विकास-क्रम में कुछ बच्चों में गैरसामाजिक व्यवहार देखे जाते हैं। चोरी करना, झूठ बोलना, स्कूल से भागना, घर से भाग जाना तथा हत्या करना आदि व्यवहार उनमें विकसित हो जाते हैं। बालमनोविज्ञान में इन प्रवृत्तियों तथा व्यवहारों को 'बाल अपराध' (Delingquency) कहा जाता है। माँ-बाप तथा अभिभावक ऐसे बच्चों से तंग आ जाते तथा उन्हें शारीरिक दंड देते हैं। लेकिन, इससे कोई फायदा नहीं होता, बल्कि विरोधी प्रतिक्रियायें और अधिक होती हैं। ऐसे बच्चों के सुधार के लिये 'बाल-सुधार स्कूल' (Reformatory School) स्थापित किये गये हैं जहाँ अपराधी तथा असामान्य बच्चों की इन प्रतिक्रियायाओं का निदान किया जाता है और मनोवैज्ञानिक ढंग से शिक्षण के द्वारा उनका सुधार होता है। माँ-बाप के लिये ऐसी स्थिति में मनोवैज्ञानिकों की सलाह के मुताबिक ही बच्चों को नियंत्रित तथा निर्देशित करना अधिक उपयोगी होता है। सम्भवतः उन्हें ऐसे स्कूलों में भेज देना चाहिये।

बालकों के असामान्य व्यवहार के मनोवैज्ञानिक कारणों का अध्ययन करने तथा उपचार करने के लिये बाल निर्देशन-निदानगृह (Child Guidance Clinic) की स्थापना की गई है। यहाँ बच्चों की असामान्य प्रतिक्रियाओं के कारणों (causes) का पता लगाया जाता है और तत्पश्चात चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है। इससे माँ-बाप तथा अभिभावकों को काफी सुविधा होती हैं कि बच्चों का निर्देशन मनोवैज्ञानिक ढंग से कर सकें।

बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य का अध्ययन विकासात्मक मनोविज्ञान की सबसे बड़ी विशेषता है। संतुलित सामाजिक संबंध रखने तथा सफल अभियोजन के लिये मानसिक स्वास्थ्य का उत्तम रहना आवश्यक है। इसके मुख्यतः तीन उद्देश्य है। सामान्य मानसिक स्थिति को कायम रखने के लिये उचित व्यवस्था की जाती है। अगर कोई बच्चा तीव्र बुद्धि का है, तो यह ध्यान रखना है कि

किसी कारण से उनमें कमी न आ जाय अथवा अगर उनका व्यवहार सामान्य है, तो उनमें असामान्य व्यवहार न विकसित हो जाय। मानसिक स्वास्थ्य का दूसरा उद्देश्य है कि बच्चों का असामान्य वातावरण से दूर रखा जाय, ताकि असामान्य व्यवहार विकसित होने से उनका बचाव हो सके। प्रायः साथियों की संगति में बच्चे कुछ ऐसे व्यवहार सीख लेते है, जो सामाजिक मान्यता के प्रतिकूल होते हैं। अतः, ऐसी परिस्थितियों में निवारण (Prevention) करना मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उत्तम है, ताकि उनमें स्वस्थ मानसिक विकास हो सके। तीसरा उद्देश्य है कि अगर बच्चों में असामान्यता (abnormality) आ गई है और वे सामान्य जीवन बिताने में असमर्थ है तो उनकी चिकित्सा की व्यवस्था की जाय, ताकि वे स्वस्थ हो सकें। अतः मानसिक स्वास्थ्य की उपयोगिता आजकल सर्वमान्य है। माँ-बाप तथा अध्यापकों को बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य पर काफी ध्यान देना चाहिये। और, यह तभी सम्भव है, जब वे बाल मनोविज्ञान की उचित जानकारी रखें तथा उसके नियमों के मुताबिक बच्चों की देखभाल करें। अगर सभी माँ-बाप इसकी उपयोगिता को अच्छी तरह समझ कर बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षा की व्यवस्था करें, तो राष्ट्र के सभी बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य उत्तम तथा उनका जीवन अधिक सुखमय और उन्नत हो सकता है।

अध्ययन-विधियाँ

(Methods of Study)

१. जीवन-वृत्तान्त विधि (Biographical Method)

जीवन-वृत्तान्त विधि बहुत ही पुरानी विधि है जिसके द्वारा बच्चों के विकास (development) तथा व्यवहारों (behaviour) का अध्ययन किया जाता है। प्रायः माँ-बाप अथवा अभिभावक के द्वारा ही जीवन-वृत्तान्त लिखा जाता है। बच्चों की हर रोज की प्रतिक्रिया (responses) तथा उनकी शारीरिक वृद्धि (physical growth) आदि का समावेश इस वृत्तान्त में किया जाता है। शुरू में, बच्चों का जीवन-वृत्तान्त माँ-बाप तथा संबंधी (Relatives) काफी रुचि के साथ लिखते थे। फलतः पूर्व धारणा (prejudice) का प्रत्यक्ष प्रभाव दीख पड़ता था। प्रायः निरीक्षण (observation) के समय व्यवहारों को वे नहीं लिखा करते थे और यथेष्ट रूप से निरीक्षण भी नहीं करते थे। इन दोषों को दूर करने के लिये क्रम-बद्ध जीवन- वृत्तान्त (Syste-

matic Biographical Method) को अपनाया गया। इस विधि के द्वारा बच्चों के शारीरिक तथा मानसिक विकास के क्रम-बद्ध अध्ययन का समावेश किया गया। १८ वीं सदी के अन्तिम भाग में *टाइडमैन* (Tideman) ने जर्मनी में अपनी पुस्तक 'बच्चों की मानसिक शक्ति के विकास का निरीक्षण' प्रकाशित की जिसमें इस महत्त्वपूर्ण विषय का उल्लेख है।

१८८२ ई० में जर्मनी के एक शरीर-शास्त्र वेत्ता *प्रीयर* (Preyer) ने भी अपनी पुस्तक "दी माइन्ड ऑफ दी चाइल्ड" (The mind of the child) प्रकाशित की। इस पुस्तक में उन्होंने अपने पुत्र के प्रथम तीन वर्ष के जीवन की विभिन्न प्रतिक्रियाओं तथा घटनाओं (events) का क्रम-बद्ध अभिलेख (record) का समावेश किया। विकास के क्रम में बच्चों की प्रतिक्रियाओं के निरीक्षण का लिखित विवरण सावधानी के साथ लिया गया और इन्हीं तथ्यों (Facts) के आधार पर पुस्तक लिखी गई। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से क्रम-बद्ध जीवन-वृत्तान्त विधि द्वारा लिखी यह पुस्तक अभी तक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। आधुनिक काल में भी इस विधि द्वारा कुछ मनोवैज्ञानिकों ने बच्चों के अध्ययन में रुचि दिखायी है। अमेरिका में *सिन्* (Shinn) तथा इंगलैंड में *वैलेन्टाइन* (Valentine) द्वारा इस जीवन-वृत्तान्त विधि का उपयोग (use) किया गया है।

इस विधि की आलोचना की गई है। योजना के अभाव (Lack of place) तथा माँ-बाप की पूर्व धारणा (Prejudices of the parents) के कारण इस विधि का महत्व कम हो जाता है। संभव है कि माँ-बाप द्वारा निरीक्षण के सिलसिले में कुछ तथ्य (Facts) उपेक्षित रह जायँ। पुनः प्रयोगात्मक नियंत्रण के अभाव में इस विधि की विश्वसनीयता में कमी रह जाती है।

२. नैदानिक विधि—(Clinical Method)

यह विधि आधुनिक काल में अधिकाधिक लोगों का ध्यान आकर्षित कर सकी है और काफी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इस विधि के द्वारा असामान्य बच्चों का अध्ययन किया जाता है। बच्चों की संवेगात्मक समस्यायें तथा उनके भयानक स्वप्न (Night terror) आदि चीजों का निदान मनोवैज्ञानिक करते हैं। इन व्यवहारों के कारण की खोज की जाती है और उनके लिये उपयुक्त उपचार बताये जाते हैं। यह विधि 'बाल-निर्देशन-निदान गृह के आन्दोलन' के फलस्वरूप प्रारम्भ हुई। *एम० क्लाइन* (Melanie klein) तथा *जॉन रेभरी* (John Reviere) ने इस क्षेत्र में काफी

महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। *एस० फ्रायड* (S. Freud) के मनोविश्लेषणात्मक विधि के आधार पर असामान्य बच्चों की चिकित्सा के सिलसिले में इस विधि का काफी उपयोग किया गया। इस विधि के द्वारा बच्चों की संवेगात्मक कठिनाइयों (Emotional-difficulties) तथा मानसिक बीमारियों के निदान (diagonosis) की चेष्टा की जाती है। *अन्ना फ्रायड* (Anna Freud) ने भी इस विधि के द्वारा असामान्य बच्चों के अध्ययन का प्रयास किया है। इस विधि का सबसे बड़ा दोष यह है कि केवल असामान्य बच्चों को ही चिकित्सालय (Clinics) में लाया जाता है और उनका अध्ययन किया जाता है।

२. व्यक्ति-इतिहास विधि—(Case History Method)

इस विधि के द्वारा किसी एक व्यक्ति का अध्ययन एक समय में संभव होता है। अतः, किसी खास बच्चे के बारे में विशेष जानकारी के लिये यह विधि काफी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। प्रायः आजकल इस विधि को निदान संबंधी विधि के साथ मिलाकर बच्चों का अध्ययन किया जाता है। इस विधि के द्वारा किसी बच्चे का पूर्ण इतिहास (Complete History) उसके पारिवारिक, आर्थिक तथा अन्य सामाजिक वातावरण में लिया जाता है। उनके मानसिक, शारीरिक तथा सांवेगिक जीवन की सभी प्रकार की सूचनायें भी प्राप्त की जाती है। तत्पश्चात्, इन सभी प्राप्त सामग्रियों (Data) का विश्लेषण किया जाता है। प्रारम्भ में यह विधि चिकित्सा के लिये व्यवहार में लायी गयी; क्योंकि, इसके आधार पर एक सामान्य नियम की स्थापना करने की चेष्टा की गई जो बच्चों के व्यक्तित्व के विकास को समझने के लिये लाभदायक हो। समस्याजनक बच्चों (Problem Children) के निदान तथा निर्देशन के लिये यह विधि काफी उपयोगी सिद्ध हुई। लेकिन, इस विधि के द्वारा केवल असामान्य बच्चों का ही अध्ययन नहीं किया जाता, बल्कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक सामान्य बच्चों (Normal Children) का भी अध्ययन करते हैं।

व्यक्तिगत इतिहास विधि के द्वारा किसी एक बच्चे का पूर्णरूपेण अध्ययन संभव हो पाता है; क्योंकि, विभिन्न परिस्थितियों में उसके व्यवहार की जानकारी प्राप्त होती है। इतना होते हुए भी यह विधि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अधिक विश्वसनीय (Reliable) नहीं है। इस विधि की विश्वसनीयता तथा सत्यता (validity) तभी संभव हो सकती है, जब अधिक-से-अधिक बच्चों का व्यक्तिगत इतिहास प्राप्त कर उनका तुलनात्मक अध्ययन हो। सामान्यीकरण

के सिलसिले में व्यक्तिगत भिन्नता (Individual-difference) को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

४. क्रमबद्ध निरीक्षण विधि (Systematic observation Method)

यों तो बच्चों की क्रियाओं (Actions) तथा प्रतिक्रियाओं (Reactions) का निरीक्षण हमलोग प्रतिदिन किया करते हैं। किन्तु यह निरीक्षण प्रायः अयथाविधि (Informal) तथा अक्रमबद्ध (unsystematic) होता है। इस प्रकार के निरीक्षण का कोई वैज्ञानिक महत्त्व नहीं होता। अतः, निरीक्षण को अधिक वस्तुनिष्ठ (objective) तथा वैज्ञानिक बनाने के लिये बच्चों के स्वाभाविक व्यवहार का निरीक्षण पूर्व व्यवस्थित योजना (Predetermined plan) के मुताबिक किया जाता है। निरीक्षण के लिये खास परिस्थितियाँ चुनी जाती है, जिनमें विभिन्न आयु के बच्चों की भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं का लिखित विवरण (Records) रखा जाता है।

अध्यापकों को भी प्रारम्भिक वर्गों के बच्चों के प्रतिदिन के व्यवहार का लिखित विवरण रखने में यह विधि काफी सहायक होती है। इस प्रकार अध्यापक के पास बच्चों के प्रतिदिन के व्यवहार का एक उतम अभिलेख तैयार हो जाता है तथा उसकी शिक्षागत प्रगति के अध्ययन के लिये उन्हें सामान्य धारणा (general impression) पर अवलम्बित नहीं रहना पड़ता। वस्तुतः, उनके पास बच्चों के प्रतिदिन के हर प्रकार के व्यवहार के खास-खास उदाहरण मौजूद रहते हैं। बच्चों के स्वाभाविक व्यवहार का क्रमबद्ध निरीक्षण पहले किसी खास परिथिति में किया जाता है और फिर दूसरी परिस्थिति में। तत्पश्चात, दोनों परिस्थितियों में प्राप्त सामग्रियां (Data) का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन को परिस्थिति-सम्बन्धी विश्लेषण (Situational analysis) कहते हैं। इस विधि के द्वारा सामग्रियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन अधिक वैज्ञानिक सिद्ध हुआ। बच्चों के सामाजिक व्यवहार तथा व्यक्तित्व के अध्ययन के लिये आधुनिक काल में इस विधि का प्रयोग स्वाभाविक परिरस्थिति (Natural situation) में किया जाता है। *थामस* (Thomas) ने इस विधि का उपयोग बच्चों के सामाजिक व्यवहार के अध्ययन के सिलसिले में किया। *पियाजे* (Piaget) ने पूर्व निर्धारित योजना के आधार पर बच्चों के भाषा-विकास, निर्णय (Judgement) तथा तर्क (Reasoning) आदि का अध्ययन क्रमबद्ध निरीक्षण के द्वारा किया।

क्रमबद्ध निरीक्षण में क्रमशः परिमार्जन होता गया, जिसके फलस्वरूप इसकी मान्यता तथा वैज्ञानिकता बढ़ती गई। बच्चों के खास तरह के व्यवहार के अध्ययन के लिये दूसरा ढंग अपनाया गया। इसमें निरीक्षक किसी निश्चित समय में (Selected period of time) बच्चों में देखे गये किसी खास तरह के व्यवहार को लिख लेते हैं। इस प्रणाली को टाइम सैम्पलिंग (time sampling) कहते हैं। लेकिन, इसकी विश्वसनीयता केवल सीमित निरीक्षण के रूप में होती है।

५. प्रयोगात्मक विधि (Experimental Method)

प्रयोगात्मक विधि सभी विधियों से अधिक वैज्ञानिक महत्व रखती है। यह विधि परीक्षण अथवा प्रयोग (Experiment) पर आधारित है। प्रयोग एक विशेष प्रकार का निरीक्षण है, जो नियंत्रित परिस्थिति में होता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि केवल एक ही तत्व (Factor) को किसी खास समय में परिवर्तित किया जाता है और बाकी सभी तत्त्वों को, जो प्रयोग के फल (Results) को प्रभावित कर सकते हैं, नियंत्रित (Controlled) रखा जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था (Arrangement) में व्यवहार में जो परिवर्त्तन देखे जाते हैं वे परिवर्त्तित तत्त्व के कारण ही समझे जा सकते हैं। यह प्रयोगात्मक विधि मनोविज्ञान की बड़ी ही रुचिकर विधि है। बच्चों के व्यवहार के अध्ययन के सिलसिले में कई प्रयोगात्मक तरकीबों (Experimental Techniques) का उपयोग किया गया। फलतः इसे प्रयोगात्मक विधि ही कहा जाने लगा।

इस विधि के द्वारा बच्चों के व्यवहार का अध्ययन प्रयोगात्मक परिस्थिति (Experimental Situation) में होता है जो नियंत्रित किया जा सकता है तथा दुहराया (Repeated) भी जा सकता है। वस्तुतः यह अध्ययन पूर्व व्यवस्थित परिस्थिति में ही किया जाता है। प्रयोग में सामान्यतः एक समान दो बच्चे अथवा बच्चों के दलों (groups) को चुना जाता है। एक दल को प्रशिक्षण (training) दिया जाता है और दूसरे दल को नियंत्रित (controlled) रखा जाता है। प्रथम को प्रयोगात्मक दल (Experimental group) तथा दूसरे को नियंत्रित दल (Controlled group) कहते हैं। इस प्रशिक्षण के अतिरिक्त अन्य सभी पहलुओं (Aspects) में दोनों दलों (groups) में समानता रहती है। अतः, दोनों दलों में किसी प्रकार की भिन्नता केवल प्रशिक्षण के फलस्वरूप ही मानी जाती है। इस प्रकार पूर्व व्यवस्थित परिस्थितियों में दोनों दलों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है और प्राप्त सामग्रियों (Data) की व्याख्या सांख्यिक विधि के द्वारा होती है।

प्रयोगात्मक विधि के द्वारा बच्चों की विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं (Responses) का अध्ययन किया जाता है। नवजात शिशुओं की प्रतिक्षेप क्रियाओं (Reflex actions) का अध्ययन मनोवैज्ञानिकों का बड़ा ही रुचिकर विषय रहा है। *अरनाल्ड गेसेल* (Arnold-Gesell) का अध्ययन इस विधि के द्वारा काफी महत्वपूर्ण है। उन्होंने विभिन्न परिस्थितियों में बच्चों की स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं (Natural Responses) का अध्ययन छाया चित्र (Photography) के द्वारा किया। इस प्रकार यंत्रों (Instruments) के उपयोग (use) से परिस्थितियों को अधिकाधिक नियंत्रित करने तथा प्रतिक्रियाओं को अध्ययन करने में काफी सुविधा प्राप्त होती है।

बच्चों के व्यवहार का अध्ययन मनोवैज्ञानिक एक विशेष प्रकार के पर्दे के सहारे भी करता है। निरीक्षक पर्दे (screen) की ओट में रहता है, जिससे बच्चों को वह दिखाई नहीं पड़ता। इस एक ही तरफ से दिखाई देने वाले पर्दे (one way vision screen) की ओट में छिपकर निरीक्षक बच्चों के स्वाभाविक व्यवहार का निरीक्षण करता है। इसका श्रेय *गेसेल* को है और इसे लोगों ने प्रारंभ में काफी दिलचस्पी से अपनाया।

प्रयोगात्मक प्रकोष्ठ (Experimental Cabinet) का उपयोग अल्पायु बच्चों के अध्ययन के लिये किया गया। एक छोटे कमरे में बच्चों को अधिक समय तक रखकर उसका निरीक्षण किया जाता है। लेकिन, इस विधि के द्वारा केवल अल्पायु बच्चों का ही अध्ययन संभव है।

प्रयोगात्मक विधि में चल-चित्र (Cinimatography) का भी उपयोग हुआ। अध्ययनकर्ता बच्चों के व्यवहारों का अध्ययन चल-चित्र द्वारा करते हैं और आवश्यकतानुसार पुनः उन्हें दुहरा भी सकते हैं। चल-चित्र के प्रयोग से बच्चों की प्रतिक्रियाओं (Responses), सामाजिक तथा संवेगात्मक व्यवहारों के अध्ययन में काफी सुविधा प्राप्त हुई है। इस विधि के द्वारा बच्चों के विकास तथा व्यवहार के बारे में वस्तुनिष्ठ सामग्रियाँ (Objective data) प्राप्त होती हैं। अतः सही निष्कर्ष (accurate result) प्राप्त करने के लिये प्रयोगात्मक विधि काफी महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। लेकिन, कभी-कभी अस्वाभाविक (unnatural situation) हो जाने के कारण बच्चों के स्वाभाविक व्यवहार का अध्ययन संभव नहीं हो पाता।

—(०)—

अध्याय २

विकास के नियम

PRINCIPLES OF DEVELOPMENT

१. परिपक्वीकरण और विकास

विकास-क्रम में व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक पक्षों में काफी परिवर्तन होते हैं। आयु-वृद्धि के फलस्वरूप उनकी योग्यता तथा क्षमता में परिवर्तन होता है और नयी-नयी विशेषतायें प्रगट होने लगती है। यह विकास गर्भावस्था में ही आरम्भ हो जाता है और जीवन के प्रारम्भिक भाग में काफी तीव्र गति से प्रगतिशील रहता है। विकास में क्रमबद्ध रूप से परिवर्तन होता है जो परिपक्वता की ओर निर्देशित रहता है। जन्म के पूर्व से लेकर जन्म के बाद परिपक्वावस्था तक विकास में एक क्रम रहता है जो प्राणी को सामान्य रूप से विकसित होने में सहायक होता है। इस विकास-क्रम में प्राणी के शारीरिक तथा मानसिक पक्ष में जो कुछ भी प्रगतिशील परिवर्तन होता है उसे हम 'विकास' कहते है। यह विकास मुख्यत: परिपक्वीकरण (maturation) तथा सीखना (learning) पर निर्भर करता है। दोनों की परस्पर-क्रिया (interaction) के फलस्वरूप ही विभिन्न प्रकार के परिवर्तन दीख पड़ते हैं।

जन्म के पूर्व प्राणी के विकास पर अधिकांशतः परिपक्वीकरण का ही प्रभाव पड़ता है और जन्म के बाद दोनों का। विकासात्मक परिवर्तन का निरीक्षण एवं अध्ययन दोनों ही सम्भव हैं। मनोवैज्ञानिकों ने इसे मापने की विधि भी ढूंढ़ निकाली है। विकास के फलस्वरूप प्राणी के अंग विशेष में ही नहीं, बल्कि, सम्पूर्ण शरीर के विभिन्न भागों (parts) के अनुपात (proportions) में भी परिवर्तन दीख पड़ता है। साथ-ही-साथ उसके व्यवहार में भी काफी परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है। मानव प्राणी का जीवन एक जीवित कोष (cell body) से आरम्भ होता है और ९ महीने के बाद एक नवजात शिशु के रूप में वह गर्भ से बाहर आता है। यह नवजात शिशु पूर्ण मानव प्राणी का अविकसित रूप ही तो है। पुनः परिपक्वीकरण तथा वातावरण के प्रभाव के फलस्वरूप उसमें विभिन्न प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन होते हैं और वह विकसित होता जाता है। विकास-क्रम में बच्चों का व्यवहार पहले सरल होता है, लेकिन, आयु-वृद्धि के साथ-साथ सीखने के फलस्वरूप उसमें जटिलता आ जाती है। जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में कुछ-न-कुछ विकास होता ही रहता है। मनोवैज्ञानिकों ने अध्ययन के आधार पर यह बतलाया है कि जन्म के पूर्व गर्भावस्था में व्यक्ति का विकास बड़ी तीव्र गति से होता है और परिपक्वावस्था तक यह प्रगतिशील क्रम जारी रहता है। परिपक्वता के बाद बहुत कम विकास होता है। सामान्यतः परिपक्वावस्था को विकास-क्रम की अंतिम अवधि मानी जाती है, क्योंकि इस अवस्था में व्यक्ति परिपक्व (matured) हो जाते हैं।

विकास के मुख्यतः दो कारण माने जाते हैं। एक है 'परिपक्वीकरण' और दूसरा है 'सीखना'। प्राणी का विकास दोनों पर निर्भर करता है। दोनों की पारस्परिक क्रियाओं के फलस्वरूप ही विकास सम्भव होता है। हम जानते हैं कि जन्म के पूर्व विकास के क्रम में परिपक्वीकरण का हाथ अधिक रहता है और अभ्यास का प्रभाव बहुत ही कम पड़ता है। लेकिन, जन्म के बाद प्रशिक्षण तथा अभ्यास व्यक्ति को बहुत अधिक प्रभावित करता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बिना परिपक्वीकरण के सीखना सम्भव नहीं होता। अतः सीखने के लिये सापेक्ष रूप में परिपक्वता आवश्यक होती है और तभी इसके फलस्वरूप व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन हो सकता है।

परिपक्वीकरण और विकास दोनों में अंतर है। परिपक्वीकरण का अर्थ होता है स्वाभाविक विकास। व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक शीलगुणों का विकास

जब बिना किसी प्रकार के प्रशिक्षण (training) या अभ्यास के कारण बिलकुल स्वाभाविक रूप में होता है तब उसे हम परिपक्वीकरण कहते हैं। परिपक्वीकरण की यह प्रक्रिया एक निश्चित अवधि (period) तक ही जारी रहती है। किशोरावस्था के अंतिम भाग में यानी २१ वर्ष की आयु के लगभग यह प्रक्रिया समाप्त हो जाती है, क्योंकि व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक पक्षों से परिपक्व हो जाता है। लेकिन, विकास जीवनपर्यन्त होता रहता है। विकास को हम स्वाभाविक नहीं मानते, क्योंकि यह परिपक्वीकरण तथा सीखना दोनों पर निर्भर करता है और परिपक्वावस्था के बाद भी कुछ-न-कुछ शारीरिक या मानसिक परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के द्वारा इसे अधिक स्पष्ट कर सकते हैं। चलना, दौड़ना, बोलना, दूध के दाँतों का निकलना और गिरना, फिर स्थायी दाँतों का निकलना आदि स्वाभाविक विकास के फलस्वरूप होते हैं। इसके अतिरिक्त, अंग विशेष में वृद्धि, आकार परिवर्तन, तथा परवर्ती यौन विशेषताओं का प्रकट होना आदि परिपक्वीकरण पर ही निर्भर करते हैं। दूसरी ओर पढ़ना, लिखना, किसी भाषा का सीखना, तैरना, टाइप करना, साइकिल चलाना, कपड़े पहनना, गणित बनाना, समस्या-समाधान में प्रतीकों का प्रयोग करना, तथा अर्थ समझना आदि सीखने के फलस्वरूप होते हैं। इतना ही नहीं, मनोवृत्ति तथा आदतों में परिवर्तन और धार्मिक विश्वास आदि भी वातावरण से ही वस्तुतः प्रभावित होते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सीखना अर्जित होता है तथा परिपक्वीकरण पर निर्भर करता है। अतः बिना परिपक्वीकरण के प्राणी सीख नहीं सकता और अभ्यास के फलस्वरूप जो भी विकास होते हैं, वह सम्भव नहीं हो सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि सीखना परिपक्वीकरण पर निर्भर है और विकास के लिये परिपक्वीकरण तथा सीखना दोनों आवश्यक हैं। दोनों में से केवल एक विकास के उपयुक्त (adequate) कारण नहीं माना जा सकता। यह भी ज्ञातव्य है कि परिपक्वीकरण आनुवंशिक क्षमताओं की स्वाभाविक विकास-प्रक्रिया है, लेकिन, विकास इसके अतिरिक्त अभ्यास और शिक्षण के द्वारा होता है। वस्तुतः 'परिपक्वीकरण' तथा 'सीखना' दोनों की पारस्परिक क्रियाओं के फलस्वरूप ही 'विकास' सम्भव होता है।

विकास-क्रम में परिपक्वीकरण तथा शिक्षण के प्रभाव का अध्ययन कई विधियों द्वारा किया जाता है। यहाँ हम केवल "समयमज-नियंत्रण विधि"

(Co-twin control method) का उल्लेख करते हैं। यह विधि सर्व-प्रथम *गेसेल* (Gesell) तथा *थाम्पसन* (Thompson) के द्वारा प्रयोग में लायी गयी। १६२६ ई० में दोनों मनोवैज्ञानिकों ने परिपक्वीकरण तथा सीखना के सापेक्ष महत्त्व के अध्ययन के लिये इस विधि का प्रयोग समयमज बच्चों पर किया। इन समयमज दो लड़कियों में से एक को ४६ सप्ताह की आयु से लेकर ५२ सप्ताह तक यानी ६ सप्ताह के लिये सीढ़ी पर चढ़ने का प्रशिक्षण (training) दिया गया। दूसरी लड़की को इस अवधि (५२ वें सप्ताह) तक नियंत्रित रखा गया। प्रशिक्षण के फलस्वरूप पहली लड़की को सीढ़ी पर चढ़ने में कुल २६ सेकंड लगे। बिना अभ्यास के नियंत्रित लड़की को ५२ वें सप्ताह में सीढ़ी पर चढ़ने में ४५ सेकंड लगे। ५३ सप्ताह की आयु से नियंत्रित लड़की को २ सप्ताह तक सीढ़ी पर चढ़ने का अभ्यास कराया गया। इसके बाद ५५ वें सप्ताह में २ सप्ताह के अभ्यास के फलस्वरूप दूसरी लड़की को सीढ़ी पर चढ़ने में कुल १० सेकंड लगे। *गेसेल* तथा *थाम्पसन* अध्ययन के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि परिपक्वीकरण के फलस्वरूप ५५ वें सप्ताह की आयु में दूसरी लड़की बहुत ही कम अभ्यास के द्वारा अपेक्षाकृत अधिक लाभान्वित हुई।

२. विकास की अध्ययन-विधि

विकास-क्रम के अध्ययन के लिए मुख्यतः दो विधियों को प्रयोग में लाया जाता है। एक है पुनर्परीक्षण विधि (Re-examination method) जिसमें किसी व्यक्ति विशेष के विकास का अध्ययन किसी खास आयु (age) में किया जाता है। फिर कुछ समय के बाद उसी व्यक्ति के विकासात्मक परिवर्तन का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। उससे यह स्पष्ट होता है कि पुनर्परीक्षण के समय कितने परिवर्तन पाये गये। उदाहरण के लिये, अगर किसी बच्चे का विकासात्मक अध्ययन शैशवावस्था और बाल्यावस्था में किया जाय तो विभिन्न प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन देखे जा सकते है। ६ महीने का बच्चा न तो चल फिर सकता है और न बोल सकता है, किन्तु २ वर्ष की आयु में वह चलने-फिरने के अतिरिक्त बोलने भी लगता है। बाल्यावस्था के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध भागों में हुए विकास की तुलना की जाय तो दूसरे भाग में विभिन्न प्रकार के शारीरिक मानसिक तथा संवेगिक परिवर्तन पाये जाते है।

दूसरी विधि के द्वारा भिन्न-भिन्न आयु के बच्चों के समुदाय में प्राप्त शारीरिक तथा मानसिक विशेषताओं (characteristics) का अध्ययन किया जाता है। किसी आयु विशेष में पायी गई विकासात्मक विशेषताओं को अंकित कर लिया जाता है। विकास-क्रम में ये विशेषतायें उस आयु विशेष के लिये प्रतिमान (norms) के रूप में मान्य होता है। उदाहरण के लिये १ वर्ष के बच्चों के समुदाय में यह निरीक्षण किया जाता है कि उनमें कौन-कौन शारीरिक या मानसिक परिवर्तन पाये जाते हैं। सामान्यतः इस आयु में अधिकांश बच्चे खड़े होने लगते हैं तथा प्रथम शब्द के अतिरिक्त एक दो शब्द सीख लेते हैं। १½ वर्ष की आयु के लगभग अधिकाधिक बच्चे चलने लगते हैं तथा संवेगात्मक प्रतिक्रिया जैसे, क्रोध भय तथा स्नेह आदि भी प्रगट करने लगते हैं। आज विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत कई विकासात्मक प्रतिमान हम लोगों के लिये उपयोगी हैं। इसके सहारे हम किसी भी बच्चे के विकास का उस आयु में अध्ययन कर तुलना कर सकते हैं और यह जानकारी भी प्राप्त हो सकती है कि उस बच्चे का विकास सामान्य है या असामान्य। इस तरह गर्भावस्था से लेकर परिपक्वावस्था तक विभिन्न प्रकार के विकास के फलस्वरूप शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तनों का अध्ययन मनोवैज्ञानिकों का रुचिकर विषय रहा है।

ध्यान देने योग्य बात है कि विकास-क्रम में वैयक्तिक भिन्नता काफी महत्व रखती है। यद्यपि यह विकास-क्रम समान ही रहता है फिर भी विकास की अवधि में अंतर सम्भव हो सकता है। इस सिलसिले में यह भी याद रखना है कि विकास केवल परिपक्वीकरण पर निर्भर नहीं करता जो अधिकांशतः समान रूप से व्यक्ति को प्रभावित करता है, बल्कि इसके अतिरिक्त प्रशिक्षण तथा अभ्यास का भी प्रतिफल होता है जो सभी व्यक्तियों को समान रूप से प्रभावित नहीं कर सकता।

३. विकास-क्रम में परिवर्तन

विकास-क्रम में कई प्रकार के परिवर्तन होते हैं। प्रायः शैशवावस्था की कई विशेषतायें (characteristics) गौण हो जाती हैं और नई-नई विशेषतायें प्रगट होने लगती हैं।

शारीरिक तथा मानसिक पक्षों में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन के फलस्वरूप नये-नये शील-गुण (traits) प्रगट हो जाते हैं। बच्चों के विकास में हम केवल उनके आकार (size) में ही परिवर्तन नहीं देखते, बल्कि, शरीर के विभिन्न अंगों

की वृद्धि के अनुपात में भी परिवर्तन देखते हैं। मानसिक पक्ष, जैसे, उनकी रुचि, मनोवृत्ति, योग्यता तथा विश्वास आदि में भी काफी परिवर्तन हो जाता है। वस्तुतः जब तक बच्चे परिपक्व नहीं हो जाते, उनमें तरह-तरह के परिवर्तन होते रहते है। विकास में मुख्यतः चार प्रकार के परिवर्तन होते हैं।

१. आकार में परिवर्तन

आयु-वृद्धि के साथ-साथ बच्चों के शारीरिक पक्ष में काफी परिवर्तन दिखाई पड़ने लगता है। ऊंचाई अधिक हो जाती है, शरीर के वजन तथा अंग-प्रत्यंग के आकार में वृद्धि होने लगती है। आकार में यह परिवर्तन परिपक्वावस्था तक होती रहती है। शरीर के आंतरिक भाग में भी कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। उदाहरण के लिये, हृदय, फेफड़ा तथा अन्तड़ियों के आकार में वृद्धि होती है। मानसिक पक्ष में विकास के फलस्वरूप कई योग्यताओं में भी वृद्धि हो जाती है। बच्चे नये-नये शब्द सीखते हैं जिनसे उनके शब्दकोष का विस्तार होता है। तर्क करने तथा समस्या-समाधान की योग्यता बढ़ जाती है। कहा जा सकता है कि इस विकास-क्रम में अगर बच्चों का विकास सामान्य रूप से होता है तो उनमें काफी परिवर्तन दीख पड़ते हैं। ये परिवर्तन हमेशा प्रगतिशील (progressive) होते है जो स्वाभाविक रूप में परिपक्वीकरण के कारण तथा सीखने के प्रभाव के फलस्वरूप होते है।

२. अनुपात में परिवर्तन

विकास में केवल शारीरिक आकार तथा मानसिक योग्यता के विस्तार में ही परिवर्तन नहीं होता, बल्कि, उनके अनुपात में भी परिवर्तन होता है। बाल-विकास के संतोषप्रद अध्ययन के लिये यह भी जानना आवश्यक है कि बच्चों के शारीरिक अंगों तथा मानसिक योग्यताओं का विकास किस अनुपात में होता है। शैशवावस्था से परिपक्वावस्था तक यह विकास एक निश्चित अनुपात में होता है जो परिपक्वीकरण पर निर्भर करता है। उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन या अंतर का कारण अभ्यास या शिक्षण हो सकता है। बीमारी तथा शारीरिक क्षति जैसी असामान्य स्थितियाँ भी उसके अन्य कारण हो सकती हैं।

शारीरिक विकास के अनुपात में जो परिवर्तन होते हैं उनमें ये उल्लेखनीय हैं। सिर के अनुपात में दूनी, शरीर के अनुपात में तिगुनी तथा मस्तिष्क और शरीर के ऊपरी अंगों में चौगुनी वृद्धि हो जाती है। मांसपेशियों के अनुपात के वजन में दूनी

तथा हृदय और फेफड़े के वजन में क्रमशः तेरह गुनी और बीस गुनी वृद्धि हो जाती है। बाल्यावस्था के अंतिम भाग में बच्चों के शारीरिक अंगों के विकास के अनुपात में काफी परिवर्तन दीख पड़ता है।

शारीरिक विकास के साथ-साथ बच्चों का मानसिक विकास भी होता है तथा इसके अनुपात में भी काफी परिवर्तन स्पष्ट होने लगता है। अल्पायु बच्चे अपने खिलौने में रुचि रखते हैं तथा आत्मकेंद्रित होते हैं।— वे अपने बारे में सोचते हैं तथा सम्बंधित चीजों से सम्पर्क रखते हैं। वे अत्यधिक काल्पनिक होते हैं। धीरे-धीरे परिपक्वीकरण तथा अनुभव के फलस्वरूप उनका मानसिक विकास भी होता है तथा रुचि और मनोवृत्ति में काफी अंतर दीख पड़ता है। परिवर्तित वातावरण के सम्पर्क में उनकी प्रतिक्रियाओं तथा अभियोजन की शैली में काफी परिवर्तन पाया जाता है। उनका सम्पर्क वास्तविकता से बढ़ता जाता है और अन्य व्यक्तियों तथा वस्तुओं में भी उनकी रुचि बढ़ती जाती है। इस तरह बच्चों के मानसिक विकास के अनुपात में काफी परिवर्तन देखा जाता है। किशोरावस्था में परवर्ती यौन विशेषताओं के प्रगट होने के फलस्वरूप व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा सांवेगिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाता है। फलतः, सामाजिक आलोचना के प्रति वे काफी संवेदनशील हो जाते हैं। मित्रता, सौन्दर्य तथा कला के प्रति रुचि और विपरीत यौन के प्रति आकर्षण आदि के अनुपात में काफी परिवर्तन हो जाता है।

३. कुछ शारीरिक तथा क्रियात्मक विशेषताओं का लोप

विकास-क्रम में नवजात शिशुओं के शारीरिक पक्ष में कुछ ऐसी विशेषतायें पायी जाती हैं जो बाद में नहीं देखी जातीं। उनमें मुख्यतः उद्देश्यहीन तथा प्रतिक्षेप क्रियायें ही होती हैं, जो बाद में परिपक्वीकरण के फलस्वरूप गौण हो जाती हैं। कुछ महीने के बाद बच्चे खिसकना आरम्भ कर देते हैं। लेकिन, ६ महीने की आयु के बाद उनमें खिसकना नहीं देखा जाता, क्योंकि वे बैठने या हाथ-पैर के सहारे चलने भी लगते हैं। फिर १ वर्ष का बच्चा खड़ा होने लगता है और १½ वर्ष में चलना भी प्रारम्भ कर देता है। उसमें बुड़कना (हाथ-पैर के सहारे चलना) नहीं देखा जाता। आयु-वृद्धि के फलस्वरूप शरीर के अंदर थाइमस ग्लैंड (Thymus gland) का लोप (disappearance) हो जाता है। वाणी-विकास के क्रम में ५ महीने के बच्चों में 'बलबलाना' देखा जाता है, किन्तु १ वर्ष के बाद में इसमें कमी आ जाती है और तत्पश्चात् इसका

लोप हो जाता है। इसी प्रकार बच्चे आरम्भ में सभी व्यक्तियों तथा वस्तुओं के लिये 'प्रथम शब्द' का उपयोग करते हैं, लेकिन, २ वर्ष की आयु में ऐसा नहीं होता। मौलिक दाँत जो जन्म के बाद निकलते हैं कुछ वर्षों के बाद गिर जाते है। इनके बाद ही स्थायी दाँत निकलते है। परिपक्वीकरण तथा शिक्षण के फलस्वरूप बच्चों के शारीरिक तथा मानसिक विकास में काफी परिवर्तन हो जाता है जिसके कारण जीवन के प्रारम्भिक भाग में प्राप्त कुछ विशेषतायें बाद में नहीं पायी जातीं।

४. नयी विशेषताओं की प्राप्ति

आयु-वृद्धि के कारण शारीरिक तथा मानसिक शील-गुणों (Traits) में नवीन परिवर्तन हो जाता है। बच्चों का ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक विकास परिपक्वीकरण तथा अभ्यास के फलस्वरूप होता है और साथ-साथ उनके अंग-प्रत्यंग में भी वृद्धि होती है। वे नये-नये कौशल (skills) तथा शब्दों को सीखते है। पहले सरल और फिर जटिल वाक्यों का प्रयोग करने लगते हैं। धीरे-धीरे वे लिखने-पढ़ने तथा समस्या-समाधान की योग्यता भी प्राप्त कर लेते हैं। क्रमशः शारीरिक विकास के साथ उनका मानसिक और सांवेगिक विकास भी होता है। किशोरावस्था में उनके व्यक्तित्व में अत्यधिक परिवर्तन देखा जाता है। परवर्ती यौन विशेषताओं के प्रगट होने के फलस्वरूप उनके शरीर के विशेष भागों में नयी-नयी विशेषतायें आ जाती है। इन शारीरिक परिवर्तन के कारण किशोर-किशोरियों की मानसिक क्रियाओं और सांवेगिक प्रतिक्रियाओं में काफी परिवर्तन दीख पड़ता है। दोनों दलों के सदस्यों में परस्पर आकर्षण तथा रुचि अत्यधिक तीव्रता से बढ़ जाती है। उनके विश्वासों तथा मनोवृत्तियों में भी परिवर्तन हो जाता है।

४. विकास की विशेषतायें

१. विकास अनवरत होता है

विकास गर्भाधान से लेकर परिपक्वता तक होता ही रहता है; किसी अवस्था विशेष में अवरुद्ध नहीं होता। यह विकास क्रमिक होता है। धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार के शील-गुण एक के बाद दूसरे विकसित होते रहते है। विकास-क्रम आकस्मिक नहीं होता, बल्कि परिपक्वीकरण पर निर्भर करता है। इन शारीरिक

तथा मानसिक शील-गुणों की बीजशक्ति (potentiality) आरम्भ से ही वर्तमान रहती है जो अवस्था विशेष में विकसित होती है। उदाहरण के लिये, मौलिक दाँत एक साथ नहीं निकलते। वे क्रम-क्रम से गिरते हैं और फिर 'स्थायी दाँत' (permanent teeth) अचानक नहीं निकलते बल्कि क्रमिक रूप में ही निकलते हैं। इसी प्रकार शारीरिक विकास भी आकस्मिक नहीं होता। बच्चों की मांसपेशियाँ तथा हड्डियाँ धीरे-धीरे परिपक्व होती हैं। फलतः आयु विशेष में ही उनमें खड़ा होना, चलना-फिरना, वस्तुओं को पकड़ना आदि देखा जाता है। वाणी-विकास भी बच्चों में क्रमिक होता है। जन्म-क्रन्दन से लेकर सभी प्रकार की आवाजों का ही वह विकासात्मक रूप होता है। किसी अवस्था विशेष में हुए शारीरिक या मानसिक विकास का प्रभाव बाद की अवस्था में होने वाले विकास पर पड़ता है, क्योंकि विकास निरंतर होता रहता है। बाल-विकास को वातावरण बहुत अधिक प्रभावित करता है। अगर अनुकूल वातावरण मिला तो समान्यरूप में व्यक्तित्व का विकास हो पाता है। प्रतिकूल वातावरण जैसे, बीमारी, पौष्टिक भोजन का अभाव, असंतुलित पारिवारिक सम्बन्ध तथा उचित प्रशिक्षण में प्रोत्साहन का अभाव आदि का प्रभाव व्यक्तित्व विकास पर महत्त्वपूर्ण ढंग से पड़ता है।

२. विकास सामान्य से विशिष्ट प्रतिक्रिया की ओर होता है

मनोवैज्ञानिकों ने नवजात शिशुओं की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन काफी विस्तृत रूप में किया है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनकी प्रतिक्रिया 'सामान्यित' (generalised) होती है। विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं के प्रति उनमें सम्पूर्ण शरीर की उत्तेजित अवस्था देखी जाती है, अंग विशेष में कोई निश्चित प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं रहती। वस्तुतः सम्पूर्ण शरीर ही गतिशील हो जाता है और उद्देश्यहीन क्रिया होती है। लेकिन, आयु-वृद्धि के फलस्वरूप वे ६ महीने के लगभग किसी वस्तु के पकड़ने में दो हाथ और १ वर्ष की आयु में एक ही हाथ को प्रयोग में लाते हैं। चलने-फिरने में भी यही क्रम रहता है। बच्चे पहले खिसकते हैं और बाद में हाथ-पैर के सहारे चलने की चेष्टा करते हैं। परिपक्वीकरण के फलस्वरूप वे खड़े होते हैं और १ वर्ष की आयु के लगभग चलना भी प्रारम्भ कर देते हैं। भाषा-विकास के क्रम में वे पहले बलबलाते हैं, फिर एक शब्द का उच्चारण करते हैं और तत्पश्चात् क्रमशः शब्दकोष की वृद्धि के फलस्वरूप वस्तुओं तथा व्यक्तियों के लिये उचित नाम सीखते हैं। शिशुओं में

पहले विशिष्ट संवेग (specific emotions) नहीं पाये जाते। *ब्रिजेज* (Bridges) के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि नवजात शिशु में केवल 'सामान्य उत्तेजित अवस्था' (general excitement) ही होती है। तीसरे महीने में आनन्द (delight) तथा कष्ट (distress) की प्रतिक्रिया होती है और इन्हीं से क्रोध, भय, प्रेम तथा घृणा आदि विशिष्ट संवेगों का विकास होता है।

३. विकास की एक प्रतिकृति (pattern) होती है।

हर जाति (Race) के प्राणी का विकास अपने ढंग से होता है। उसकी एक प्रतिकृति होती है जो दूसरी जाति के प्राणी से भिन्न होती है। यह विकास एक क्रम में होता है। ऐसा नहीं देखा जाता कि विकास-क्रम में एक के बाद दूसरी के बदले तीसरी विशेषता प्रगट हो जाय। 'मौलिक दाँत' के गिरने के बाद ही 'स्थायी दाँत' निकलते हैं। खिसकने के बाद घुड़कना, फिर खड़ा होना और अंत में चलना ही क्रमिक रूप में देखा जाता है। अतः शारीरिक तथा मानसिक शील-गुणों का विकास एक निश्चित क्रम में ही होता है। भाषा-विकास में पहले 'बलबलाना' और बाद में 'शब्द' प्रगट होता है। वस्तुतः जाति विशेष के सभी व्यक्तियों में विकास की यह प्रतिकृति (pattern) समान होती है। आत्मवृद्धि के फलस्वरूप विशेष प्रकार का शारीरिक या मानसिक विकास होता है। और यह क्रम तबतक जारी रहता है जब तक व्यक्ति परिपक्व न हो जाय। विकास की यह प्रतिकृति मुख्यतः परिपक्वीकरण पर निर्भर करती है। मनोवैज्ञानिकों ने उचित अवधि से पूर्व (prematured) पैदा हुए बच्चों के विकास का भी अध्ययन किया है। इन बच्चों का विकास उसी क्रम में देखा गया जैसा उचित अवधि में पैदा हुए बच्चों का होता है। इस प्रकार, गर्भाधान से परिपक्वता तक व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक, सांवेगिक तथा सामाजिक विकास सामान्यतः एक निश्चित क्रम में होता है। यह सम्भव है कि किसी व्यक्ति में विशेष प्रकार का विकासात्मक परिवर्तन पहले हो जाय और दूसरे में देर से, लेकिन, क्रम में कोई अंतर नहीं देखा जाता। परवर्ती यौन विशेषताओं का विकास भी इसी क्रमिक रूप में ही होता है।

४. विकास में शील-गुण अनुबंधित (correlated) होते हैं

विकास-क्रम में यह देखा जाता है कि एक शील-गुण (trait) दूसरे शील-गुण के अनुपात में ही विकसित होता है। शारीरिक तथा मानसिक शील-

गुणों के विकास में अनुबंध (correlation) काफी अधिक रहता है जो महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि तीव्र-बुद्धि के व्यक्ति का शारीरिक विकास भी सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठतर होता है। मानसिक दुर्बलता के कारण शारीरिक विकास सामान्य रूप में नहीं हो पाता। 'मूढ़' और 'जड़' व्यक्तियों का विकास असामान्य होता है। तीव्रबुद्धि वालों का यौनविकास (sexual development) भी सामान्य बुद्धि के व्यक्ति की अपेक्षा पहले हो जाता है, यद्यपि इसमें वातावरण का भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहता है। विकास-क्रम में सामाजिक, सांवेगिक तथा तार्किक आदि विकास भी शारीरिक तथा मानसिक विकास से अनुबंधित होता है।

५. विकास पूर्वकथनीय (Predictable) होता है

बच्चों का शारीरिक तथा मानसिक विकास चूंकि, एक निश्चित क्रम से होता है, इसलिये होने वाले विकास का पूर्वकथन (Prediction) सम्भव हो सकता है। लेकिन, यह केवल सामान्य बच्चों के विकास के संबंध में ही महत्त्व रखता है और सत्य हो सकता है। अधिक तीव्रबुद्धि या मानसिक दुर्बल व्यक्ति के साथ यह लागू नहीं होता। सामान्यता के परे अधिक और कम दोनों सीमाओं पर स्थित व्यक्तियों पर अभ्यास तथा शिक्षण का प्रभाव सामान्य रूप से नहीं पड़ता। फलतः उनका विकास भी सामान्य रूप से नहीं हो पाता। लेकिन, समान्य बच्चों के विकास का पूर्वकथन परिपक्वावस्था के पहले प्रारम्भिक अवस्था में किया जा सकता है।

६. विकासात्मक गति में वैयक्तिक भिन्नता स्थायी होती है

हर व्यक्ति का विकास समान गति से नहीं होता। विकासात्मक प्रगति (progress) में वैयक्तिक भिन्नता देखी जाती है। तीव्रबुद्धि के बच्चे का बौद्धिक विकास तीव्र गति से तथा मंदबुद्धि के बच्चे का मंदगति से होता है। शारीरिक विकास के साथ भी यही सत्य है। आरम्भ में जिस बच्चे का शारीरिक विकास तीव्रगति से होता है वह उसी गति से जारी रहता है और मन्दगति से प्रारम्भ होने वाले बच्चे का शारीरिक विकास आयु-वृद्धि के फलस्वरूप भी सामान्य रूप में नहीं हो पाता। यह कहा जा सकता है कि शारीरिक तथा मानसिक विकास सभी व्यक्तियों में समान रूप में नहीं होता; क्योंकि उनके विकास की गति में भिन्नता रहती है। किसी प्रकार के असामान्य वातावरण का प्रभाव व्यक्ति पर न पड़े

तो यह वैयक्तिक भिन्नता वस्तुत: विकास की गति में स्थायी ही रहती है। विकासात्मक प्रगति की इस निश्चयात्मकता के कारण ही बच्चों के व्यक्तित्व-विकास के बारे में बतलाया जा सकता है।

५. विकास को प्रभावित करनेवाले तत्व

१. पौष्टिक आहार

बच्चों के समान्य विकास के लिये उपयुक्त पालन-पोषण तथा पौष्टिक आहार की आवश्यकता होती है। उनके लिये दूध का काफी महत्त्व है, क्योंकि वह पौष्टिक पेय है। प्राय: सभी परिवार में समान रूप से उनके भोजन पर ध्यान नहीं दिया जाता कि उसमें स्वास्थ्य के लिये आवश्यक चीजें हैं या नहीं। शारीरिक विकास के लिये प्रोटिन, कैलसियम तथा विटामिन आदि बहुत आवश्यक हैं जिनके अभाव में बच्चे अस्वस्थ हो जाते हैं और समयानुसार किसी विशेष प्रकार का विकासात्मक परिवर्तन नहीं हो पाता। बाल्यावस्था में उचित पौष्टिक आहार प्राप्त होने के फलस्वरूप व्यक्तित्व-विकास सामान्य रूप में होता है। देखा जाता है कि निर्धन परिवार के बच्चों का विकास सामान्य रूप में नहीं हो पाता, क्योंकि, उन्हें न तो पौष्टिक भोजन ही प्राप्त हो सकता है और न पालन-पोषण ही उचित रूप से होता है। ठीक इसके विपरीत, समृद्ध तथा शिक्षित परिवार में बच्चों के सामान्य या समुचित विकास के लिये उपयुक्त भोजन तथा स्वस्थ पालन-पोषण पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

२. अंत:स्रावी पिंड

व्यक्तित्व-विकास पर पिंडों का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। पिटिचुरी ग्लैंड (Pituitary gland) जो मस्तिष्क के नीचे स्थित है सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण माना जाता है। जब यह पिंड सामान्य ढंग से सक्रिय रहता है तो व्यक्ति का शारीरिक विकास भी उचित रूप में हो पाता है। इसकी अत्यधिक सक्रियता के फलस्वरूप व्यक्ति असामान्य रूप से लम्बा हो जाता है तथा अल्परूप से सक्रियता के फलस्वरूप बिल्कुल छोटे कद का हो जाता है। पिटिचुरी पिंड से जो हार्मन (Hormone) निकलता है वह अन्यान्य पिंडों की क्रिया को प्रभावित करता है। यौन-पिंड (Sex gland) इससे अधिक प्रभावित होता है। यौन-पिंड की सक्रियता के फलस्वरूप व्यक्ति में परवर्ती यौन विशेषतायें प्रगट होती हैं,

जिनके अभाव में उचित पुरुषत्व या नारीत्व का विकास सम्भव नहीं। किशोरावस्था के पूर्वार्द्ध भाग में बालक तथा बालिका के केवल शारीरिक पक्ष में ही नहीं, बल्कि मानसिक और सांवेगिक जीवन में भी काफी परिवर्तन होता है जो उनके विकास के लिये आवश्यक है। अगर यौन-पिंड की सक्रियता में कमी रहती है तो यौन-विकास सामान्य रूप में नहीं हो पाता और इसकी अत्यधिक सक्रियता के फलस्वरूप यौन-विकास उपयुक्त समय से पहले ही हो जाता है तथा यौन जीवन संतुलित नहीं रह पाता। थाइरोवाइड-पिंड (Thyroid gland) तथा पाराथाइरोवाइड पिंड (**Parathyroid gland**) हमारे कंठ में स्थित रहते हैं। थाइरोवाइड पिंड से आयोडिन (Iodin) तथा पारथाइरोवाइड-पिंड से कैलसियम (calcium) निकलते हैं। शारीरिक विकास के लिये कैलसियम काफी उपयोगी है और आयोडिन बच्चों के शारीरिक तथा मानसिक विकास के लिये बहुत आवश्यक है। बाल्यावस्था में इन दोनों पिंडों की सक्रियता में कमी के कारण बच्चों का विकास सामान्य रूप में नहीं हो पाता।

३. बुद्धि

व्यक्तित्व-विकास में बुद्धि का बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। सामान्य बुद्धि के बच्चों का शारीरिक तथा मानसिक विकास सामान्य ढंग से तथा तीव्रबुद्धि के बच्चों का तीव्र गति से होता है। लेकिन, अल्प बुद्धि के बच्चों का विकास सामान्य रूप में नहीं हो पाता। यौन-विकास भी सामान्य बुद्धि के बच्चों की अपेक्षा तीव्र बुद्धि वालों का उपयुक्त समय से पहले हो जाता है। मानसिक दुर्बलता के कारण उनका न तो शारीरिक विकास ही सामान्य ढंग से हो पाता है और न सामाजिक तथा बौद्धिक। तीव्रबुद्धि के बच्चों का सामाजिक विकास तथा भाषा-विकास भी अपेक्षाकृत पहले होता है। ये १४ महीने में चलना तथा १६ महीने में बोलना प्रारम्भ करते हैं, जहाँ मानसिक दुर्बल बच्चे २२ महीने में चलना और ३४ महीने की आयु में बोलना आरम्भ करते हैं।

४. यौन-भेद

यौन-भेद के कारण लड़के-लड़कियों का शारीरिक तथा मानसिक विकास समान रूप से नहीं होता। जीवन के प्रारम्भिक भाग में दोनों के विकास में बहुत अधिक अन्तर नहीं रहता, लेकिन, किशोरावस्था में यह फर्क अत्यधिक हो जाता है। शारीरिक विकास में अंतर के साथ-साथ दोनों की मनोवृत्ति तथा

अभिरुचि में भी अंतर स्पष्ट हो जाता है। जहाँ तक शारीरिक विकास का प्रश्न है, जन्म के समय लड़कियों की अपेक्षा लड़का आकार (size) में थोड़ा ही बड़ा रहता है। विकासात्मक क्रम में लड़कियाँ बाद में समान ही नहीं हो जाती बल्कि, उनमें परवर्ती यौन विशेषतायें भी पहले प्रगट हो जाती है और यौन परिपक्वता भी पहले आ जाती है। इस आयु में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों का शरीर अधिक सुपुष्ट हो जाता है। भाषा-विकास भी लड़कियों में अधिक तीव्रता से होता है। वे 'प्रथम शब्द' पहले बोलती हैं और शब्दकोश भी अधिक विस्तृत कर लेती हैं। भाषा पर लड़कियों का अपेक्षाकृत अधिक अधिकार रहता है और इसके प्रयोग में अधिक कुशल होती है। बौद्धिक विकास में यौन भेद विशेष महत्त्व नहीं रखता। इतना निश्चित है कि शारीरिक विकास की तरह मानसिक परिपक्वता लड़कियों में कुछ पहले हो जाती है।

७. वातावरण

बच्चों के विकास में भौगोलिक वातावरण का काफी प्रभाव पड़ता है। उचित विकास के लिये शुद्ध हवा, जल तथा पर्याप्त धूप की आवश्यकता होती है। देखा गया है कि गंदे वातावरण में रहनेवाले बच्चों का शारीरिक विकास सामान्य रूप में नहीं हो पाता; क्योंकि स्वास्थ्य के लिये उपरोक्त चीजें उन्हें प्राप्त नहीं होतीं। प्राकृतिक वातावरण में पले बच्चे, जो शुद्ध हवा, जल तथा पर्याप्त धूप पाते हैं, सामान्य रूप में विकसित होते हैं। उनका शारीरिक तथा मानसिक विकास अन्य बच्चों की अपेक्षा अधिक उत्तम होता है।

सामाजिक वातावरण का प्रभाव बच्चों के विकास के लिये काफी महत्त्वपूर्ण होता है। बच्चों का पहला सामाजिक सम्पर्क अपने परिवार के सदस्यों, विशेष कर माँ-बाप या परिचारिका (nurse) से होता है। बच्चे के प्रति माँ-बाप की मनोवृत्ति (attitude) का प्रभाव उनके संवेगिक, मानसिक तथा सामाजिक विकास पर पड़ता है। शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में बच्चों को माँ-बाप पर निर्भर रहना पड़ता है; क्योंकि वे ही उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते तथा संतोष और सुरक्षा (security) देते हैं। अगर माँ-बाप का व्यवहार बच्चों के प्रति आनन्ददायक तथा संतोषप्रद होता है तो उनका सामाजिक और मानसिक विकास संतुलित होता है। इसके अभाव में वे मानसिक संतुलन नहीं रख पाते। अत्यधिक प्यार और स्नेह से भी बच्चों का मानसिक विकास सामान्य नहीं हो पाता।

परिवार में एक से अधिक बच्चे रहने पर अनुकरण के द्वारा एक-दूसरे से बहुत चीजें सीख लेता है तथा उनके सामाजिक और शिक्षात्मक विकास में सुविधा होती है। 'अकेला' बच्चा परिवार में इनसे लाभान्वित नहीं हो पाता। सबसे बड़ा अथवा सबसे छोटा बच्चा कभी-कभी परिवार के लिये 'समस्याजनक बच्चा' (problem child) बन जाता है। चूंकि, 'अकेला' बच्चा पारिवारिक वातावरण में खेलने का उचित अवसर प्राप्त नहीं कर सकता, बड़ा बच्चा अत्यधिक सुविधायें पाना चाहता है और सबसे छोटा बच्चा आवश्यकता से अधिक प्यार और सुविधा-प्राप्त करता है तथा निर्भर रहने का अभ्यासी हो जाता है। इन सबों की अभियोजन शैली सामान्य ढंग से विकसित नहीं हो पाती। बड़े होने पर बाल्यकाल में प्राप्त सुविधाओं के अभाव में वे अपना संतुलन खो बैठते हैं।

समाज में अन्य साथियों का प्रभाव भी उनके सामाजिक विकास पर पड़ता है। शिक्षालय में सहपाठी तथा शिक्षक का सम्बन्ध भी कम महत्त्व नहीं रखता। शिक्षात्मक विकास के लिये प्राप्त सुविधा या व्यवस्था पर वह निर्भर करता है कि बच्चे का मानसिक तथा सामाजिक विकास कैसा होगा। पुस्तकालय, संघ, दल तथा खेल के मैदान का वातावरण बाल विकास को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। किशोरावस्था के पूर्वार्द्ध में परवर्ती यौन विशेषताओं के कारण उनमें शारीरिक परिवर्तन होते हैं जिसके फलस्वरूप उनके मानसिक, सांवेगिक तथा सामाजिक जीवन में एक आन्दोलन होता है और वे सामाजिक आलोचनाओं के प्रति अत्यधिक संवेदनशील हो जाते हैं। किशोर-किशोरियों की मनोवृत्ति, मान्यता, विश्वास तथा अभिव्यक्ति आदि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखा जाता है।

सांस्कृतिक वातावरण भी व्यक्तित्व विकास के लिये काफी महत्त्वपूर्ण होता है। हर संस्कृति (culture) में बच्चों के पालन-पोषण का ढंग समान नहीं रहता। डेनिस (Dennis) के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि विभिन्न संस्कृति में पले बच्चों के क्रियात्मक विकास में विशेष अंतर नहीं रहता। फिर भी इतना निश्चित है कि परम्परागत विश्वास, मान्यता, धार्मिक परिपाटी, वेश-भूषा, भाषा, चिंतन तथा जीवन-शैली आदि के द्वारा व्यक्ति का विकास काफी प्रभावित होता है।

अंत में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि किसी प्रकार के शारीरिक दोष या बीमारी के कारण भी व्यक्ति का विकास सामान्य रूप में नहीं हो पाता। शारीरिक क्षति या दोष के कारण विकास तो अवरुद्ध होता ही है, मानसिक पक्ष में हीनता की भावना आ जाती है जो व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिये बाधक सिद्ध होती है।

—o—

अध्याय ३

आनुवंशिकता तथा वातावरण

HEREDITY AND ENVIRONMENT

१. प्रारम्भ

व्यक्तित्व के विकास के लिये आनुवंशिकता (Heredity) तथा वातावरण (Environment)—दोनों काफी महत्त्वपूर्ण हैं। व्यक्ति के शीलगुण (traits) तथा व्यवहार (behaviour) भी दोनों पर निर्भर करते हैं। यह कहना कठिन है कि उसके कौन-से शीलगुण अथवा कौन-सी क्रियायें (activities) आनुवंशिकता की देन हैं और कौन-कौन अर्जित हैं। मनोवैज्ञानिकों ने इसे अध्ययन के द्वारा स्पष्ट किया है कि आनुवंशिकता तथा वातावरण दोनों व्यक्ति के विकास को प्रभावित करते हैं और इसके फलस्वरूप ही उसमें विभिन्न प्रकार की विशेषताएँ (characteristics) देखी जाती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि दोनों की पारस्परिक क्रियाओं (interactions) के फलस्वरूप ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। प्रश्न उठ सकता है कि आनुवंशिकता की कितनी देन (Contribution) है और वातावरण की कितनी। इस सिलसिले में *फ्रांसिस गाल्टन* (Francis Galton) को श्रेय है जिन्होंने लोगों का ध्यान

इस समस्या की ओर आकर्षित किया। फलतः दोनों के महत्त्व को निर्धारित करने के लिये उस दिशा में काफी परीक्षण (tests) तथा प्रयोग (experiments) किये गये। आनुवंशिकता तथा वातावरण के सापेक्ष महत्त्व (relative importance) की विवेचना के लिये विभिन्न प्रकार की विधियों का उपयोग (use) किया गया। दोनों को क्रमशः नियंत्रित(controlled) कर यह अध्ययन किया गया कि व्यक्ति के विकास तथा व्यवहार पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है। अगर आनुवंशिकता एक हो (Same heredity) तो किसी प्रकार की वैयक्तिक भिन्नता (individual difference) का कारण वातावरण ही हो सकता है। यह भिन्नता वातावरण की असमानता के फलस्वरूप ही सम्भव हो सकती है। फिर, समान वातावरण के होने पर भी किसी प्रकार की भिन्नता व्यक्तियों के व्यवहार में देखी जाय तो यह समझा जा सकता है कि उनका कारण आनुवंशिकता ही है। ऐसी स्थिति में भिन्नता का कारण आनुवंशिकता की असमानता ही मानी जा सकती है।

ऊपर जो कुछ भी कहा गया है उससे यह समझा जा सकता है कि 'वैयक्तिक भिन्नता' का कारण क्या है और क्यों एक बच्चा दूसरे बच्चे से भिन्न होता है। फिर भी इसकी विशद व्याख्या के लिये यह जानना आवश्यक है कि आनुवंशिकता (Heredity) तथा वातावरण (Environment) क्या है। इन दोनों को अलग-अलग समझने के बाद ही यह जानना सम्भव हो सकता है कि अमुक शीलगुण (traits) आनुवंशिकता के परिणाम हैं और अमुक शीलगुण वातावरण के परिणाम। दोनों के समर्थकों में विरोध है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार आनुवंशिकता व्यक्ति के व्यक्तित्व का अधिक महत्त्वपूर्ण निर्धारक (determiner) है; लेकिन कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि वातावरण व्यक्तित्व विकास को अधिक प्रभावित करता है।

चाहे इस विषय पर कितना भी मतान्तर क्यों न हो इतना तो मान्य (accepted) है कि आनुवंशिकता (Heredity) तथा वातावरण (Environment) दोनों का घनिष्ठ संबंध है और दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। एक के अभाव में दूसरे का महत्त्व ही नहीं रह जाता। इसलिये व्यक्तित्व के विकास में दोनों का सापेक्ष महत्त्व (relative importance) है। अतः किसी के व्यक्तित्व को उचित रूप से समझने के लिये आनुवंशिकता तथा वातावरण के संबंध को जानना आवश्यक है।

२. आनुवंशिकता

(Heredity)

आनुवंशिकता को समझने के लिये उसकी व्याख्या यहाँ अपेक्षित है। प्रायः आनुवंशिकता शब्द का व्यवहार कई प्रकार से किया जाता है। लेकिन, आनुवंशिकता का उपयोग वैज्ञानिक ढंग से होना ही श्रेयस्कर है। वस्तुतः इससे 'जैव-आनुवंशिकता' (Biological heredity) का ही बोध होता है। आनुवंशिकता का एक परम्परा से दूसरी परम्परा में होने वाले जीवाणु होते हैं जिन्हें 'जीनीज़' (Genes) कहा जाता है। ये जीवाणु क्रोमोसोम्स (Chromosomes) के अंदर रहते हैं। व्यक्ति अपने माँ-बाप से यही २४ जोड़े क्रोमोसोम्स प्राप्त करते हैं। इन्हीं जीनीज़ (genes) के अपूर्व सम्मिलन (Unique Combination) को आनुवंशिकता कहा गया है※। फिर इसे वैज्ञानिक ढंग से इस प्रकार व्यक्त किया गया है।

"आनुवंशिकता जीव रूप में ही वंशानुगत होती है।" ×

सामाजिक आनुवंशिकता तथा सांस्कृतिक आनुवंशिकता का दूसरा अर्थ होता है। समाज तथा संस्कृति—दोनों ही वातावरण हैं और सामाजिक शील-गुण अर्जित (acquired) होते हैं जो वातावरण के प्रभाव का फल ही कहा जा सकता है। अतः जैव-आनुवंशिकता तथा सामाजिक आनुवंशिकता में पर्याप्त अंतर है।

ऊपर दी गई व्याख्या से यह स्पष्ट है कि आनुवंशिकता क्या है और इसके द्वारा क्या प्राप्त होता है। इस सिलसिले में यह भी जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि किस प्रकार आनुवंशिकता प्राप्त होती है। इसे समझने के लिये आनुवंशिकता के तंत्र (mechanism of Heredity) पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

३. आनुवंशिकता के तंत्र

(Mechanism of Heredity)

व्यक्ति का जीवन एक जीवित कोश के रूप में प्रारम्भ होता है। यह कोश (cell) दो बीजकोश (germ cells) के सम्मिश्रण (union) के फलस्वरूप

※ Heredity is the unique combination of the genes.

× Heredity is that what is biologically inhereted.

निर्मित होता है। इसमें एक बीजकोश पुरुष की ओर से और दूसरा नारी की ओर से प्राप्त होता है। नारी की ओर से प्राप्त बीजकोश को रज-कोश (ovum) कहते है। यह रज-कोश शरीर के अन्य कोशों (cells) से आकार में बड़ा होता है। इस कोश में एक कोश-केन्द्र (nucleus) होता है जिसके अंदर क्रोमोसम्स (chromosomes) होते है और जो साइटोप्लाज्म (cytoplasm) से घिरा रहता है यह रजकोश गतिहीन (nonmobile) होता है, केवल चारो ओर फैले हुए बारीक स्नायु-पुंजों (tissues) के सिकुड़ने (contraction) के फलस्वरूप इसमें गति सम्भव होती है। लेकिन, पुरुष से प्राप्त बीजकोश को शुक्रकोश (sperm) कहते है। इसकी बनावट भिन्न होती है। इसमें एक सिर रहता है जिसमें २४ क्रोमोसम्स (Chromosomes होते हैं और चाबुक की तरह (whip-like) एक पूंछ (tail) होती है। इसी पूंछ के द्वारा यह कोश गतिशील होता है यह शुक्रकोश (sperm) नारी के रजकोश (ovum) की झिल्ली में प्रवेश कर जाता है और दोनों कोश-केन्द्र (nuclei) मिलकर एकाकार हो जाते हैं। इस तरह, शुक्रकोश के कोश-केन्द्र में वर्तमान २४ क्रोमोसम्स रजकोश के कोशकेन्द्र में वर्तमान २४ क्रोमोसम्स के साथ मिल जाते है और उनकी कुल संख्या ४८ हो जाती है। शुक्रकोश तथा रजकोश के दोनों कोशकेन्द्रों (nuclei) के इसी समिश्रण (fusion) को गर्भाधान (fertilization or conception) कहा जाता है। जिस समय यह प्रक्रिया (process) समाप्त होती है जीवन के अस्तित्त्व (existence of life) का प्रारम्भ होता है। इस नये प्राणी (new organism) को 'जाइगोट' (Zygote) कहा जाता है।

इस कोश का ऊपरी भाग साइटोप्लाज्म (cytoplasm) कहा जाता है। इस साइटोप्लाज्म के अंदर कोशकेन्द्र (nucleus) होता है जो कोश का मुख्य भाग है कोश--केन्द्र में २४ जोड़े क्रोमोसम्स (chromosomes) रहते हैं। प्रत्येक क्रोमोसम्स में जीवाणुओं (genes) की पंक्ति (string) होती है। ये जीवाणु काफी शक्तिशाली अणुवीक्षण यंत्र के द्वारा भी आसानी से नहीं देखे जा सकते। इन जीवाणुओं को जीनीज (genes) कहते हैं। थौम्स (Thoms, 1954) के मतानुसार प्रत्येक क्रोमोसम्स में लगभग ३,००० जीनीज रहते हैं। ये जीनीज माँ-बाप से बच्चों में आते हैं और वास्तव में ये ही आनुवंशिकता (Heredity) को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक ढोते हैं। बच्चे के माँ-बाप भी अपने माँ-बाप से ये जीनीज प्राप्त करते है।

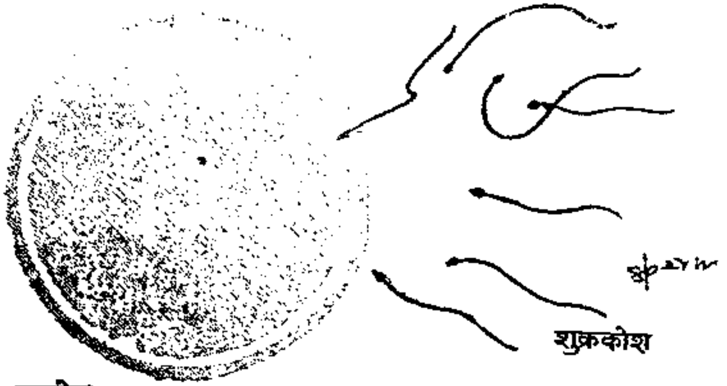

गर्भाधान
(FETILIZATION)

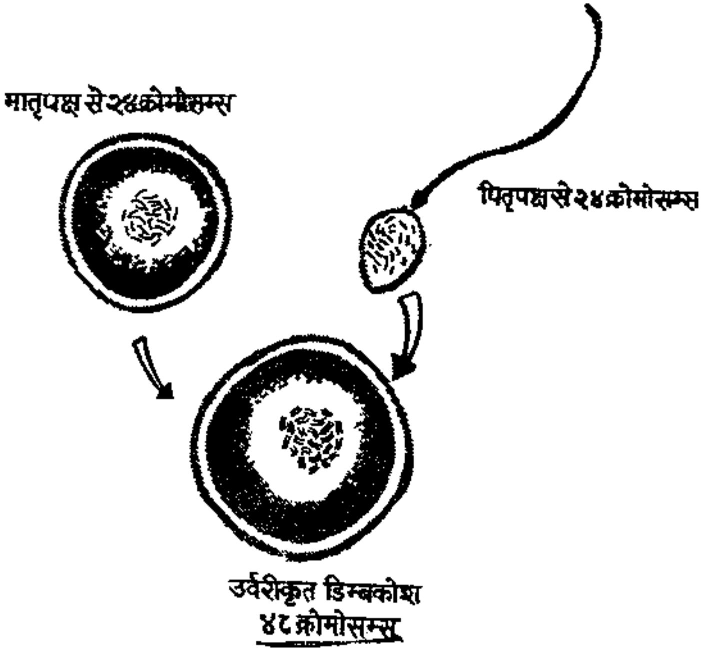

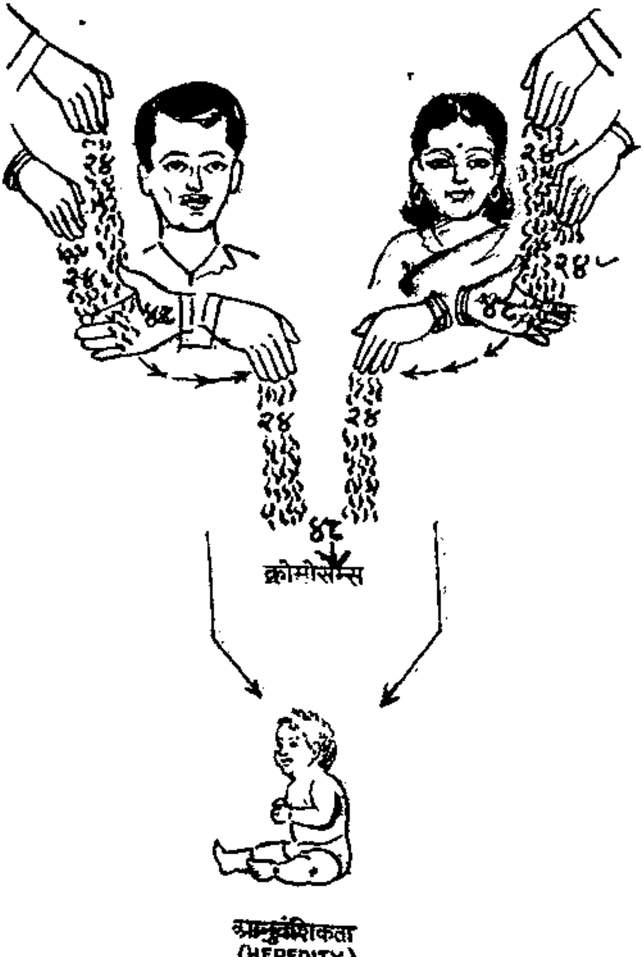

आनुवंशिकता
(HEREDITY)

यह कहना कठिन है कि बच्चा कौन-से २४ जोड़े क्रोमोसम्स प्राप्त करता है। ये क्रोमोसम्स बच्चा माँ-बाप से ही नहीं, बल्कि, अपने पूर्वजों से प्राप्त करते हैं। अगर २४ क्रोमोसम्स बच्चा पितृपक्ष से प्राप्त करता है तो ये दादा-दादी दोनों में किसी एक से अथवा दोनों से प्राप्त हो सकते हैं। तदनुसार परदादा-परदादी से भी ये क्रोमसम्स बच्चों में आते हैं। मातृ-पक्ष से प्राप्त क्रोमोसम्स के बारे में भी यही क्रम चलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्रकोश (sperm) तथा रजकोश (ovum) में क्रोमोसम्स का वितरण (distribution of chromosomes) हमेशा एक समान नहीं होता। फिर, चूँकि दो शुक्रकोश अथवा दो रजकोश कभी भी एक समान (alike) नहीं रहते; एक ही माँ-बाप के दो बच्चे भी हर प्रकार से समान नहीं होते। यह समानता केवल समयमजों (Identical twins) में ही पायी जाती है।

इन सभी पहलुओं पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि बच्चा अपने माँ-बाप के समान हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। किन्तु, मातृ-पक्ष और पितृ-पक्ष के किसी व्यक्ति के शील-गुण (traits) अवश्य पाये जाते हैं।

लड़का या लड़की ?

ये क्रोमोसम्स (Chromosomes) प्रायः जोड़े के क्रम में रहते हैं। प्रत्येक जोड़े का एक क्रोमोसम पितृपक्ष से तथा दूसरा मातृपक्ष से आता है। प्रत्येक क्रोमोसम में जीनीज (genes) की संख्या बराबर होती है। मानव-जाति के जाइगोट (Zygote) में २४ जोड़े क्रोमोसम्स होते हैं। यह संख्या पुरुष और नारी दोनों में आवश्यक रूप में रहती है। २४ जोड़े क्रोमोसम्स में २३ जोड़े दोनों में समान रूप में होते हैं और प्रत्येक जोड़े के दोनों क्रोमोसम्स भी एक समान होते हैं। केवल एक जोड़ा क्रोमोसम्स पुरुष और नारी में असमान रहता है। अतः यही एक जोड़ा (one pair) क्रोमोसम्स यौन-निर्धारक (Sex-determiner) माना जाता है। क्रोमोसम्स के इस जोड़े को यौन क्रोमोसम्स (Sex-chromosomes) भी कहा जा सकता है। ये यौन क्रोमोसम्स x और y दोनों प्रकार के होते हैं। मातृपक्ष से केवल x तथा पितृपक्ष से x और y दोनों प्रकार के यौन-क्रोमोसम्स आते हैं। जब यह जोड़ा xx होता है तो लड़की पैदा होती है और जब xy का जोड़ा होता है तो लड़का पैदा होता है। x स्त्री-जाति तथा y पुरुष जाति की विशेषताओं के द्योतक हैं।

एक या अधिक ?

सामान्यतः नारी पक्ष में एक ही रजकोश (Ovum) परिपक्व (Matured) होता है। इसी रजकोश के साथ शुक्रकोश (Sperm) का सम्मिश्रण होने के फलस्वरूप एक प्राणी का जीवन प्रारम्भ होता है। कभी-कभी एक से अधिक रजकोश एक साथ परिपक्व हो जाते हैं और जब इनके साथ शुक्रकोश का सम्मिश्रण होता है तो एक से अधिक प्राणियों का जन्म होता है। इस नियम के अनुसार जब दो जाइगोट (Zygote) स्वतंत्र रूप से (Independently) विकसित होते हैं तो दो बच्चों का जन्म होता है। चूंकि ये बच्चे दो कोशों (Cells) के रूप में विकसित होते हे, इसलिये बिल्कुल समान नहीं होते। ये साथ पैदा हुए बच्चे यमज (Fraternal twin) कहलाते है। ये दोनों लड़की अथवा लड़के हो सकते है या एक लड़की और दूसरा लड़का। दोनों के शीलगुणों (traits) में भी भिन्नता पाई जाती है।

एक दूसरे प्रकार का भी यमज (twin) होता है। जब एक ही रजकोश (Ovum) और शुक्रकोश का सम्मिश्रण (Union) होता है तब सामान्य ढंग से एक जाइगोट (Zygote) विकसित होता है। दोनों कोशों के सम्मिश्रण के पश्चात् कोश-विभाजन (Cell division) की प्रक्रिया होती है। इसी प्रक्रिया में एक कोश दूसरे से अलग हो सकता है और साथ-ही-साथ स्वतंत्र रूप से ये विकसित भी हो सकते है। फलतः दो प्राणियों का जन्म होता है। चूंकि, दोनों की उत्पत्ति एक ही जाइगोट (Zygote) से होती है, अतः दोनों एक समान होते है। ऐसे दोनों बच्चों को समयमज (Identical twin) कहते हैं। इनके शारीरिक तथा मानसिक शीलगुणों (Traits) में समानता रहती है। ये समयमज हमेशा एक ही जाति (Same sex) के होते है—दोनों लड़कियाँ अथवा दोनों लड़के। समयमज बच्चों की आनुवंशिकता (Heredity) एक होती है।

४. वातावरण
(Environment)

गर्भाधान के बाद से मृत्युपर्यन्त व्यक्ति वातावरण से प्रभावित होता रहता है। वातावरण में ही वह विकसित होता है। गर्भस्थली (uterus) का वातावरण जन्म के पूर्व और भौतिक जगत (physical world) जन्म के

यौन निर्धारण
SEX DETERMINATION

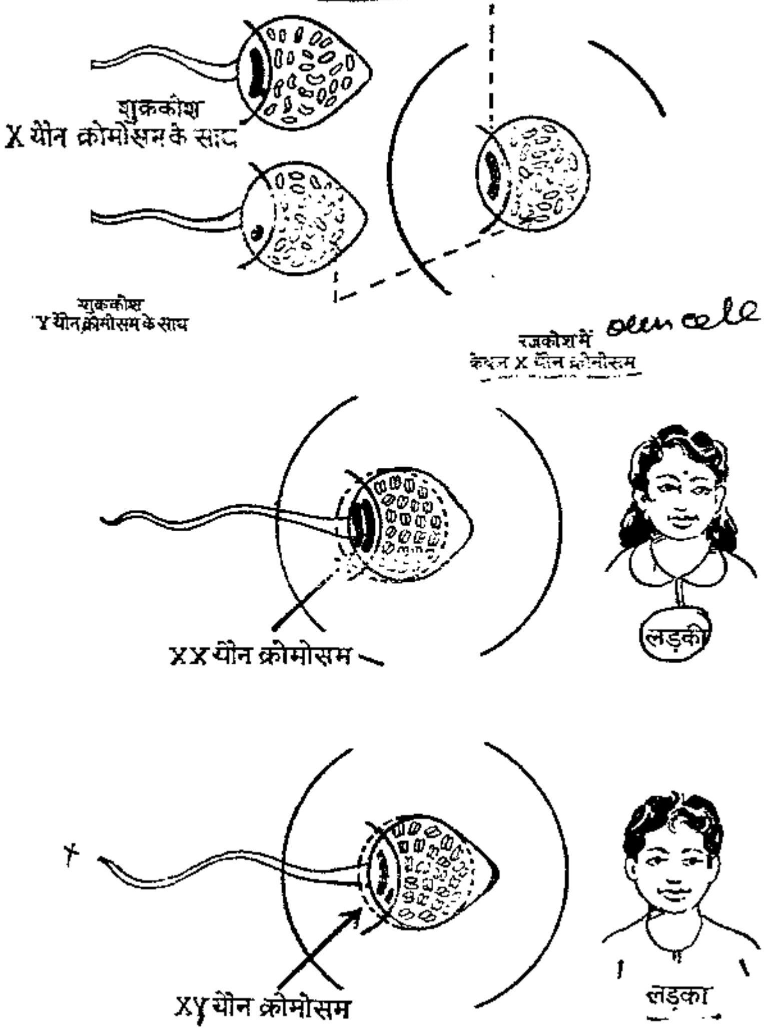

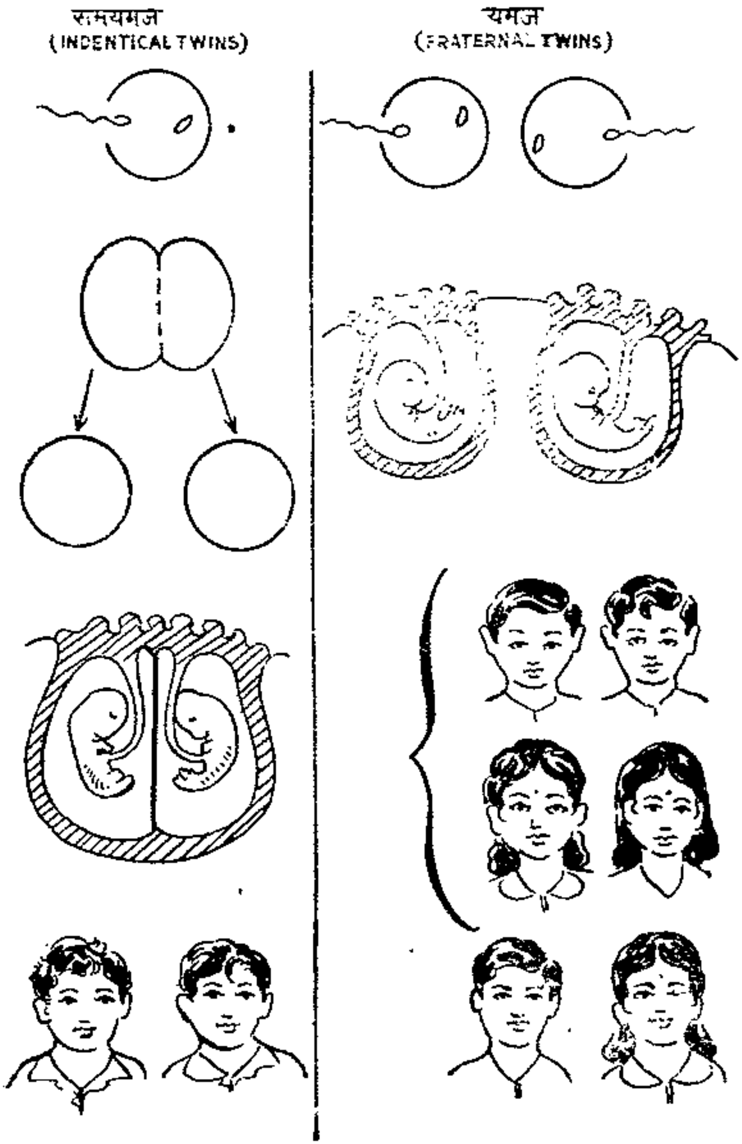
सम्यमज
(INDENTICAL TWINS)
यमज
(FRATERNAL TWINS)

बाद उसे प्रभावित करता है। अतः जीनीज (genes) के अतिरिक्त व्यक्ति को प्रभावित करने वाली प्रत्येक चीज उसका वातावरण है। साधारणतः लोग वातावरण से भौगोलिक (Geographical) वातावरण समझते है, जैसे—नदी, पहाड़, जलवायु तथा निवास-स्थान आदि। लेकिन, इसके अतिरिक्त सामाजिक तथा सांस्कृतिक वातावरण भी होते है। वातावरण की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रचलित परिभाषा से भिन्न है। गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति जितनी उत्तेजना (stimulation) प्राप्त करता है सभी उसका वातावरण है। यों तो विश्व में बहुतेरे वस्तुओं का अस्तित्व है, लेकिन, केवल उन्हीं भौतिक वस्तुओं (physical objects) को वातावरण में माना जाता है जो उत्तेजित करने में समर्थ हों। ये उत्तेजक (stimulators) कई प्रकार के होते है, जैसे, प्रकाश, जलवायु, घटना, भोजन, आमंत्रण, आदेश, रेडियो, चलचित्र, परिस्थिति तथा निर्णय आदि।

वातावरण का मनोवैज्ञानिक अर्थ काफी विशद् (comprehensive) है। हम केवल-प्रत्यक्ष चीजों के प्रभाव को ही नहीं समझते, बल्कि कुछ वातावरण से अप्रत्यक्ष रूपेण भी प्रभावित होते हैं। अगर दो मित्र एक तीसरे व्यक्ति से किसी स्थान विशेष में साथ ही मिलते है तो यह समझना उचित नहीं कि तीनों व्यक्तियों के लिये उस समय समान मनोवैज्ञानिक वातावरण (Psychological environment) है; क्योंकि अपने पूर्व अनुभव के आधार पर हरेक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति में समान रूप से प्रभावित नहीं होते। इसी प्रकार, बड़ा-छोटा दो भाई को किसी स्थान पर अपने अध्यापक से भेंट हो जाती है। यद्यपि ऐसा मालूम पड़ता है कि दोनों भाइयों के लिये उस समय का वातावरण समान है, किंतु, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से दोनों के वातावरण में भिन्नता है। अध्यापक से मिलने के समय बड़ा भाई अपने छोटे भाई और छोटा भाई अपने बड़े भाई की उपस्थिति से प्रभावित होते है। सामान्यतः भिन्न-भिन्न वातावरण के प्रभाव के फलस्वरूप व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा सांवेगिक विशेषताओं (charactertics) में भी भिन्नता पाई जाती है।

सुविधा के लिये हम वातावरण को इस प्रकार समझते है- *जन्म के पूर्व का वातावरण* (pre-natal Environment) जो व्यक्ति को गर्भाधान (conception) से लेकर जन्म के पहले तक प्रभावित करता है। जन्म (Birth) जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है। इसके बाद भौतिक जगत (physical world) व्यक्ति के विकास का क्षेत्र होता है। अतः दूसरा है, *जन्म के बाद का वातावरण* (Post natal Environment) जो

जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त व्यक्ति को प्रभावित करता है। इसमें भौगोलिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक वातावरण आदि हैं।

४. आनुवंशिकता का प्रभाव

(Influence of Heredity)

आनुवंशिकता के प्रभाव के अध्ययन के लिये प्रायः दो विधियों का उपयोग किया जाता है। पहला, पारिवारिक इतिहास (family history) और दूसरा अनुबंध (correlation)। पारिवारिक इतिहास के द्वारा उस परिवार की कई पीढ़ियों (generations) के व्यक्तियों की विभिन्न विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है। अनुबंध एक सांख्यिक विधि (statistical method) है। इस विधि के द्वारा परिवार के सदस्यों की बुद्धि-लब्धि (Intelligence Quotient) के अनुबंध (correlation) का अध्ययन किया जाता है। इन दोनों विधियों द्वारा प्राप्त कुछ मुख्य अध्ययन को प्रस्तुत किया जाता है जो या तो प्रतिभाशाली होने के कारण प्रसिद्ध होते हैं अथवा बौद्धिक न्यूनता के कारण। १८६९ ई० में *फ्रांसिस गाल्टन* (Francis Galton) ने "हेरीडिटेरी जीनियस" (Hereditary Genius) नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने इस विधि का प्रयोग किया। *गाल्टन* ने ३०० ब्रिटेन निवासी परिवारों के ९५१ ख्यातिलब्ध व्यक्तियों का अध्ययन किया। इस अध्ययन द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रतिभा अथवा योग्यता एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जारी रहती है। इसे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि योग्यता (abilities) वंशानुगत (hereditary) है। इस परम्परागत योग्यता अथवा प्रतिभा के लिये वातावरण कोई विशेष महत्व नहीं रखता। लेकिन, बाद में *गाल्टन* ने वातावरण के महत्व को स्वीकार किया।

"पारिवारिक इतिहास" विधि द्वारा अध्ययन करने पर हमें अपने देश के कई गौरवपूर्ण परिवार का उदाहरण प्राप्त होता है।

नेहरू परिवार

पंडित मोतीलाल नेहरू भारत के ख्यातिलब्ध बैरिस्टर ही नहीं, बल्कि एक महान् देशभक्त तथा राजनीतिज्ञ थे। इस परिवार के प्रायः सभी व्यक्ति प्रतिभा सम्पन्न हैं। उनके एकमात्र पुत्र पंडित जवाहरलाल नेहरू आज भारत के प्रधान मंत्री हैं। वे एक महान् इतिहासवेत्ता तथा साहित्यिक के रूप में विश्व-विख्यात

है। उनका आकर्षक तथा रचनात्मक व्यक्तित्व विश्व में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विज्ञान, दर्शन, कानून तथा राजनीति के वे प्रकांड पंडित माने जाते हैं। उनकी बहन श्रीमती विजया लक्ष्मी पंडित संयुक्त राष्ट्र संघ के अध्यक्ष का पद ग्रहण कर चुकी है और प्रारम्भ में ही एक सफल राजदूत के रूप में यश प्राप्त कर चुकी है। अभी वे ब्रिटेन में भारत के राजदूत के पद पर है। नेहरूजी की दूसरी बहन कृष्णा हथी सिंह भी काफी शिक्षित तथा एक सफल लेखिका है। नेहरूजी की पुत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी अखिल भारतीय कांग्रेस की अध्यक्षा थीं। ये भी काफी उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुकी हैं। नेहरूजी के नाती राजीव तथा संजीव दोनों काफी मेधावी छात्र हैं।

यद्यपि नेहरू परिवार में ही मोतीलाल नेहरू से लेकर राजीव और संजीव तक प्रतिभा, सौन्दर्य तथा प्राप्ति (achievements) का ज्वलंत एवं सुन्दर उदाहरण मिलता है, उनके विकास में वातावरण का भी महत्वपूर्ण प्रभाव स्पष्ट है। इस परिवार के सभी व्यक्तियों का पालन-पोषण बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से हुआ है तथा उनकी शिक्षा का प्रबंध बिल्कुल आधुनिक पद्धति के मुताबिक हुआ। अतः केवल आनुवंशिकता ही नहीं, बल्कि, वातावरण का प्रभाव भी उनके समुचित विकास एवं प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व के लिये महत्वपूर्ण है।

ठाकुर परिवार

भारत के एक दूसरे परिवार का इतिहास भी बड़ा ही गौरवपूर्ण है। बंगाल प्रांत के ठाकुर परिवार (Tagore family) को हम सभी जानते हैं। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर एक महान् प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके पुत्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर विश्वविख्यात साहित्यिक तथा दार्शनिक के रूप में नोबेल पुरस्कार (Nobel prize) के प्रथम भारतीय विजेता हुए। ये सर्वतो-मुखी प्रतिभावान थे। एक उच्च कोटि के साधक के रूप में इन्होंने प्राच्य तथा पाश्चात्य का सुन्दर सामंजस्य किया। "विश्वभारती" उनकी अमर कीर्ति का प्रतीक है। उनके अन्य भाई काफी शिक्षित थे। उनके पुत्र रवीन्द्र बाबू काफी शिक्षित एवं विश्वभारती विश्वविद्यालय के उपकुलपति (Vice-chancellor) थे। इस परिवार के अवनींद्र ठाकुर एक प्रतिभासम्पन्न चित्रकार हैं। चित्रकला में इनकी अपनी एक विशेषता है जिसके कारण एक स्कूल जो "अवनीन्द्र स्कूल आफ पेंटिंग" (Abnindra school of painting) के नाम से विख्यात

है। रवीन्द्र बाबू की पुत्री एक विदुषी महिला हैं। अवनीन्द्र बाबू के एक पुत्र उच्च शिक्षा प्राप्त सफल रंगमंचीय अभिनेता तथा निर्देशक है।

इस परिवार में सभी कलाकार तथा साधक के रूप में ही अपनी प्रतिभा का परिचय देते है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कलाकार के परिवार में यह योग्यता (ability) आनुवंशिक ही है। लेकिन, यहाँ भी वातावरण के प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। रवीन्द्र बाबू की उच्च शिक्षा विदेश में हुई। इसी प्रकार परिवार के अन्य सदस्य भी काफी समृद्ध एवं शिक्षित वातावरण में विकसित हुए। स्वस्थ एवं उन्नत (healthy & advanced) वातावरण का प्रभाव भी उनके प्रतिभा-सम्पन्न जीवन के लिये महत्वपूर्ण है।

अमेरिका के एडवर्ड परिवार (Edward family) का इतिहास भी कुछ ऐसा ही है। इस परिवार में भी बहुत-से न्यायाधीश, महाविद्यालय के सभापति, प्राध्यापक तथा नेता आदि हुए।

संगीतात्मक योग्यता (musical ability) भी परिवार में देखी जाती है। ख्यातिलब्ध संगीतज्ञ के परिवार में उनके बच्चे तथा अन्य संबंधी (Relatives) भी संगीत में काफी निपुण पाये गये हैं।

प्रतिभा एवं योग्यता के समान ही भ्रष्ट परिवार (degenerate family) तथा दुर्बल बुद्धि के परिवार (Feeble minded family) का भी अध्ययन किया गया है। मनोविज्ञान के इस तरह के अध्ययन में "ज्यूक्स" (The jukes) तथा "कालीकक" परिवार (The kallikaks) का उल्लेख काफी महत्त्वपूर्ण है। इन दोनों परिवारों के इतिहास का बड़ा ही क्रमबद्ध रूप से विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपराध (Crime), दरिद्रता (Pauperism) तथा अन्य प्रकार के सामाजिक दोष आदि परिवार में देखे जाते है। इन दोनों परिवारों के अध्ययन से पूर्ण जानकारी प्राप्त हो जायगी।

ज्यूक्स परिवार

डुगडेल (Dugdale) ने अमेरिका के बदनाम ज्यूक्स परिवार (Notorious jukes family) का अध्ययन किया। इस परिवार के ५४० व्यक्तियों में ३१० व्यक्ति अपराधी तथा दरिद्र थे। इस परिवार की ५०%

औरतों में वेश्यावृत्ति पायी गई। इस प्रकार इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भ्रष्टाचार (degeneracy) भी आनुवंशिकता के फलस्वरूप ही होता है। लेकिन, डुग्डेल वातावरण के प्रभाव की उपेक्षा नहीं करते। उन्होंने उसके महत्वपूर्ण प्रभाव को भी स्वीकार किया।

कालीकक परिवार

गोडार्ड (Goddard) ने मार्टिन कालीकक परिवार का विस्तृत अध्ययन किया। सर मार्टिन कालीकक स्वयं एक अच्छे परिवार के सदस्य थे। युद्ध के समय वे सेना में भर्ती हो गये। इन्हीं दिनों इनका सम्पर्क एक दुर्बल बुद्धि (Feeble minded) की लड़की से एक शराबखाने (tavern) में हुआ। उससे एक पुत्र हुआ जो दुर्बल बुद्धि का था। उसकी माँ ने उसका नाम जूनियर मार्टिन कालीकक रखा। यह लड़का पिता का नाम और माँ की योग्यता प्राप्त कर सका। *गोडार्ड* ने इस जूनियर कालीकक के ४८० वंशजों का पता लगाया और उनका अध्ययन किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनमें १४३ व्यक्ति दुर्बल बुद्धि के थे और केवल ४६ व्यक्ति ही सामान्य पाये गये। इसके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों का जीवन कोई महत्वपूर्ण नहीं था। अधिकांश व्यक्ति अपराधी, शराबी तथा भ्रष्ट होते थे। सर मार्टिन कालीकक ने सैनिक जीवन के बाद विवाह किया। उनकी पत्नी एक परिवार की सम्मानित लड़की थी। इस वैवाहिक संबंध के फलस्वरूप एक भिन्न वंशावली (another line of descent) शुरू हुई। सर कालीकक से इस पारिवारिक क्रम में ४९६ वंशज हुए, जिनमें सभी सामान्य बुद्धि के थे और उनका जीवन उत्तम था।

गोडार्ड के इस अध्ययन की आलोचना की गई कि एक ही पूर्वज (ancester) के दो तरह के परिवारों का अध्ययन समुचित ढंग से नहीं किया गया। लेकिन, १९१२ ई० में उनके अध्ययन के प्रकाशन से लोग काफी प्रभावित हुए। चाहे जो भी आलोचना हो, *गोडार्ड* इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानसिक दुर्बलता (Mental deficiency) पारिवारिक शील-गुण (familial trait) है जिसमें कई पीढ़ी तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। लेकिन, यह कहा जा सकता है कि सर मार्टिन कालीकक के दोनों पारिवारिक क्रमों के वंशजों का वातावरण भिन्न था। दोनों परिवारों के व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न वातावरण का प्रभाव था।

ऐसा भी देखा जाता है कि किसी परिवार में कोई एक अथवा दो व्यक्ति प्रतिभावान हो जाते हैं, लेकिन, पारिवारिक शील-गुण के रूप में नहीं। ऐसा

सम्भवतः जीनोज के अपूर्व सम्मिलन (Unique combination of genes) के कारण होता है।

आनुवंशिकता के प्रभाव के अध्ययन के लिये अनुबंध विधि (Correlation method) का उपयोग किया गया। यह अध्ययन उन व्यक्तियों के बुद्धि-लब्धांक पर आधारित होता है जिनमें एक दूसरे के साथ किसी प्रकार का पारिवारिक सम्बन्ध (Family relationship) हो। अतः समयमज (Identical twin), यमज (Fratenal twin), माँ-बाप और बच्चे, चचेरे भाई आदि का अध्ययन किया गया। यमज बच्चों पर अध्ययन करने का उद्देश्य आनुवंशिक नियंत्रण ही था। चूंकि समयमज (Identical twin) की आनुवंशिकता एक होती है, उनमें किसी भी प्रकार की भिन्नता जो बाद में पाई जाती है—वातावरण के ही कारण सम्भव है। इसलिये समयमज-नियंत्रण विधि (Co-twin control method) का प्रयोग इतना अधिक महत्वपूर्ण है। फिर इसकी तुलना अन्य प्रकार से सम्बन्धित बच्चों के साथ किया जाता है। यहाँ अनुबंध विधि द्वारा किये गये अन्वेषण (Investigation) से कुछ निष्कर्ष दिये जाते है।

समयमज की बुद्धि-जांच की गई। दोनों बच्चों को काफी सचेष्टता से समान वातावरण में रखा गया। दोनों की बुद्धि-लब्धि (I.Q.) में + ०.९० का अनुबंध (Correlation) पाया गया। यह अनुबंध काफी महत्वपूर्ण है। जितना ही अधिक अनुबंध (high correlation) होता है उतनी ही अधिक समानता पायी जाती है। दूसरी ओर यमज (Fraternal twin) की बुद्धि की जांच की गई। इन्हें भी समान वातावरण में रखा गया। देखा गया कि इन दोनों की बुद्धि-लब्धि में ०.७० का अनुबंध (Correlation) था। इस यमज की बुद्धि-जांच (Intelligence tests) में यौनभेद (Sex difference) पर विचार नहीं किया। लेकिन जब केवल विपरीत यौन के यमजों पर यह जाँच (tests) की गई तो उनकी बुद्धि-लब्धि में केवल ०.५९ का ही अनुबंध पाया गया। चचेरे भाइयों की बुद्धि-लब्धि का अनुबंध केवल ०.२७ ही था। इससे यह स्पष्ट होता है कि वातावरण की समानता में भी आनुवंशिकता का प्रभाव महत्वपूर्ण है। चूंकि, समयमज की आनुवंशिकता एक होती है इसलिये अनुबंध अधिक (high) होता है। यमज (Fraternal twin) की आनु-वंशिकता एक नहीं होती, इसलिये अनुबंध में कमी पायी जाती है। फिर,

चचेरे भाई की आनुवंशिकता बहुत अधिक भिन्न होती है तो अनुबंध (Correlation) भी अत्यधिक कम (low) हो जाता है।

आनुवंशिकता के प्रभाव के समर्थन में ऊपर जितने प्रमाण दिये गये हैं, उनसे हम इस निर्णय पहुँचते हैं कि व्यक्तित्व के लिये आनुवंशिकता का काफी महत्त्व है। लेकिन, यह कहना कि वातावरण का कोई महत्त्व नहीं—अनुचित है। इन अध्ययनों में केवल पारिवारिक शील-गुणों का अध्ययन एक पीढ़ी से दूसरी तथा तीसरी पीढ़ी तक किया गया है और फिर यमजों (twins) के शील-गुणों (traits) से पता लगाया गया है। लेकिन, ध्यान रखना है कि दो वातावरण समान नहीं हो सकते अथवा वातावरण का नियंत्रण कठिन है। इसलिये वातावरण का प्रभाव भी अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य पड़ता है।

६. वातावरण का प्रभाव

(Influnce of Environment)

वातावरण व्यक्तित्व-विकास को बहुत अधिक प्रभावित करता है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि आनुवंशिकता (Heredity) व्यक्ति के विकास के लिये सीमा निर्धारित करती है तो वातावरण (Environment) उसके विकास के लिये सुविधा (facilitations) प्रदान करता है। आधुनिक अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व-विकास पर वातावरण का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसके समर्थन में किये गये कुछ मुख्य अन्वेषणों (Investigations) का उल्लेख आवश्यक है। सुविधा के लिये वातावरण के प्रभाव का अध्ययन विशेष ढंग से करना उत्तम है। जन्म के पहले का वातावरण सीमित एवं सुरक्षित होता है। केवल गर्भस्थ शिशु (fetus) को प्रभावित करने वाला यह वातावरण जन्म के बाद के वातावरण से भिन्न होता है। जन्म (Birth) जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना मात्र है; क्योंकि व्यक्तित्व का अस्तित्त्व (existence) करीब नौ महीने पूर्व ही हो जाता है। कभी-कभी व्यक्ति का जन्म परिपक्वावस्था से पूर्व (Premature birth) ही होता है। अतः हम यह देखेंगे कि जन्म के पूर्व का वातावरण (Pre-natal Environment) व्यक्ति को कहाँ तक प्रभावित करता है। चूंकि यह वातावरण माँ के द्वारा ही नियंत्रित होता है, तब उनके शारीरिक, मानसिक तथा सांवेगिक

स्वास्थ्य और विभिन्न व्यवहारों का ही अध्ययन अपेक्षित है। तत्पश्चात् जन्म के बाद का वातावरण (Post-natal Environment) व्यक्ति के विकास में कितना प्रभाव डालता है यह अध्ययन करेंगे। इस वातावरण में परिवार (family) समाज (Society) तथा संस्कृति (culture) आदि के प्रभाव उल्लेखनीय है। प्राचीन मत के अनुसार यह विश्वास प्रचलित था कि जन्म के पूर्व जो कुछ है वह आनुवंशिकता का प्रभाव है और जन्म के बाद ही वातावरण व्यक्ति को प्रभावित करता है। लेकिन, आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन से यह निर्णय स्थापित हो चुका है कि गर्भधारण (Conception) के बाद से ही वातावरण का प्रभाव पड़ने लगता है। गर्भधारण के बाद से लेकर जन्म तक के वातावरण को आन्तरिक वातावरण (Intra-uterine Environment) भी कहते है और जन्म के बाद के वातावरण को वाह्य वातावरण (External Environment)। यह स्पष्ट है कि गर्भस्थ शिशु पर केवल गर्भाशय से बंधित (uterine) वातावरण का ही प्रभाव पड़ता है; किन्तु, जन्म के बाद भौतिक जगत में उत्तेजित करने वाली सभी चीजों का।

(क) जन्म के पूर्व का वातावरण (Pre-natal Environment)

सामान्यतः गर्भाधान की स्थिति में माँ का भोजन तथा ग्रन्थि-स्राव आदि उसके रक्त (blood) को प्रभावित करते हैं जिससे गर्भस्थ शिशु (fetus) का विकास भी प्रभावित होता है। यद्यपि इस दिशा में बहुत अधिक अन्वेषण नहीं हो पाया है, फिर भी कुछ महत्वपूर्ण अध्ययन उल्लेखनीय है। माँ के आहार (food) पर गर्भस्थ शिशु (fetus) का समुचित विकास निर्भर करता है। गर्भावस्था के उत्तरार्द्ध भाग में गर्भस्थ शिशु में बड़ी तेजी से वृद्धि (growth) होती है, अतः उसे प्रोटीन (Protein), चरबी (fats) तथा कार्बोहाइड्रेट्स (carbohydrates) आदि चीजों की प्रचुर मात्रा में आवश्यकता हो जाती है। माँ को इस अवस्था में उन चीजों को आहार के साथ प्राप्त करना चाहिये। अगर माँ के रक्त-स्राव (bloodstream) द्वारा ये सभी आवश्यक पौष्टिक तत्त्व गर्भस्थ शिशु को प्राप्त नहीं होते तो उसके स्वाभाविक विकास में बाधा उपस्थित हो जाती है। फलस्वरूप शिशु में किसी-न-किसी प्रकार के दोष आ जाते है। माँ अगर यक्ष्मा (T. B.) अथवा मधुमेह (diabetes) से पीड़ित हो तो उनका भी प्रभाव गर्भस्थ शिशु के

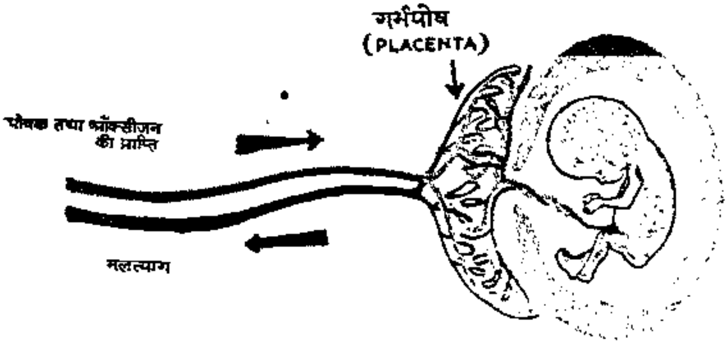

गर्भस्थ शिशु
(FETUS)

नवजात शिशु
(NEONATE)

विकास पर पड़ता है। उपदंश रोग (syphilis) का भी कम प्रभाव पड़ता। इसके परिणाम-स्वरूप अंधापन (blindness), बहिरापन (deafness), मानसिक दुर्बलता (feeble mindedness) तथा गर्भ-स्राव (miscarriages) आदि होते हैं।

(ख) जन्म के बाद का वातावरण (Post-natal Environment)

परिवार, समाज, शिक्षालय तथा संस्कृति आदि व्यक्ति को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। इसका अध्ययन मानसिक योग्यता, सामान्य व्यवहार तथा विभिन्न प्रकार की प्राप्ति (achievements) द्वारा किया गया है। भिन्न-भिन्न वातावरण का प्रभाव कहाँ तक व्यक्तियों पर पड़ता है इसके लिये कई तरह की जाँच की गई है। मनोवैज्ञानिकों ने यमजों (twins) पर इसका महत्वपूर्ण अध्ययन किया है और खास कर समयमजों (Identical twins) पर। चूँकि, चचेरे भाई-बहन अथवा अन्य तरह से संबंधित भाई-बहन की अपेक्षा यमजों (twins) का जन्म के पूर्व का वातावरण अधिक समान (similar) होता है, इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि यमजों की अपेक्षा अन्य बच्चों में भिन्नता पाई जाती हो।

१. यमज तथा समयमज (fraternal & Identical twins) बच्चों का अध्ययन

यमज बच्चों (twin children) पर न्यूमैन (Newman), फ्रीमैन (Freeman) तथा हॉलजिंगर (Holzinger) का अध्ययन काफी महत्वपूर्ण है। विभिन्न प्रकार के शील-गुणों (traits) के संबंध (relationship) को जानने के लिये इन यमज तथा समयमज बच्चों के तीन दल (group) पर अध्ययन किया गया।

प्रथम दल में समयमज (Identical twins) बच्चों को एक साथ पाला गया।

दूसरे दल में यमज (fraternal twins) बच्चों को एक साथ पाला गया।

तीसरे दल में समयमज (Identical twins) बच्चों को अलग-अलग पाला गया।

इन तीनों दलों के अनुबंधों के परिमाण (size of correlations) का तुलनात्मक अध्ययन किया गया। एक साथ अलग-अलग पाले गये समयमज बच्चों के शारीरिक पक्ष में लगभग समानता पायी गयी; क्योंकि, शारीरिक शील-गुणों में बहुत ही कम परिवर्तन थे। उनके केवल वजन (weight) में कुछ अंतर (difference) देखा गया जो वातावरण की भिन्नता के फलस्वरूप था। यमज (fraternal twins) बच्चों के शारीरिक शील-गुणों में भी कोई विशेष भिन्नता नहीं थी। वातावरण का सबसे अधिक प्रभाव इन बच्चों की मानसिक योग्यता (mental abilities) तथा शिक्षा सम्बन्धी प्राप्ति (educational achievements) पर देखा गया। एक साथ पाले गये समयमज (Identical twins) बच्चों की मानसिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता में बहुत अधिक मात्रा में समानता थी और ०·९३ का अनुबंध (correlation) था। यह अनुबंध उनके शारीरिक शील-गुणों के अनुबंध के समान ही रहा। दूसरे दल यानी यमज (fraternal twins) बच्चों की मानसिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी योग्यताओं का अनुबंध ०·७४ का पाया गया। तीसरे दल के अलग-अलग पाले गये समयमज (Identical twins) बच्चों की मानसिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी योग्यताओं में काफी अंतर (difference) देखा गया और उनका अनुबंध लगभग ०·६४ ही था।

इन तीनों दलों के यमज तथा समयमज बच्चों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वातावरण की भिन्नता का काफी प्रभाव पड़ता है। समयमज बच्चे जब एक साथ पाले जाते हैं तो उनकी मानसिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी योग्यताओं का अनुबंध ०·९३ होता है और जब वे अलग-अलग यानी भिन्न-भिन्न वातावरण में पाले जाते हैं तो अनुबंध केवल ०·६४ होता है। ज्ञात है कि समयमज (Identical twins) बच्चों की आनुवंशिकता (Heredity) एक होती है ; अतः उनके किसी प्रकार की भिन्नता केवल वातावरण के प्रभाव के ही परिणाम हो सकते हैं।

२. सामाजिक-आर्थिक तथा व्यावसायिक स्थितियों का प्रभाव

मनोवैज्ञानिकों ने अध्ययन किया है कि बच्चों के जीवन पर उनके माँ-बाप के सामाजिक-आर्थिक (socio-economic) तथा व्यावसायिक (occupational) स्थितियों का भी काफी प्रभाव पड़ता है। विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति के वातावरण में पले बच्चों की मानसिक योग्यता में काफी भिन्नता पाई गई है। प्रायः बच्चों की मानसिक योग्यता अपने माँ-बाप के व्यावसायिक स्तर के अनुकूल

ही होता है। यानी दोनों में स्थायी सम्बन्ध रहता है। इस तरह के एक अध्ययन का उल्लेख किया जाता है।

१८ महीने की आयु से लेकर ५४ महीने की आयु के ३८० बच्चों की मानसिक योग्यता की जाँच की गई। * देखा गया कि अकुशल (unskilled) मजदूरों के बच्चों की औसत बुद्धि-लब्धि (I. Q.) ९५·८ थी और व्यावसायिक (professional) व्यक्तियों के बच्चों की औसत बुद्धि-लब्धि १२५·० थी। इन दो वर्गों के बीच आने वाले व्यक्तियों के बच्चों की औसत बुद्धि-लब्धि ९५·८ तथा १२५·० के बीच ही पायी गई।

गॉर्डन (Gordon) ने इंगलैंड में जिप्सी बच्चे (Gypsy children) तथा नहर के नाव पर रहने वाले बच्चे (canal-boat-children) का अध्ययन किया। इन दोनों समुदायों (groups) के बच्चों की शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं थी। वे प्रायः पाठशाला में अनुपस्थित रहा करते थे। इनके परिवार में अधिकांश व्यक्ति अशिक्षित ही थे और अपना जीवन घूमने तथा नाव पर ही बिताते थे। अतः इनका घरेलू वातावरण (home environment) ऐसा था जहाँ मानसिक विकास उचित रूप में नहीं हो सकता। इनमें से अधिकांश अल्पायु बच्चों की बुद्धि-लब्धि (I. Q.) ९० और १०० के बीच थी। सभी नाविक के बच्चों की औसत बुद्धि-लब्धि लगभग ७० थी। जिप्सी बच्चों की औसत बुद्धि-लब्धि नाविक के बच्चों से कुछ अधिक थी। दोनों समुदायों (groups) के बच्चों की बुद्धि-लब्धि में कमी का कारण वातावरण ही है; क्योंकि, आरम्भ में वे प्रायः सामान्य बुद्धि के थे, किन्तु, बाद में सामाजिक, आर्थिक तथा माँ-बाप की व्यावसायिक स्थितियों का प्रभाव उन पर पड़ता गया। यथेष्ट शिक्षा की कमी तथा अन्य मानसिक विकास के उपकरण के अभाव में आयु-वृद्धि के साथ उनका उचित मानसिक विकास नहीं हो पाया।

३. ग्रामीय तथा नगरीय वातावरण का प्रभाव

आधुनिक बुद्धि-परीक्षण (Intelligence Tests) के आधार पर मनोवैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि गाँव में रहने वाले बच्चों के औसत बुद्धि-लब्धांक (I. Q. Scores) की अपेक्षा नगर-निवासी बच्चों का औसत बुद्धि-लब्धांक अधिक होता है। ग्रामीय वातावरण में बच्चों के शिक्षण-प्रशिक्षण

की उतनी अधिक सुविधायें नहीं रहतीं, जितनी नगरीय वातावरण में। दिहातों में न तो स्कूल की उचित व्यवस्था रहती है और न अध्यापन की ही। फलतः जिस ग्रामीय क्षेत्र (rural area) में इन चीजों की जितनी अधिक असुविधायें रहती हैं, वहाँ के बच्चों का औसत बुद्धि-लब्धांक तथा उन्नत नगर के बच्चों के बुद्धि-लब्धांक का अंतर (Difference) उतना ही अधिक होगा। प्रायः नगर का वातावरण उन्नत (advanced) होता है ; क्योंकि, वहाँ बच्चों के लिये खेलने, पढ़ने तथा मनोविनोद के साधन की सुविधायें रहती हैं जिनसे उनका शारीरिक तथा मानसिक विकास समुचित ढंग से हो पाता है। ग्रामीय क्षेत्र के बच्चे अपरिचितों के प्रति प्रायः संकोची (shy) होते हैं। इसलिये वैयक्तिक जाँच (Individual Tests) में वे अच्छा नहीं कर पाते। देखा गया कि कार्य-पूर्ति जाँच (Performance Tests) की अपेक्षा शाब्दिक जाँच (Verbal Tests) में ग्रामीय (rural) तथा नगरीय (urban) बच्चों में अधिक अंतर रहता है। यह अंतर वातावरण की भिन्नता के परिणाम-स्वरूप ही सम्भव है। लेकिन, यह ध्यान देने योग्य बात है कि अधिकांश बुद्धि-परीक्षण (Intelligence Tests) का माननिर्धारण (standardization) प्रायः नगर के बच्चों के साथ ही किया गया है। बुद्धि-लब्धांक की भिन्नता का यह भी कारण हो सकता है।

आयोवा (Iowa) में विभिन्न आयु के ग्रामीण बच्चों की मानसिक योग्यता का बड़ा ही विस्तृत अध्ययन किया गया। उन बच्चों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला कि नगरीय (urban) बच्चों के बुद्धि-लब्धांक (I. Q. Scores) की तुलना में अल्पायु ग्रामीण (rural) बच्चों की अपेक्षा अधिक आयु के बच्चों के बुद्धि-लब्धांक में अधिक कमी देखी जाती है। ४ महीने से लेकर ४० महीने तक की आयु के १२३ बच्चों का अध्ययन किया गया। आयोवा बेबी टेस्ट (Iowa Baby Test) के द्वारा नगरीय (urban) बच्चों के प्रतिमान (norm) की तुलना में इन अल्पायु ग्रामीय (rural) बच्चों में कोई खास हीनता (inferiority) नहीं देखी गई। फिर, ३—७ वर्ष की आयु के १६२ बच्चों का अध्ययन अन्य परीक्षण ❋ के द्वारा किया गया। इस समुदाय (group) में अल्पायु बच्चों में कोई महत्वपूर्ण भिन्नता नहीं देखी गई। लेकिन, ५ वें तथा ६ ठे वर्ष की आयु के ग्रामीण बच्चों में हीनता

❋ Detroit Kindergarten Test.

(inferiority) स्पष्ट थी। इस सिलसिले में ८७१ ग्रामीण बच्चों के अध्ययन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि आयु में वृद्धि के साथ-साथ उनका मानसिक विकास अवरुद्ध होने लगता है।

आयोवा (Iowa) के ग्रामीण बच्चों पर किये गये विभिन्न अध्ययनों ने यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि प्रारम्भ में अल्पायु बच्चों की मानसिक योग्यता करीब-करीब नगरीय बच्चों के समान ही रहती है। किन्तु, ज्यों-ज्यों ये ग्रामीण बच्चे बढ़ते जाते हैं, ग्रामीण वातावरण (rural environment) के प्रभाव से उनकी मानसिक योग्यता में कमी होने लगती है। ग्रामीय वातावरण में मानसिक विकास के विभिन्न साधनों की कमी रहती है और नगरीय वातावरण (urban environment) उन्नत (advanced) होता है, जहाँ हर प्रकार की सुविधायें प्राप्त होती हैं। अतः वातावरण के प्रभाव का ही परिणाम होता है कि ग्रामीय बच्चों के व्यक्तित्व (personality) का समुचित विकास नहीं हो पाता।

४. असामान्य (Unusual) वातावरण का प्रभाव

कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख मिलता है, जिनमें मनुष्य के बच्चों का पालन-पोषण जंगली वातावरण में हुआ। बाद में जब वे जंगलों तथा कंदराओं (caves) से मानव समाज में लाये गये, तो उनके स्वभाव तथा व्यवहार में काफी परिवर्तन देखा गया। उनका व्यवहार जानवर के समान था। यह परिवर्तन जंगली वातावरण के प्रभाव का समर्थन करता है। यहाँ कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया जाता है।

(क) १९२६ ई० में अपने देश की एक कंदरा (cave) में दो बालिकायें मिली थीं, जिनमें एक की आयु ४ वर्ष तथा दूसरी की आयु ८ वर्ष थी। ये बालिकायें भेड़िया (wolf) की कंदरा में रहती थीं। कुछ दिनों के बाद छोटी बालिका की मृत्यु हो गई। बड़ी बहन का नाम 'कमला' रखा गया। जानवरों के वातावरण का प्रभाव इन बालिकाओं पर इतना अधिक पड़ चुका था कि इनमें मानवोचित व्यवहार नहीं देखे गये। कमला कच्चा मांस खाना पसंद करती थी। वह भेड़िये की तरह बोलती थी और अंधेरे में भी देख सकती थी। वह जानवर की तरह दोनों पैर तथा दोनों हाथ के सहारे ही चलती-फिरती थी। वह बहुत दिनों तक जीवित रही और उसे

84307

सामाजिक (sociable) बनाने की काफी चेष्टा की गई। उसे प्रशिक्षण (training) भी दिया गया, ताकि उसके जंगली व्यवहार में सुधार हो सके। लेकिन, इन सारे प्रयासों के बाद भी उसमें संतोषजनक सुधार नहीं हो सका।

यह घटना वातावरण के प्रभाव का एक सुन्दर उदाहरण है। कंदरा में पाई गई बालिकाओं की आनुवंशिकता (Heredity) मानवीय (Human) होते हुए भी उनका व्यवहार भेड़िये की तरह होता था। यदि वे मानवीय समाज में प्रारम्भ से ही रहतीं, तो कभी भी उनका व्यवहार जंगली नहीं होता। जंगल में जानवरों के सम्पर्क का प्रभाव उनपर स्पष्ट है कि वे कच्चा मांस खाना पसन्द करती थीं। उनकी भाषा का भी समुचित विकास नहीं हो सका और वे केवल भेड़िये की तरह बोल सकती थीं।

(ख) एक दूसरी घटना के द्वारा भी वातावरण के प्रभाव का पुष्टिकरण होता है। फ्रांस के एक जंगल में एक बालक पाया गया, जो किसी प्रकार बाल्यावस्था में ही जंगल में छूट गया था। इस बालक के व्यवहार में भी काफी परिवर्तन पाया गया। जंगली जानवरों के साथ रहने के परिणाम-स्वरूप उसका भी व्यवहार जानवर की तरह हो गया था। वह जानवर की तरह काफी तेज दौड़ सकता था तथा कच्चा मांस खाता था। वह नंगा रहना अच्छा समझता था। जंगल में उसका भाषा-विकास नहीं हो सका। इसलिये उसकी आवाज जानवर की तरह होती थी। अंधेरे में वह अच्छी तरह देख सकता था। इस प्रकार इस बालक के सभी व्यवहार जानवरों के व्यवहार से मिलते-जुलते थे। वर्षों जानवर के साथ रहने के कारण उस बालक ने उनके व्यवहार को ही सीख लिया। अगर सामान्य वातावरण (usual environment) इस बालक को मिला होता, तो पशु के समान उसका व्यवहार नहीं हो पाता। अतः, इस बालक पर असामान्य वातावरण (unusual environment) का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

(ग) वातावरण के प्रभाव का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अध्ययन *केलौग तथा केलौग* (W. N. Kellogg & L. A. Kellogg) के द्वारा किया गया है। पहले देखा जा चुका है कि जंगली वातावरण का प्रभाव मनुष्य पर क्या पड़ता है। यहाँ यह देखना है कि मानव समाज जानवर को कहाँ तक प्रभावित करता है। वनमानुष (chimpansee) तथा मनुष्य के बच्चे का

यह एक सुन्दर तुलनात्मक अध्ययन है। ये दोनों लगभग ९ महीने तक समान ढंग से एक ही वातावरण में साथ-साथ पाले गये।* गुआ (Gua) ७½ महीने की आयु में मनोवैज्ञानिक के घर लाई गई। इस घर में गुआ को मनोवैज्ञानिक के एक १० महीने की आयु के पुत्र के साथ रखा गया। गुआ को भी पुत्रवत् व्यवहार प्राप्त था। दोनों के रहन-सहन, खान-पान, कपड़े पहनने तथा सोने की व्यवस्था बिल्कुल एक समान थी। दोनों के साथ किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रखी गई। गुआ अपने कपड़े स्वयं पहन लेती थी और जूता पहन कर आसानी से चल-फिर सकती थी। धीरे-धीरे, मानव-परिवार में रहने के कारण वह ग्लास से पानी पीना, चमचा से खाना, पेंसिल से लकीर खींचना आदि भी सीख गई। वह मनुष्य की भाषा कुछ हद तक समझ लेती थी, किन्तु, बोलने में असमर्थ थी।

यद्यपि यह वनमानुष की बच्ची केवल ९ महीने तक ही मनोवैज्ञानिक के साथ रह सकी, उसके व्यवहार में बहुत अधिक परिवर्तन आ गया। गुआ के ये सभी परिवर्तित व्यवहार अन्य जंगली वनमानुष की तरह नहीं रह गये। उसपर मानव समाज का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि वातावरण का प्रभाव किसी भी प्राणी के विकास पर बहुत अधिक पड़ता है। परन्तु, यह भी ध्यान रखना है कि वातावरण के प्रभाव की सीमा (limits) होती है, जो आनुवंशिकता (Heredity) द्वारा निर्धारित होती है। यह ठीक है कि गुआ खाना-पीना, कपड़े पहनना तथा सफाई से रहना सीख गई, किंतु, वह मानव-शिशु की तरह बोलना नहीं सीख सकी। क्रमशः आयु-वृद्धि के साथ-साथ जब मनोवैज्ञानिक के लड़के में बौद्धिक (Intellectual) तथा मनोवैज्ञानिक विशेषतायें (characteristics) दिखाई देने लगीं, वनमानुष की बच्ची उछल-कूद में उससे आगे रहने लगी।

वातावरण के पक्ष में दिये गये सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि मानव-शिशु के विकास में वातावरण का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जिस वातावरण में बच्चा पलता है, उसी के अनुकूल (सीमित रूप में) वह विकसित होता है। जंगली वातावरण का प्रभाव मानव-शिशु पर और मानवीय वातावरण का प्रभाव वनमानुष पर इसका ज्वलंत उदाहरण है। इसके अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक तथा व्यावसायिक वातावरण का प्रभाव कम नहीं पड़ता।

* गुआ (Gua)—वनमानुष की बच्ची का नाम

७. निष्कर्ष

आनुवंशिकता (Heredity) तथा वातावरण (Environment) दोनों महत्त्वपूर्ण है। एक के अभाव में दूसरे का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। वर्तमान मनोवैज्ञानिक इसे स्वीकार करते हैं कि व्यक्तित्व का विकास आनुवंशिकता तथा वातावरण की पारस्परिक क्रिया (interaction) के फलस्वरूप ही होता है। अतः व्यक्ति की विभिन्न शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक विशेषताओं (characteristics) के विकास पर दोनों का प्रभाव पड़ता है। इतना होते हुए भी मनोवैज्ञानिकों का एक दल आनुवंशिकता के प्रभाव को अधिक महत्त्व देता है, तो दूसरा दल वातावरण के प्रभाव को। परम्परागत विचार के मुताबिक व्यक्तित्व के लिये आनुवंशिकता ही महत्त्वपूर्ण है, वातावरण नहीं। लेकिन, व्यवहारवादियों (Behaviourists) ने वातावरण की महत्ता के पक्ष में जोरों का आन्दोलन प्रारम्भ किया और यह प्रमाणित किया कि वातावरण का भी व्यक्तित्व-विकास (Personalily Development) में कम प्रभाव नहीं पड़ता। सिगमंड फ्रायड (Sigmund Freud) ने यह बतलाया कि अस्वस्थ वातावरण (unhealthy environment) के कारण ही असामान्य व्यक्तित्व का विकास होता है। अतः, वातावरणवादियों ने वातावरण के प्रभाव के पक्ष का बड़े जोरदार शब्दों में समर्थन किया। दोनों दलों (groups) में पर्याप्त मतान्तर रहा और वे अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते रहे। फलतः वे इस समस्या के किसी निश्चित निष्कर्ष (Conclusion) पर नहीं पहुँच सके। हाँ, वे इतना ही मान सके कि व्यक्तित्व-विकास के लिये दोनों की पारस्परिक क्रिया महत्त्वपूर्ण है।

मानव जाति (Human Race) में बाल्यावस्था (Childhood), जो विकासावस्था है, की अवधि (period) काफी लम्बी होती है। अतः मानव-शिशु के विभिन्न शील-गुणों के विकास को वातावरण काफी प्रभावित करता है। बाल्यावस्था में जन्म के बाद उसे अपने माँ-बाप पर निर्भर रहना पड़ता है—उसे जैसा वातावरण मिलता है उसके अनुकूल ही उसका सामाजिक तथा सांवेगिक (Social and emotional) विकास होता है। मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार बौद्धिक विकास में आनुवंशिकता अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु, साथ-ही-साथ यह भी प्रमाणित हो चुका है कि बुद्धिलब्धि (Intelligence Quotient) में वृद्धि (सीमित रूप में) की जा सकती है और उसमें कमी भी हो

जाना सम्भव है। अगर वातावरण उन्नत (advanced) है, तो बुद्धि-लब्धि में सामान्यतः १० अंक तक वृद्धि हो सकती है और तदनुसार पिछड़े हुए वातावरण (backward environment) में उतनी ही कमी। जहाँ तक सामाजिक (Social) तथा संवेगात्मक (emotional) विशेषताओं का प्रश्न है—वातावरण का इस पर अधिक प्रभाव पड़ता है। सामाजिक व्यवहार प्रायः अर्जित (acquired) होते हैं और मनोवृत्ति (attitude) में परिवर्तन होता है। व्यक्ति के चारित्रिक विकास (character development) वातावरण के द्वारा ही अधिक प्रभावित होता है। वस्तुतः वातावरण के प्रभाव से जब कोई शील-गुण (traits) विकसित होता है, तो वह केवल व्यवहार को ही नहीं; बल्कि व्यक्ति की अभिरुचि तथा मनोवृत्ति को भी प्रभावित करता है। फिर, एक-दूसरे के प्रभाव स्वरूप ये शील-गुण इतने स्थिर हो जाते है कि उनमें परिवर्तन आसानी से नहीं हो पाता। व्यक्ति के ऐसे बहुत से अर्जित शील-गुण बाल्यावस्था में इस प्रकार स्थिर हो जाते हैं कि उनमें परिवर्तन कठिन हो जाता है।

व्यक्तित्व-विकास (Personality Development) के लिए आनुवंशिकता (Heredity) तथा वातावरण (Environment) में वही सम्बन्ध है जो सम्बन्ध बीज (Seed) और जमीन (Soil) में है। अगर बीज उत्तम न हो, तो केवल उर्वर जमीन अच्छा वृक्ष नहीं दे सकती और मरुभूमि में उत्तम बीज महत्त्वहीन हो जाता है। अन्ततोगत्वा बिना बीज के केवल जमीन का महत्त्व गौण हो जाता है। और उसी तरह जमीन के अभाव में बीज कुछ नहीं दे सकता। दोनों की पारस्परिक क्रिया के फलस्वरूप ही वृक्ष का अस्तित्व (existence) सम्भव है।

—०—

अध्याय ४

शारीरिक विकास

PHYSICAL DEVELOPMENT

नवजात शिशु तथा बच्चों का शारीरिक विकास

१. ऊँचाई

जन्म के समय औसत शिशु की ऊँचाई १९ इंच से लेकर २० इंच होती है। एक वर्ष के बाद उसकी ऊँचाई २७ इंच से लेकर २९ इंच हो जाती है। क्रमशः इनमें वृद्धि होती जाती है और ६ वर्ष की आयु में औसत बच्चों की ऊँचाई ४० इंच रहती है। शारीरिक विकास परिपक्वावस्था (maturity) तक जारी रहता है। १९-२० वर्ष की आयु तक ऊँचाई में परिवर्तन का अंत हो जाता है। इस परिपक्वावस्था के बाद औसत व्यक्ति की ऊँचाई में परिवर्तन नहीं होता। सामान्य अमेरिकन वयस्क की औसत ऊँचाई ५ फीट ७ ई० तथा अमेरिकन वयस्क महिला की औसत ऊँचाई ५ फीट ४ ई० होती है। शारीरिक वृद्धि (Physical growth) में वैयक्तिक भिन्नता भी देखी जाती है। यह स्थिति लड़के तथा लड़कियों—दोनों में देखी जाती है। जिस बच्चे की शारीरिक वृद्धि प्रारम्भ से ही तेजी से होती है, वह औसत बच्चे से १ या २ वर्ष पहले ही परिपक्व हो

जाता है और जिसकी वृद्धि प्रारम्भ से ही मंद होती है, उसकी परिपक्वता बाद में होती है।

२. वजन

बच्चों के औसत वजन (weight) में भी काफी भिन्नता पायी जाती है। जन्म के समय औसत शिशुओं (average infants) का वजन ६ पौंड और ८ पौंड के बीच होता है। प्रायः देखा जाता है कि लड़कियों का औसत वजन लड़कों से थोड़ा कम होता है। शैशवावस्था से लेकर किशोरावस्था तक वजन में भी क्रमशः वृद्धि होती जाती है। ऊँचाई में किशोरावस्था के बाद वृद्धि नहीं होती, लेकिन, वजन स्थायी (constant) नहीं रहता और ५० वर्ष की आयु तक बढ़ता ही जाता है। वजन हमेशा एक समान नहीं बढ़ता। जीवन के प्रथम २ वर्ष की आयु में बहुत अधिक वजन बढ़ जाता है। इसके बाद फिर किशोरावस्था के पूर्वार्द्ध भाग—१२ तथा १५ वर्ष की आयु के बीच में लड़कियों में और १३ तथा १६ वर्ष की आयु के बीच लड़कों में वजन काफी बढ़ जाता है।

३. सिर का विकास

जन्म के समय नवजात शिशुओं (neonats) का सिर (Head) बहुत बड़ा होता है। प्रायः यह सिर उसके शरीर के लगभग $\frac{1}{4}$ भाग होता है। इसके बाद, शारीरिक वृद्धि के साथ-साथ सिर भी बढ़ता जाता है। परिपक्वावस्था तक सिर में दुगुनी वृद्धि (double) हो जाती है और पूरे शरीर (Body) में लगभग $3\frac{1}{2}$ गुनी वृद्धि हो जाती है। जन्म के समय शिशुओं की नाक चौड़ी होती है, लेकिन, बाद में अन्य शारीरिक भागों के पहले ही उसकी आकृति सुडौल हो जाती है।

४. पैर और भुजा का विकास

नवजात शिशु का पैर (Legs) जन्म के समय शरीर के अनुपात में बहुत छोटा होता है और भुजा (arms) बहुत लम्बी होती है। हाथ और पैर का पंजा भी काफी छोटा होता है। आयु में वृद्धि के साथ-साथ भुजा भी काफी लम्बी हो जाती है। पैर की लम्बाई में भी काफी वृद्धि होती है। ज्यों-ज्यों पैर लम्बा होता जाता है, वह सीधा (straight) भी हो जाता है। ६ वर्ष की आयु के लगभग पैर एकदम सीधा हो जाता है और ठेहुना के नजदीक

झुका हुआ नहीं रह जाता। किशोरावस्था में पैर (Legs) की लम्बाई जन्म-काल की लम्बाई की ४ गुनी और परिपक्वावस्था (Maturity) में ५ गुनी हो जाती है। इसके बाद पैर में मांसपेशियों का विकास हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उसका आकार (shape) परिवर्तित दृष्टिगत होता है। हाथ तथा पैर का पंजा शैशवावस्था में बहुत छोटा होता है। अंगुलियाँ भी छोटी-छोटी रहती हैं। इन अंगुलियों की हड्डी (bones) बहुत धीरे-धीरे बढ़ती हैं। १२ वर्ष की आयु के लगभग इसमें काफी शीघ्रता से वृद्धि होने लगती हैं और १५ वर्ष की आयु के लगभग काफी परिवर्तन हो जाता है। हर आयु (age) में लड़कियों से लड़कों के पैर का पंजा (feet) बड़ा होता है और लड़कियों की अपेक्षा देर से परिपक्व (matured) भी होता है। पैर, भुजा तथा इनके पंजों की लम्बाई में वैयक्तिक भिन्नता भी विचारणीय है।

५. हड्डियों का विकास

शैशवकाल में हड्डियों (Bones) का आकार (size) छोटा होता है। हड्डियों की संख्या तथा बनावट (composition) में वयस्क की हड्डियों से भिन्नता रहती है। जन्म के समय नवजात शिशु को लगभग २७० हड्डियाँ रहती हैं। आयु-वृद्धि के फलस्वरूप इनकी संख्या में अंतर आ जाता है। तारुण्यारंभ अवस्था (Puberty) में इसकी संख्या लगभग ३५० हो जाती है। इसके बाद इसकी संख्या में कमी आने लगती है और वयस्कावस्था (Adulthood) में केवल २०६ हड्डियाँ ही रह जाती हैं। एक्स-रे (X-ray) द्वारा इन हड्डियों के बारे में जानकारी प्राप्त की जाती है। नई-नई हड्डियाँ कब शरीर में प्रगट (appear) होती हैं—एक्स-रे प्लेट (X-ray plate) में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ जाती है।

६. दाँत

बच्चों के दो प्रकार के दाँत (Teeth) होते हैं, अस्थायी (temporary) और स्थायी (Permanent)। जन्म के बाद पहले अस्थायी दाँत निकलते हैं, जिनकी संख्या २० होती है। इसे 'दूध का दाँत' अथवा शैशवकालीन दाँत (Baby Teeth) कहा जाता है। ये दाँत गिर जाते हैं और इनकी जगह स्थायी दाँत (Permanent teeth) निकल आते हैं। अन्त में विवेक-दाँत (wisdom teeth) प्रगट होता है जिसे सामान्यत: 'अक्ल-चौवा' कहा जाता है। यहाँ दाँत के निकलने के समय की चर्चा विशेष रूप से करना अपेक्षित है।

प्रायः ६ महीने के लगभग औसत रूप से अस्थायी दांत का निकलना प्रारम्भ हो जाता है। पहले आगे का दांत और खासकर नीचे के जबड़े (jaw) में ही निकलता है। ३ वर्ष की आयु के लगभग अस्थायी दांत पूर्णतः निकल जाते हैं। दाँत आने में भी वैयक्तिक भिन्नता देखी जाती है जिसके फलस्वरूप किसी के देर से और किसी के पहले ही दाँत निकल आते हैं। उत्तम ढंग से दांतों के सामान्य विकास के लिये कैलसियम (calcium) तथा विटामिन डी (Vitamin D) की अत्यन्त आवश्यकता होती है। पूरी बाल्यावस्था तक अस्थायी दांत के बदले स्थायी दाँतों (Permanent teeth) का आना जारी रहता है। औसत तौर पर ६ वर्ष के लगभग बच्चों का प्रथम स्थायी दांत निकलता है। ८ वर्ष की आयु में १३ दांत ; १० वर्ष की आयु में १५ के लगभग और १२ वर्ष की आयु में २५ के लगभग दाँत आ जाते हैं। १३-१४ वर्ष की आयु में करीब-करीब सभी स्थयी दाँत निकल आते हैं। स्थायी दांत के निकलने में भी वैयक्तिक भिन्नता काफी रहती है। विवेक-दंत (wisdom teeth) औसत तौर पर २०-२५ वर्ष की आयु तक निकल आते है। देखा गया है कि लड़कियों में शारीरिक परिपक्वीकरण (phycical maturity) शीघ्र हो जाने के कारण लड़कों की अपेक्षा पूर्व ही दाँत निकल आते है। दांत निकलने का शारीरिक स्वास्थ्य के साथ काफी घना संबंध है।

५, मांसपेशियाँ

मांसपेशियाँ शारीरिक-क्रियाओं के लिये अत्यावश्यक है। शरीर के आन्तरिक भागों में विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के लिये मांसपेशियों का संकुचन (muscle Contraction) निहायत जरूरी है। ये मांसपेशियाँ कई प्रकार की होती हैं। हृदय की क्रिया (heart action), पाचन क्रिया (digestion) तथा श्वास-संबंधी क्रियायें (respiration) आदि इन्हीं पर निर्भर करती है। अनावश्यक पदार्थों (wastes) को शरीर से बाहर निकालने में भी मांसपेशियों का काफी हाथ रहता है। कंठ के संकुचन तथा फैलाव के कारण ही आवाजों में अंतर होता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार की शारीरिक गतियों तथा क्रियाओं के लिये मांसपेशियाँ काफी महत्त्वपूर्ण हैं। जन्म के समय मांसपेशियों के रेशे (muscle filbers) अविकसित रूप में रहते है। यही कारण है कि नवजात-शिशु (neonate) में गति कम होती है और गतियाँ असम्बद्ध (uncoordinated) रहती हैं। धीरे-धीरे इन मांसपेशियों के रेशे में विकास होता जाता है

और उनके आकार (shape), विस्तार (size) तथा बनावट (composion) में काफी परिवर्तन हो जाता है। यह विकास रेशे की लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई में होता है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति का वजन (weight) काफी बढ़ता जाता है। औसत रूप से जन्म और परिपक्वावस्था के बीच मांसपेशियों में ४ गुना अधिक वृद्धि हो जाती है। मांसपेशियों की वृद्धि शारीरिक विकास का प्रधान भाग है। व्यक्तियों की विभिन्न प्रकार का अभियोजन इसी विकास पर निर्भर करता है। जो शारीरिक पक्ष से काफी स्वस्थ एवं मजबूत है, वह खेल-कूद अथवा अधिक सक्रिय कार्यों में भाग ले सकता है। जिसका शारीरिक विकास ही उपयुक्त रूप से नहीं हो पाया है, उसके लिये विभिन्न परिस्थितियों के प्रति अभियोजन कठिन हो जाता है।

किशोरावस्था में शारीरिक विकास

शैशवावस्था से लेकर बाल्यावस्था तक विकास का एक क्रम रहता है और बच्चों में काफी शारीरिक परिवर्तन दीख पड़ते हैं। इसके बाद वे ऐसी अवस्था में आते है जिसे पूर्व किशोरावस्था (Pre-adolescence) कहा जाता है। इस अवस्था में विकास की गति मंद रहती है। इसलिये विकास की इस अवस्था को गतिरोध अवस्था (Negative phase) भी कहते हैं। इस अवस्था में बच्चे अपने-आप में सीमित होना चाहते हैं तथा उन्हें जीवन में विशेष अभिरुचि नहीं मिलती। यह अवस्था बहुत कम दिन तक रहती है और १३ वर्ष की आयु के लगभग खत्म हो जाती है।

ठीक इसके बाद जीवन में आमूल परिवर्तन होता है। वस्तुतः किशोरा-वस्था का पदार्पण हो जाता है और शारीरिक विकास की गति बड़ी तीव्र हो जाती है। इस अवस्था में शारीरिक परिवर्तनों को हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। शरीर के आंतरिक भागों में भी स्नायु तथा पिंडों (glands) की क्रियात्मक जटिलता बढ़ जाती है। इन विभिन्न अवयवों के क्रियात्मक परिणामों का प्रभाव किशोरों के मानसिक तथा सांवेगिक पक्ष में इतने प्रबल रूप में पड़ता है कि उनमें स्थिरता नहीं रह जाती और तरह-तरह के वातावरण में अभियोजन करने में उन्हें कठिनाई होती है।

किशोरावस्था में शारीरिक परिवर्तन के कारण

प्रश्न उठता है कि इस अवस्था में एकाएक परिवर्तन तथा विकास का मूल कारण क्या है ?

यह परिवर्तन अंत: स्रावी पिंडों की सक्रियता के कारण होता है। शरीर में अनेकों पिंड (glands) हैं, जिनसे एक प्रकार का तरल पदार्थ निकलता है जिसे हॉरमन (Hormones) कहते हैं। इनमें मुख्यत: पिटीचुरी पिंड (Pituitery gland) तथा यौन-पिंड (Sex gland) का जिक्र हम यहाँ करेंगे जो शारीरिक परिवर्तन के कारण इस अवस्था में माने जाते हैं।

पिटीचुरी पिंड के दो भाग होते हैं। एक है आन्तरिक भाग (Anterior lobe) और दूसरा है बाह्य-भाग (Posterior lobe)। आंतरिक भाग का क्रियात्मक प्रभाव हड्डी तथा मांसपेशियों पर पड़ता है। इसकी उचित क्रियात्मकता में कमी रहने पर शरीर का समुचित विकास नहीं हो सकता। फलत: व्यक्ति बौना या नाटे कद का ही रह जाता है। अगर यह पिंड आवश्यकता से अधिक सक्रिय हो जाता है, तो इतनी अधिक शारीरिक वृद्धि होती है कि व्यक्ति का शारीरिक विकास अस्वाभाविक रूप से वृहद् हो जाता है। पिटीचुरी के बाह्य भाग का सम्बन्ध यौन-पिंड से रहता है। पिटीचुरी पिंड सभी पिंडों से अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है; क्योंकि यह सभी पिंडों की क्रिया को प्रभावित करता है। यहाँ तक कि जीवों की प्रजनन-शक्ति पर भी अपना प्रभाव डालता है। अगर यह पिंड उक्त अवस्था में अल्प रूप में सक्रिय रहा, तो पूर्ण पुरुषत्व या स्त्रीत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। दूसरी ओर, इस पिंड की अत्यधिक सक्रियता के फलस्वरूप उचित अवस्था के पूर्व ही शारीरिक विकास तथा यौन-विकास हो जाता है।

पिटीचुरी पिंड के प्रभाव के अतिरिक्त यौन-पिंड का भी अपना विशेष महत्त्व है। यौन-पिंड भी समान रूप से तरल पदार्थ उत्पन्न करता है जिसे हॉरमन कहते हैं। पिटीचुटेरी पिंड के बाह्य भाग के सक्रिय होने के फलस्वरूप यौन-पिंड भी सक्रिय हो जाता है और प्रचुर मात्रा में यौन हॉरमन (Sex Hormone) उत्पन्न करता है जो व्यक्ति के यौन-विकास को प्रभावित करता है।

शारीरिक विकास में हॉरमन का प्रभाव

अंतःस्रावी पिंडों से निकले हॉरमन का प्रभाव लड़के और लड़कियों पर स्वतंत्र रूप से पड़ता है। यह प्रभाव उनके शारीरिक तथा मानसिक दोनों पक्षों पर पड़ता है। ये हॉरमन यद्यपि एक ही तरह से उत्पन्न होते हैं, फिर भी पुरुष और नारी दोनों जातियों (sexes) पर अलग-अलग प्रभाव डालते हैं।

पुरुष के शरीर में जो हॉरमन उत्पन्न होता है उसे पुरुष-हॉरमन (Male Hormone) तथा नारी के शरीर में उत्पन्न होने वाले हॉरमन को स्त्री-हारमन (Ovarian Hormone) कहते हैं।

स्त्री-हारमन किशोरियों के वक्षःस्थल के पिंड (Memory gland) को प्रभावित करता है। यह मांस-पिंड प्रारंभ में अत्यन्त कठोर रहता है। इस हॉरमन के प्रभाव के फलस्वरूप यह धीरे-धीरे विकसित होता है तथा सुपुष्ट और सुडौल रूप में आकार धारण कर लेता है। किशोरियों में परवर्ती यौन-विकास के परिवर्तन में यह सर्वप्रथम आता है। जिन किशोरियों में हॉरमन अधिक मात्रा में आता है, उनके वक्षःस्थल भी बड़े-बड़े हो जाते हैं। गर्भाधान के बाद स्त्रियों में प्रचुर मात्रा में हॉरमान उत्पन्न होता हैं, क्योंकि, नवागंतुक शिशु के लिए प्राकृतिक रूप से उसकी आवश्यकता होती है।

गर्भाशय तथा उससे सम्बद्ध फैलोपियन ट्यूब (Fallopian tube) भी स्त्री-हॉरमन से काफी मात्रा में प्रभावित होते हैं। इन्हीं पिंडों की सक्रियता और हारमन के पूर्ण प्रभाव के फलस्वरूप लड़कियाँ रजस्वला भी होती है। कहा जा सकता है कि विभिन्न प्रकार के परवर्ती यौन-परिवर्तन में इसका प्रत्यक्ष प्रभाव रहता है और जिससे स्त्रियोचित विशेषतायें प्रगट होती हैं।

पुरुष-हॉरमन (Male Hormone) किशोरों की जननेन्द्रिय को उत्तेजित करता है तथा उससे सम्बद्ध सभी अवयवों को प्रभावित करता है। पुरुषेन्द्रिय भी स्वाभाविक रूप से बड़ी हो जाती है। इस हॉरमन के प्रभाव के फलस्वरूप किशोर पुरुषतत्व की प्राप्ति करता है। पुरुष-हॉरमन का प्रभाव बाल-पिंड (Hair gland) पर भी पड़ता है। फलतः मूँछ की रेखा दिखाई पड़ने लगती है और गाल पर पतले-पतले कोमल बाल हल्का काला रंग लिये उग आते हैं।

इन हॉरमन का प्रभाव इतना अधिक पड़ता है कि अगर बालिका को स्त्री-हॉरमन (Ovarian Hormone) सुई द्वारा उसके शरीर में प्रविष्ट किया जाय तो उसमें परवर्ती यौन विशेषतायें स्पष्ट रूप में प्रगट हो जाती हैं। उसका स्वभाव तथा व्यवहार भी एक स्त्री की तरह हो जाता है। अगर हॉरमन के इस प्रभाव को प्रारंभ में ही नियंत्रित कर दिया जाय, तो किशोरियाँ स्त्रीत्व प्राप्त नहीं कर सकती। इसलिये इन पिंडो को जीवन-विकास का प्रतिमान-पिंड (Glands

of Destiny) कहा गया है। अमेरिका की एक परीक्षण-शाला (Laboratory) में देखा गया कि एक लड़की ३ वर्ष ६ महीने की आयु में ही स्त्रीत्व प्राप्त कर चुकी थी। उसकी ऊँचाई केवल ३ फीट थी और वजन ५० पौंड। इसी अवस्था में वह रजस्वला भी हो गई और उसके वक्षःस्थल भी पूर्णरूपेण उभर चुके थे। इसका कारण देखने से स्पष्ट हो जायगा कि हॉरमन का प्रभाव कितने गहरे तौर से पड़ता है। इस लड़की का अंतःस्रावी पिंड इतना सक्रिय रहा होगा कि हॉरमन अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न होता होगा। यद्यपि ऐसा सामान्यतः नहीं पाया जाता, अपवाद के रूप में होता है। इन पिंडों की क्रिया सदैव एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती है। एक के क्रियात्मक होने से दूसरे पिंड भी सक्रिय हो जाते हैं। हम जान चुके हैं कि पिटीचुरी पिंड के बाह्यभाग के सक्रिय होने से यौन-पिंड (Sex gland) भी सक्रिय हो जाता है और बाद में पिटीचुरी पिंड की क्रियात्मकता धीमी हो जाती है। इसके फलस्वरूप शारीरिक विकास अवरुद्ध हो जाता है और यौन-विकास काफी तीव्र गति से होने लगता है। देखा जाता है कि बहुत-सी लड़कियाँ उचित आयु के पहले ही रजस्वला हो जाती हैं और ११-१२ वर्ष तक में उनके वक्षःस्थल काफी सुपुष्ट हो जाते हैं। दूसरी ओर, कुछ लड़कियाँ काफी देर से रजस्वला होती हैं और १५-१६ वर्ष की आयु तक भी अविकसित ही रहती हैं।

शारीरिक विकास में वैयक्तिक भिन्नता

सभी व्यक्तियों का शारीरिक विकास समान रूप में नहीं होता। शरीर के विभिन्न भागों या अवयवों (limbs) का बढ़ना या विस्तृत होना भी सबों में एक समान नहीं देखा जाता। प्रायः अधिकांश व्यक्तियों में शारीरिक विकास सामान्य ढंग से होता है, लेकिन, कुछ व्यक्तियों में उचित आयु में भी सामान्य शारीरिक विकास नहीं देखा जाता। उनके शरीर के किसी भाग में अधिक वृद्धि तथा दूसरे भाग में अल्प-वृद्धि होने के कारण पूर्ण व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। इस सिलसिले में उनकी ऊँचाई तथा उनका वजन भी उचित अनुपात (ratio) में नहीं होता। पुरुषोचित तथा स्त्रियोचित सामान्य विकास की पूर्णता के लिये यह नियम महत्त्वपूर्ण है। किशोरावस्था में इस शारीरिक विकास की एकरूपता (Uniformity) की कमी के फलस्वरूप व्यक्ति के संतुलित जीवन में काफी खतरा रहता है। कारण, यह परिवर्तन एकाएक ही होता है; धीरे-धीरे नहीं। इन पिंडों की सक्रियता तथा जननेन्द्रिय में आकस्मिक परिवर्तन के कारण विभिन्न मात्राओं में सांवेगिक अस्थिरता आ जाती है।

कुछ लड़के-लड़कियों में इतनी तीव्रता से शारीरिक वृद्धि होती है कि किशोरावस्था में उनके केन्द्रीय-स्नायु तथा स्थानीय स्नायु (Central & perepheral nerves) इस भार को सम्हालने में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं। फलतः विभिन्न प्रकार के लक्षण (Sympotms) शरीर में प्रगट हो जाते हैं। शारीरिक अवयवों तथा अंगों के कार्य में सहयोग की कमी आ जाती हैं। इस आकस्मिक शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन के फलस्वरूप किशोर-किशोरियाँ अन्य समानायु-व्यक्ति की तुलना में अपना-अपना शारीरिक महत्त्व समझने की चेष्टा करने लगती है। किशोरियों में काफी अंतर (difference) आ जाता है; क्योंकि सभी लड़कियाँ एक ही आयु में रजस्वला नहीं हो जातीं। किशोरों में भी समान रूप में शारीरिक परिवर्तन नहीं हो पाता। फिर भी, अधिकांशतः विकास-क्रम में सामान्य शारीरिक परिवर्तन एक ही नियम के अनुकूल होते हैं।

शारीरिक विकास में असामान्यता

किशोर-किशोरियों में जातिगत विकास अथवा शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन सदैव अनुकूल ही नहीं होते। इस सिलसिले में कुछ अस्वाभाविकता या असामान्यता देखी जाती है। कभी-कभी पुरुषत्त्व के चिन्ह (sign) किशोरियों में प्रगट हो जाते हैं—जैसे, मूँछ और दाढ़ी का निकल आना। फिर, स्त्रीत्व के चिन्ह भी किशोरों में दिखाई पड़ते हैं, जैसे, वक्षःस्थल का उभड़ जाना तथा मूँछ दाढ़ी का प्रगट न होना आदि। किशोरों में अगर ऐसी बातें हैं, तो उनकी व्यग्रता किशोरियों की अपेक्षा अधिक बढ़ जाती है। जिन किशोरों में पुरुषत्व की विशेषताओं का अभाव रहता है और अस्वाभाविक परिवर्तन हो जाते हैं, वे प्रायः लजालु तथा शांत हो जाते हैं और अंत में दुःखी हो जाते हैं। किशोरियों की जीवन-शैली में भी इस अस्वाभाविक विकास के फलस्वरूप काफी असामान्यतायें देखी जाती हैं।

—o—

अध्याय ५

ज्ञानात्मक विकास

(SENSORY DEVELOPMENT)

१. ज्ञानात्मक विकास (Sensory Development)

वस्तुतः, वाह्यजगत् व्यक्ति के शरीर को उसकी ज्ञानेन्द्रियों (Sense organs) के माध्यम से ही प्रभावित करता है। बाहरी दुनिया के साथ अभियोजन (adjustment) स्थापित करने में इन ज्ञानेन्द्रियों का काफी महत्व है। आँख, कान, नाक, जीभ तथा त्वचा आदि ज्ञानेन्द्रियाँ है, जो प्रतिदिन के जीवन में भौतिक जगत के साथ अभियोजन करने में सहायक होती है। प्रायः इनमें आँख और कान ज्ञानेन्द्रियाँ मनोवैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित कर सकी है; क्योंकि ये दोनों अभियोजन के दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण है। अतः, इन दोनों का अध्ययन भी विशेष रूप से किया गया है। जीवन के प्रारम्भिक काल से ही, इन ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से व्यक्ति, बाहरी वातावरण से प्रभावित होता रहता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इन ज्ञानेन्द्रियों का विकास जन्म के पहले ही हो जाता है और जन्म के बाद नवजात शिशुओं में प्रकाश (Light) के प्रति प्रतिक्रिया भी देखी जाती है। यहाँ यह अध्ययन किया

जाना अपेक्षित है कि शैशव काल से ही बच्चों को ज्ञानात्मक विकास किस प्रकार होता है और किस प्रकार विभिन्न उत्तेजनाओं के प्रति वे प्रतिक्रिया प्रगट करते हैं। इतना तो निश्चित है कि यदि ज्ञानेन्द्रिय विशेष में किसी प्रकार का दोष हो, तो उसके लिये उपयुक्त उत्तेजना उसे सामान्य तौर पर प्रभावित नहीं कर सकती। फलतः, उस पक्ष से उसका मानसिक विकास उचित रूप में नहीं हो सकता। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय उपयुक्त (adequate) उत्तेजना के द्वारा उत्तेजित होती है और व्यक्ति प्रभावित होता है। क्रमशः व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार उस वातावरण के सम्पर्क में अभियोजन (adjustment) स्थापित कर लेता है।

२. प्रकाश के प्रति प्रतिक्रियायें

जन्म के बाद दृष्टि के विकास पर काफी अध्ययन किया गया है। अतः, विभिन्न प्रकार की दृष्टि-प्रक्रियाओं (Visual processes) का उल्लेख अपेक्षित है। देखा गया है कि नवजात शिशु (neonate) प्रकाश के प्रति कुछ अंशों में संवेदनशील (Sensitive) होते हैं। *शरमन तथा शरमन* (*Sherman and Sherman*) ने जन्मकाल से लेकर पंद्रह दिन की आयु तक के शिशुओं पर अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि प्रकाश के प्रति नवजात शिशुओं की आँखों में किसी प्रकार प्रतिक्रिया नहीं हुई। वे एकदम प्रकाश की ओर देखते रहे। लगभग तीन घंटों के बाद उनकी आँखों की पुतली में संकुचन (Contraction) देखा गया। यह पुतली का संकुचन क्रमशः बढ़ता जाता है और तीस घंटों के लगभग बड़ी शीघ्रता से पुतली की प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया को आँख की पुतली की सहज क्रिया (Pupillary reflex) कहते हैं। यह भी देखा गया कि इसके बाद प्रकाश की तीव्रता में क्रमशः कमी करने के बाद भी यह प्रतिक्रिया होती रही। जन्म के बाद एक दूसरी प्रकार की भी प्रतिक्रिया शिशुओं में देखी गई। आँखों से प्रकाश पड़ने पर उनमें चौंकने की प्रतिक्रिया (Startle reactions) होती है, जिसमें आँख की दोनों पलकें (eyelids) बंद हो जाती हैं। वस्तुतः, दृष्टि प्रतिक्रियायें (visual reactions) उत्तेजना की तीव्रता (intensity) तथा सत्ताकाल (duration) पर निर्भर करती हैं।

३. आँखों की गतियाँ

यद्यपि प्रकाश की ओर जन्म के शीघ्र बाद ही शिशु आँखें स्थिर रख लेते हैं, लेकिन यह स्थिरता (fixation) उत्तम ढंग से नहीं

होती। दो या तीन दिनों के लगभग शिशु अच्छी तरह अपनी आँखों को स्थिर कर सकते हैं। इसके बाद ही वे किसी वस्तु पर अपनी दृष्टि स्थिर कर पाते हैं। इस सिलसिले में *गेसेल तथा टॉम्सन* (Gessel & Thompson) का मत है कि चार सप्ताह की आयु के लगभग ही शिशु किसी वस्तु पर अपनी दृष्टि स्थिर कर सकने की क्षमता प्राप्त करते हैं। जहाँ तक वस्तु के साथ-साथ दृष्टि घुमाने अथवा आँखों की गति (eye-movement) का प्रश्न है, *मैक-गिनीज* (Mc Ginnis) ने काफी नियंत्रित अवस्था से शिशुओं पर अध्ययन किया है। उन्होंने देखा कि यद्यपि आँखों की गति (eye-movement) प्रथम सप्ताह में भी देखी जाती है, लेकिन वह आंशिक रूप से ही होती है। प्रायः तीन या चार सप्ताह के लगभग ही उचित रूप से वस्तु के साथ-साथ आँख की गति होती है। व्यक्ति की गतियों के साथ-साथ आँख की गति लगभग आठ सप्ताह में हो पाती है। चेज (Chase, 1937) के मतानुसार पंद्रह दिनों के शिशुओं ने सभी रंगों (colours) के प्रति आँख की गति प्रदर्शित की।

४. रंगों के प्रति प्रतिक्रिया

अल्पायु बच्चे रंगों के प्रति काफी रुचि दिखाते हैं और उनके नाम लेते हैं। कुक (Cook, 1931) ने अध्ययन किया कि दो वर्ष की आयु में केवल २५% ही ठीक-ठीक उत्तर प्रारंभिक रंगों को पहचानने में मिल सके। छह वर्ष की आयु में यह प्रतिपन्नता (accuracy) ७२% थी। सात वर्ष की आयु में लगभग ९७% सही रूप में रंगों के नाम वे ले सके। *सीनोल्ड्स तथा प्रौंको* (Synolds & Pronko, 1949) ने बतलाया कि पाँच वर्ष की आयु में बिना कठिनाई के बच्चे सभी प्रकार के रंगों को किसी भी पृष्ठभूमि (Back-ground) पर पहचान कर निकाल लेते हैं। अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि अंधकार के प्रति बच्चे अधिक संवेदनशील (sensitive) नहीं होते। हंट (Hunt, 1941) ने नौ वर्ष से लेकर पंद्रह वर्ष की आयु के व्यक्तियों पर अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि व्यस्कों (adults) की अपेक्षा ये बच्चे अंधकार के प्रति कम संवेदनशील थे।

५. श्रवण-संवेदना

उन्नीसवीं शताब्दी से ही शिशुओं के सुनने की प्रतिक्रियाओं का काफी अध्ययन किया गया है। शिशुओं में श्रवण-प्रतिक्रिया (auditory reac-

tions) उत्पन्न करने के लिये घंटो (bell), बाजा (whistle) भोंपू (horn) तथा ट्यूनिंग फौर्क (tuning fork) आदि उत्तेजनाओं का प्रयोग किया गया। शिशुओं की श्रवण-संवेदनशीलता (auditory sensitivity) के सिलसिले में उनकी शारीरिक गति, चिल्लाना (screaming), नींद टूट जाना, श्वाँस की गति में परिवर्तन आदि निरीक्षण किये गये। पहले कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत था कि नवजात शिशु आवाज के प्रति किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करते। लेकिन, आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि नवजात शिशुओं में भी प्रतिक्रियायें देखी जाती है, बशर्ते उत्तेजना काफी तीव्र (intense) तथा आकस्मिक (sudden) हो। काफी जोर की आवाज (loud sound) के प्रति वे संवेदनशील हो जाते हैं।

पीटरसन तथा रेनी (Peterson & Rainey) ने निरीक्षण किया कि अड़नालिन शिशुओं को जब खड़खड़हट (rattles) की आवाज दी गई, तो इसके प्रति जन्म के बाद एक घंटा के अंदर की आयु के केवल ग्यारह शिशु, दो घंटे के अंदर सोलह शिशु तथा तीन घंटे के अंदर तेईस शिशुओं ने प्रतिक्रिया प्रगट की। *प्राट्* (Pratt, 1930) ने भी बड़ी सावधानी से उनसठ शिशुओं पर, जिनकी आयु जन्म से लेकर पंद्रह दिन थी, अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि जन्म के बाद शिशुओं की प्रतिक्रियाओं की मात्रा (amount) में क्रमशः उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ है कि शिशुओं में मनुष्य की आवाज की अपेक्षा कोलाहल (noise) के प्रति अधिकाधिक (greater) तथा बारम्बार (frequently) प्रतिक्रियायें होती हैं। चार सप्ताह के बाद ही मनुष्य की आवाज के प्रति उनमें प्रतिक्रियायें हो पाती हैं।

६. स्वाद-संवेदना (Taste)

मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चलता है कि स्वाद के यंत्र (taste mechanism) का विकास जन्म के पूर्व ही हो जाता है। किन्तु, जन्म के बाद ही जीभ के ग्राहक (receptors) उपयुक्त रूप से उत्तेजित हो सकते हैं। शिशुओं की स्वाद-संवेदशीलता (taste sensitivity) पर काफी अध्ययन किया जा चुका है। *पीटरसन तथा रेनी* (Peterson & Rainey) ने एक हजार नवजात शिशुओं पर विभिन्न उत्तेजनाओं के साथ प्रयोग किया। प्रथम सप्ताह के अन्तर्गत आठ सौ शिशुओं ने नमकीन, मीठे, खट्टे तथा कड़वी उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रियायें प्रगट कीं।

दो सौ शिशुओं में दूसरे सप्ताह में प्रतिक्रियायें देखी गईं। नमकीन तथा मीठे के प्रति सुखद और खट्टा तथा कड़वे के प्रति असुखद (discomfort) अनुभूति की अधिकता हुई। *प्राट्* (Pratt, 1930) ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया कि नवजात शिशुओं में स्वाद का विकास अच्छी तरह नहीं हुआ रहता है। आयु-वृद्धि के फलस्वरूप उनमें काफी शीघ्रता से स्वाद-विकास (taste development) में परिवर्त्तन होता है। अतः, मीठे के प्रति सुखद और कड़वे के प्रति असुखद प्रतिक्रियायें होती है।

७. घ्राण-संवेदना (olfactoy)

नवजात शिशुओं में घ्राण-संवेदनशीलता (olfactory sensitivity) का अध्ययन *प्राट्* (Pratt,1930) ने काफी नियंत्रित अवस्था में किया। उन्होंने जन्म से लेकर इक्कीस दिन तक के अड़तालिस नवजात शिशुओं पर अध्ययन किया। उत्तेजना के रूप में अमोनिया (ammonia) एसिटिक एसीड (acetic acid) तथा अन्यान्य चीजों का प्रयोग किया गया। *प्राट्* इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जन्म के समय शिशुओं में सूँघने की क्षमता का विकास बहुत कम ही हुआ रहता है। ये नवजात शिशु वयस्कों की तरह गंध के प्रति घ्राण-प्रतिक्रिया प्रगट नहीं करते। नवजात शिशुओं की सूँघने की क्रिया का दूसरा महत्त्वपूर्ण अध्ययन *डीशर* (Disher, 1934) ने किया है। *डीशर* ने भी प्राट् की अध्ययन-विधि को अपनाया और साथ-साथ चलचित्र के द्वारा (Motion picture) प्रतिक्रियाओं का छाया चित्र भी लिया। उन्होंने जन्म के बाद तीन घंटे से लेकर छः दिन तक के शिशुओं का अध्ययन किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ये शिशु गंधपूर्ण उत्तेजना (odorous stimuli) के प्रति अन्य उत्तेजना की अपेक्षा प्रतिक्रियाओं में परिवर्त्तन का निरीक्षण नहीं किया गया। यह भी पता लगा कि अलग अलग गंध-सम्बन्धी उत्तेजनाओं के प्रति अलग-अलग प्रतिक्रियायें स्पष्ट नहीं थीं।

अध्याय ६

क्रियात्मक विकास

MOTOR DEVELOPMENT

१. क्रियात्मक विकास (Motor Development)

नवजात शिशु प्रायः लेटा ही रहता है या गोद में रहता है। उसमें गतियाँ (movements) कम देखी जाती हैं। क्रमशः उसमें क्रियात्मक विकास होता जाता है और वह बैठने, घुड़कने तथा चलने-फिरने लगता है। जब वह चलने योग्य हो जाता है, तब एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाया करता है और घर के बाहर इर्द-गिर्द भी घूमने निकल जाता है। फिर खेलने में उसकी रुचि बढ़ने लगती है और वह अन्य बच्चों के साथ सक्रिय खेलों में भाग लेना शुरू कर देता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के प्रति वह अभियोजन (adjustments) की क्षमता प्राप्त करता है। सभी प्रकार की शारीरिक क्रियायें वस्तुतः बच्चों के क्रियात्मक विकास पर ही निर्भर करती हैं। यह केवल बाल्यावस्था तक ही सीमित रूप में महत्वपूर्ण नहीं, बल्कि वयस्क जीवन से लेकर मृत्युपर्यन्त क्रियात्मक विकास का महत्व रहता है। किसी प्रकार के कार्य के लिये क्रियात्मक कुशलता (motor skills) आवश्यक है। इसके

अतिरिक्त, अवकाश के क्षणों में भी किसी-न-किसी प्रकार की क्रियायें (activities) होती ही रहती हैं।

२. बच्चों का प्रारम्भिक क्रियात्मक विकास

शिशुओं में सामान्यतः तीन प्रकार की क्रियात्मक प्रतिक्रियायें (motor responses) देखी जाती है। प्रथम, अनियमित क्रिया (random activities) है, जिसमें प्राणी (organism) सम्पूर्ण रूप में क्रियाशील रहता है। इस प्रकार की क्रिया को सामान्यित क्रिया (generalized activities) भी कहते हैं। नवजात शिशु में यह क्रिया वर्त्तमान रहती है। दूसरी तरह की क्रिया पहली के विपरीत होती है। यह विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया (specific responses) है जो आन्तरिक (internal) तथा वाह्य (external) उत्तेजना द्वारा होती है। उदाहरण के लिये, भूख लगने पर चूसने की सहज क्रिया (sucking reflex) होती है। फिर, नवजात शिशु के पैर के तलवे को सहलाने से भी उसमें प्रतिक्रिया देखी जाती है। पैर का अंगूठा गतिशील हो जाता है और पीछे की ओर झुक जाता है। इस प्रतिक्रिया को *बेबिन्सकी सहज क्रिया* (Babinski Reflex) कहा जाता है। तीसरा, जटिल व्यवहार प्रतिकृति का (complex behaviour pattern) भी शिशुओं में निरीक्षण किया गया है। इस प्रतिक्रिया में कई सहज क्रियाओं का समन्वय (coordination) रहता है। उदाहरण के लिये, शिशुओं की चौंकने की प्रतिक्रिया, (startle response) जोर की आवाज के फलस्वरूप होती है। इस अवस्था में शिशुओं के हाथों का अलग हो जाना, सिर पीछे हटना, अंगुलियों का फैल जाना तथा पैर आगे की ओर बढ़ाना आदि देखे जाते हैं।

यह विवादग्रस्त विषय है कि ये सहज प्रतिक्रियायें (reflexes) सामान्यित प्रतिक्रिया (generalized responses) से भिन्न है अथवा ये प्रारम्भिक प्रतिक्रियायें है जो बाद में एक-दूसरे से संबंधित हो कर जटिल व्यवहार प्रतिकृति के रूप में प्रगट होती है। इस प्रश्न के उत्तर के सिलसिले में कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि कुछ प्रतिक्रियाओं (certain responses) की उत्पत्ति एक ढंग से होती हैं और दूसरी प्रतिक्रिया की दूसरे ढंग से।

जन्म के बाद क्रियात्मक विकास के सिलसिले में अध्ययन किया गया है कि प्रायः शिशुओं में सामान्यित प्रतिक्रिया (generalized responses)

के बाद ही विशेष प्रकार की क्रियायें (specific activities) होती हैं। इसके कई प्रमाण दिये जा सकते हैं। जैसे, जब शिशु किसी वस्तु को पकड़ना चाहता है तब हाथ, पैर तथा सम्पूर्ण शरीर का ही उपयोग करता है। कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण शरीर ही क्रियाशील हो उठता है। लेकिन, क्रियात्मक विकास के फलस्वरूप इस सामान्यित गति (generalized movement) के बदले केवल हाथ का ही उपयोग होता है और अँगूठे और अंगुलियों के सहारे वह वस्तु को पकड़ लेता है। इसी प्रकार प्रारम्भ में जब बच्चा चलना सीखता है, तब केवल पैर में ही गति नहीं होती, बल्कि हाथ भी गतिशील हो जाता है और साथ-ही-साथ पैर को काफी ऊँचा उठाकर वह नीचे रखने की चेष्टा करता है। ये सभी अनावश्यक गतियाँ व्यर्थ (useless) नहीं होतीं। प्रारम्भिक चेष्टा में ये गतियाँ महत्वपूर्ण होती हैं। धीरे-धीरे, बाद में ये अनावश्यक गतियाँ विलीन हो जाती हैं।

३. गेसेल (Gesell) के क्रियात्मक विकास का अध्ययन

अल्पायु बच्चों के विभिन्न प्रकार की क्रियात्मक प्रतिक्रियाओं का (motor responses) तथा किस आयु में कौन-सी प्रतिक्रिया होती है, आदि का अध्ययन किया गया है। इस तरह के अध्ययन में अन्वेषकों द्वारा पर्याप्त सामग्री प्राप्त है, जिसका उपयोग माँ-बाप तथा बाल-कल्याण-सम्बन्धी व्यक्ति करते हैं। गेसेल (Gesell) का अध्ययन काफी महत्वपूर्ण है। उसके द्वारा प्रस्तुत अल्पायु बच्चों के क्रियात्मक विकास के प्रतिमान (norms) का उल्लेख हम यहाँ करेंगे।

एक महीना

कंधा पकड़ने पर शिशु कभी-कभी सिर को उठाने की चेष्टा करता है। लेटे रहने पर उसके हाथ-पैर गतिशील रहते है। सीधा लिटा देने पर वह बगल की ओर सिर घुमाने की कोशिश करता है।

छह महीना

बिना सहारे के वह कुछ क्षणों तक बैठ सकता है। सभी अंगुलियों के सहारे किसी वस्तु को पकड़ने की चेष्टा करता है। एक हाथ में किसी एक ही छोटी वस्तु को रख सकता है।

एक वर्ष

सहारा पाकर चल सकता है। खड़े होने के बाद झुकना तथा बैठना उसके लिये सम्भव होता है। पेंसिल अथवा रंगने की कोई वस्तु (Crayon) को उचित रूप से पकड़ कर लकीरें खींच सकता है।

डेढ़ वर्ष

वह सीढ़ी तथा कुर्सी पर चढ़ सकता है। गेंद को टोकरी अथवा बक्स में फेंकने में समर्थ होता है। वह स्वाभाविक ढंग से काफी उत्साहपूर्वक लिखता है, यद्यपि उसकी लिखावट अस्पष्ट (scribbles) होती है।

ढाई वर्ष

वह अकेला ही सीढ़ी पर चढ़-उतर सकता है। सात-आठ काठ के छोटे-छोटे टुकड़ों को सुन्दर ढंग से एक पर दूसरे को रख सकता है। वह एक पैर पर खड़ा होने की चेष्टा करता है और रेखाओं का अनुकरण भी करता है।

गेसेल द्वारा यह अध्ययन काफी महत्त्वपूर्ण है, जो किसी भी सामान्य बच्चे के क्रियात्मक विकास के लिये आदर्शनिर्धारक (Normative) माना जाता है।

४. हस्त-कौशल का विकास (Development of Manual skill)

शिशुओं में वस्तुओं के करीब हाथ फैलाने तथा उसे पकड़ने (handling) की गति देखी जाती है। ये गतियाँ जटिल होती है और बड़ी शीघ्रता (rapid) से होती है। इसके अध्ययन के लिये चलचित्र ही उपयोगी होता है। *हालवर्सन* (Halverson) ने येल चिकित्सालय (Yale Clinic) में जन्म से लेकर एक वर्ष की आयु से अधिक तक के शिशुओं की वस्तु तक पहुँचने (reaching) तथा वस्तु पकड़ने (grasping) की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया है। इन शिशुओं को टेबुल पर रखा गया और उनके ध्यान को आकृष्ट करते हुए सामने एक काठ का टुकड़ा (Block) भी रखा गया। इसके बाद शिशुओं की विभिन्न गतियों अथवा प्रतिक्रियाओं का छाया चित्र (Photograph) लिया गया। *हालवर्सन* इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बीस सप्ताह की आयु के पहले वे ब्लॉक के सम्पर्क में नहीं आ पाते; चौबीस सप्ताह

में किसी प्रकार पकड़ में आता (corralled) है; अट्ठाइस सप्ताह में पंजे के सहारे ब्लॉक को पकड़ता है और अँगूठा अथवा अंगुलियों के समानान्तर ही रहता है, जो बाद में अंगुलियों की विपरीत दिशा में चला जाता हैं। बत्तीस सप्ताह में केवल अंगुलियों और अंगूठे की मदद से बच्चा ब्लॉक को पकड़ता है। छत्तीस सप्ताह में अंगुलियां तथा अँगूठे का अग्रिम भाग ही प्रयोग में आता हैं और कई सप्ताह बाद ही वह उत्तम ढंग से ब्लाक को पकड़ सकता है। अन्त में, बावन सप्ताह की आयु में बिना टेबुल का सहारा लिये ही ब्लॉक को अच्छी तरह पकड़ लेता है।

हस्त-कौशल अथवा हस्त-क्रिया में निपुणता का एक महत्वपूर्ण अध्ययन *गुटरीज़* (Gutteridge) का है। उन्होंने देखा कि गेंद फेंकना तथा गेंद पकड़ना आदि जैसे हस्त-कौशल (manual skills), के व्यवहार में आँख, भुजा तथा हाथ की गतियों में समन्वय का होना आवश्यक होता है। *गुटरीज़* ने देखा कि तीन वर्ष की आयु के पहले बच्चों में ये क्रियायें नहीं हो पातीं। चार वर्ष के लगभग बहुत बच्चों ने गेंद फेंकने का अभ्यास किया, किंतु केवल २०% ही सफलतापूर्वक फेंक सके। पाँच वर्ष की आयु में ७५% और छह वर्ष में ८४% बच्चे ही सफल रहे। *गुटरीज़* ने बतलाया कि प्रारम्भ में गेंद फेंकने में पूर्ण शरीर ही क्रियाशील हो जाता है, फिर दोनों हाथों द्वारा फेंकने की क्रिया होती है और अंत में केवल एक हाथ से ही फेंकने की क्रिया सम्पन्न होती है।

५. खाने-पीने की क्रिया

खाने-पीने में भी हस्त-क्रिया में निपुणता (eating skill) काफी महत्त्वपूर्ण है। गेसेल (Gesell, 1940) के अध्ययन से स्पष्ट है कि अठारह महीने में बच्चा प्याली से पानी पी सकता है और खाली प्याली दूसरे को देने की चेष्टा में अगर नहीं पकड़ लिया जाता, तो गिरा देता है। चौबीस महीने में एक हाथ से ग्लास पकड़ कर पानी पी सकता है। छत्तीस महीने में सुराही अथवा घड़ा से पानी भी अच्छी तरह ले सकता है। खाने में भी पंद्रह महीने में बच्चा चम्मच तश्तरी में डाल लेता है और चम्मच मुँह में डालने के पहले उलट देने की सम्भावना रहती है। अठारह महीने में वह चम्मच भर लेता है और कठिनाई से मुँह डाल पाता है। चौबीस महीने में बिना उलटाये ही चम्मच मुँह में डाल लेता है। छत्तीस महीने में चम्मच से भोज्य-पदार्थ बहुत कम अंश में नीचे गिरता है।

६. पहनने की क्रिया

कपड़े पहनना तथा उतारना भी बच्चों के क्रियात्मक विकास पर निर्भर करता है। ३ वर्ष की आयु के पहले से ही बच्चे कपड़े खोलने में दिलचस्पी लेते हैं। लेकिन, ४ वर्ष के लगभग ही वे आसानी से पहने जाने वाले कपड़े पहन सकते हैं। यह विभिन्न प्रकार की पोशाक (dress) पर निर्भर करता है कि उनका पहनना कितना कठिन है अथवा सरल। उसी के मुताबिक बच्चों को कपड़े पहनने में सुविधा अथवा असुविधा होती है। बच्चे जूते की अपेक्षा मोजा आसानी से पहन लेते हैं।

७. लिखने की क्रिया

लिखने के लिये बच्चों के हाथ तथा अंगुलियों का परिपक्व होना अत्यावश्यक है। नवजात शिशु को हाथ पर नियंत्रण नहीं रहता। शारीरिक वृद्धि (physical growth) के फलस्वरूप धीरे-धीरे उसका परिपक्वीकरण होता जाता है और बच्चे वस्तुओं को पकड़ने लगते हैं। उसके बाद उनके लिखने की कुशलता (writing skill) के विकास में विभिन्न अनुक्रम (stages) होते हैं। २ वर्ष की आयु के पहले बच्चा केवल खींचने में समर्थ होता है। २ वर्ष के पूर्ण होने पर वह लम्बरूप में रेखा खींचने के अतिरिक्त सीधी रेखा भी खींचने लगता है। रेखा में क्रमबद्ध रूप से वक्रता भी देखी जाती है। ३-४ वर्ष के बीच अस्पष्ट रूप से अक्षर के समान वह कुछ लिखने का प्रयास करता है, जो पढ़ा नहीं जा सकता। ५ वर्ष की आयु में अक्षर-ज्ञान हो जाता है और एक वर्ष बाद वह लिखने भी लगता है। पाठशाला जाने के बाद लिखने का प्रशिक्षण (training) भी मिलने लगता है, जिसके फलस्वरूप काफी शीघ्रता से लिखने में बच्चे दक्षता प्राप्त कर लेते हैं। वे चित्र बनाने में भी ५ वें तथा ६ ठे वर्ष में काफी आनन्द पाते हैं। केवल अक्षर तथा अंक ही नहीं, बल्कि वे अंकों की गणना तथा गणित भी बनाने लगते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि सभी बच्चों में लिखने की तत्परता (writing readings) तथा दक्षता (skill) समान ढंग से नहीं प्राप्त होती। उनमें वैयक्तिक भिन्नता भी पायी जाती है। सामान्य भारतीय बच्चे ६ वर्ष की आयु में लगभग लिख सकते हैं तथा प्रारम्भिक स्तर के अंकगणित भी बनाने लगते हैं।

८. हस्त-क्रिया की गति का वेग (Speed of Hand movements)

आयु-वृद्धि के साथ-साथ हस्तकौशल भी बढ़ता जाता है और बच्चा अधिक सफलतापूर्वक काफी शीघ्रता से कोई कार्य हाथ से सम्पन्न कर लेता है। हाथ और आँख दोनों की क्रिया में समन्वय (Hand & eye coordination) स्थापित हो जाता है और काफी तीव्र गति से हस्त-क्रिया होती है। इस सिलसिले में मूर (Moor) का एक प्रयोग उल्लेखनीय है। मूर ने ६ से लेकर १६ वर्ष की आयु के ६०२ बच्चों पर वृहत रूप में अध्ययन किया। इन बच्चों को एक छिद्र में एक बार में एक ही गोली रखनी थी। इस तरह यह अध्ययन करना था कि ६६ गोलियाँ रखने में प्रत्येक व्यक्ति को कितना समय लगता था। देखा गया कि ६ वर्ष की आयु के बच्चों को औसत १६० सेकंड लगे, जबकि १६ वर्ष की आयु वालों को औसत केवल ६५ सेकंड ही लगे। अतः, आयु-वृद्धि का प्रभाव कार्य-कुशलता पर स्पष्ट दीखता है।

हस्तकौशल के विकास को स्वास्थ्य, प्रशिक्षण, शारीरिक स्थिति, भोजन, तथा वृद्धि प्रभावित करती है।

Development of Locomotor Behaviour

९. बच्चों का चलना-फिरना

बच्चों का चलना-फिरना उनके क्रियात्मक विकास पर निर्भर करता है। वे कब चलना (w[illegible]ng) प्रारम्भ करते हैं—इसमें वैयक्तिक भिन्नता है। वस्तुतः उनका च[illegible]न तत्वों (factors) द्वारा प्रभावित होता है, जिनमें स्वास्थ्य, ऊंचाई, शारीरिक अवस्था तथा यौन-भेद आदि मुख्य हैं। इस दिशा में काफी अध्ययन हो चुका है। देखा गया है कि कोई बच्चा १५ महीने के लगभग चलने लगता है। लेकिन, इसके पहले उन्हें कई अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। २ महीने का बच्चा अपना सिर थोड़ा ऊंचा उठा लेता है और कुछ देर तक उसी स्थिति में रह जाता है। ४ महीने में वह बैठने की चेष्टा करने लगता है, किंतु उसे सहारे (help) की आवश्यकता होती है। ७ महीने में बिना सहारा के कुछ समय तक बैठ सकता है। ८ महीने के लगभग सहारा पाकर खड़ा भी हो सकता है। १० महीने के लगभग वह दोनों हाथों तथा दोनों पैरों के बल घुड़कना (Creeping) प्रारम्भ कर देता है। १२ महीने

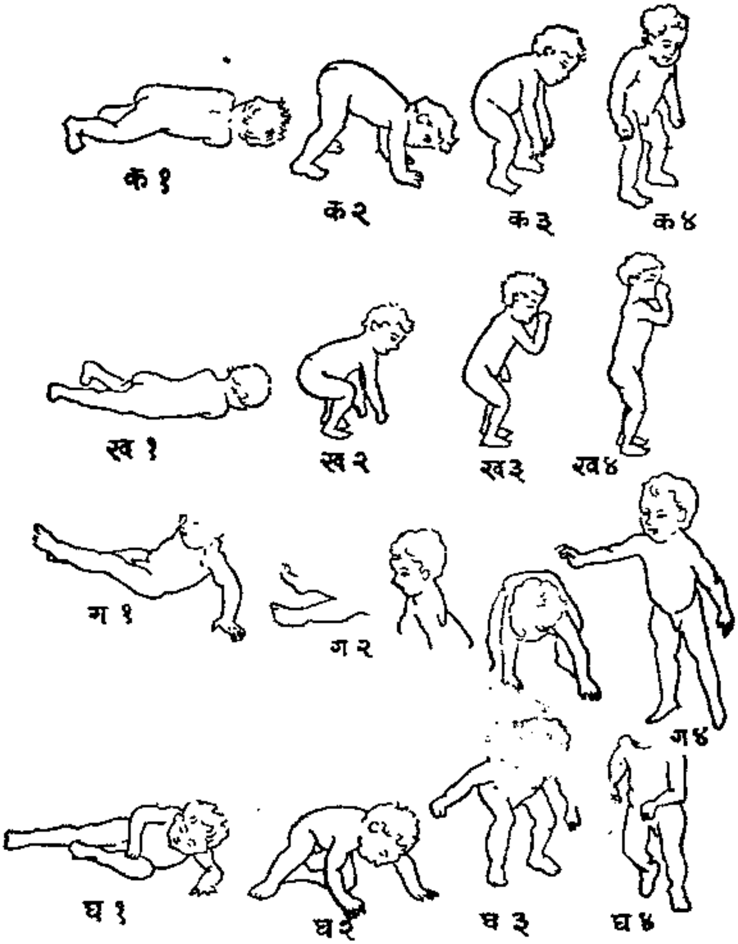

क्रियात्मक विकास
खड़े होने में विभिन्न विकासात्मक अवस्थायें

में बच्चा अकेला खड़ा होने लगता है तथा चलने के लिए पैर बढ़ाने की चेष्टा करता है। १५ महीने के लगभग बच्चा चलने के लिये पैर बढ़ाने लगता है। लेकिन, वैयक्तिक भिन्नता इतनी अधिक रहती है कि कुछ बच्चों को १० महीने के लगभग भी चलते हुए देखा गया है और फिर, कुछ बच्चे दो वर्ष की आयु तक भी नहीं चल सकते।

१०.

अतः, जब बच्चे चलना (walking) सीख लेते हैं, तब परिपक्वीकरण (maturation) तथा अभ्यास (practice) के फलस्वरूप उनमें अधिक जटिल क्रियात्मक व्यवहार प्रगट होने लगते है। प्रारम्भ में जितनी अनावश्यक (random) क्रियायें होती हैं, वे सभी धीरे-धीरे गायब हो जाती है। चलने-फिरने (loco moto) में बच्चों का संतुलन (balance) बढ़ता जाता है और वे लम्बे-लम्बे डेग (steps) भरने लगते है। काफी वेग (speed) से चलने तथा किसी खास दिशा की ओर जाने आदि में बच्चा पर्याप्त प्रगति प्राप्त कर लेता है। शरीर के विभिन्न अवयवों (limbs) में काफी अनुकूल सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जिससे बच्चों को दौड़ने तथा उछल-कूद करने में सुविधा होती है। इस सिलसिले में *गुटरीज* (Guttridge) का अध्ययन काफी महत्वपूर्ण है। *गुटरीज* ने २ वर्ष से लेकर ७ वर्ष की आयु तक के २,००० बच्चों के क्रियात्मक विकास का अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि ३ वर्ष के बच्चों में ४२% और ५ वर्ष की आयु में करीब ८१% बच्चे कूद (Jumping) सकते थे। २ वर्ष के बच्चे ऊपर से नीचे कूदना प्रारम्भ कर देते है; किसी चीज के इस पार से उस पार तक उछल कर कूदना ४ वर्ष के लगभग और लम्बी छलांग भरना ५ वर्ष की आयु में होती है।

३ वर्ष की आयु में ५०% बच्चे तथा ५ वर्ष की आयु में ९२% बच्चे सीढ़ी अथवा किसी ऊँचाई पर चढ़ने (climbing) में काफी दक्ष थे।

५ वर्ष की आयु के लगभग बच्चे अधिकांश क्रियात्मक दक्षता (motor skills) प्राप्त कर लेते हैं। इसके बाद, अध्ययन आरम्भ करने के समय में वे दौड़ने, उछल-कूद करने, छोटी साइकिल चलाने, गेंद फेंकने आदि में काफी अभ्यास कर चुकते हैं। क्रमशः अनावश्यक क्रियायें बिल्कुल गायब हो जाती हैं और

उचित प्रतिक्रियायें ही हो पाती हैं। उनकी विभिन्न क्रियायों में समन्वय (coordination) रहता है तथा किसी भी क्रिया का सम्पादन काफी वेग से हो पाता है। नई-नई परिस्थितियों के प्रति उनका अभियोजन (adjustment) भी सुगम हो जाता है। यहाँ भी यह ध्यान रखना है कि इस प्रकार के क्रियात्मक विकास में वैयक्तिक भिन्नता काफी देखी जाती है।

अध्याय ७

भाषा-विकास

(LANGUAGE DEVELOPMENT)

१. भाषा का महत्व

अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने में भाषा की आवश्यकता होती है। बिना भाषा के विचारों का आदान-प्रदान समान नहीं होता। चिंतन तथा तर्क (thinking & reasoning) के लिये भी भाषा आवश्यक है। बच्चों की मानसिक क्रियायें (mental activities) की जानकारी में भाषा सहायक होती है। इतना ही नहीं, वयस्क तथा बच्चे भी अगर कुछ कहना चाहते हैं, तो भाषा का सहारा लेना पड़ता है। हमलोग अपनी इच्छा तथा आवश्यकताओं को भाषा के द्वारा ही व्यक्त करते हैं। भाषा के माध्यम से ही हमलोग तरह-तरह के ज्ञान प्राप्त करते हैं। अतः, हमारे बौद्धिक विकास (Intellectual Development) में भाषा का काफी महत्व है। सामाजिक प्राणी होने के नाते हम बाल्यकाल से ही अन्य बच्चों तथा वयस्कों के सम्पर्क में आते हैं। ऐसे वातावरण में भाषा के द्वारा ही अपने विचारों को अन्य बच्चों से व्यक्त करते हैं तथा वयस्कों के विचारों को समझते हैं। फलतः हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है और इस तरह हम देखते हैं कि जीवन में भाषा का सामाजिक

(social) तथा शिक्षात्मक (educational) महत्व बहुत बड़ा है। यहाँ यह देखना है कि बाल्यावस्था से लेकर परिपक्वावस्था में भाषा-विकास कैसे होता है।

२. भाषा के लिये आवश्यक शारीरिक अवयव (organs)

आवाज के लिये शारीरिक आधार का समझना आवश्यक प्रतीत होता है। जब व्यक्ति कुछ बोलता है, तब उस समय शरीर के कई अवयव (organs) क्रियाशील हो जाते है। उनमें मुख्यतः मुँह (mouth), जीभ (tongue) कंठ (throat) तथा कंठनली (lyryux) उल्लेखनीय हैं। फेफड़ा (lungs) तथा स्वरतंत्री (vocal cards) की क्रिया भी आवश्यक है। इन सभी अवयवों के साथ नाक (nose) ओष्ठ (lips) तथा दाँत (teeth) की क्रियाओं का भी विशेष महत्व है। इन यंत्रों की उचित क्रिया के फलस्वरूप ही सुंदर ध्वनि निकल सकती है। भावों या विचारों की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से भाषा के माध्यम से ही सम्भव है। अगर ये सभी शारीरिक अवयव उचित रूप में क्रियाशील नहीं रहते तो बच्चे जो कुछ भी सोचते हैं या कहना चाहते हैं, व्यक्त करने में असमर्थ रहते। भाषा की अभिव्यक्ति के लिये इन आवश्यक अवयवों (organs) में से किसी में अगर विकार पैदा हो जाता है, तब उच्चारण में में कठिनाई हो जाती हैं। उदाहरण के लिये, जिसकी जीभ कट जाती है उसकी आवाज में अस्पष्टता ही नहीं देखी जाती, बल्कि वह बोलने में असमर्थ हो जाता है। फिर दंतहीन वृद्ध की आवाज में भी अस्पष्टता पायी जाती है। वस्तुतः भाषा के सामान्य विकास के लिये इन सभी अवयवों का उचित विकास (proper growth) तथा उचित क्रिया (proper function) आवश्यक है।

३. भाषा का सीखना

बच्चे कई तरह से भाषा सीखते हैं। उनका सम्पर्क परिवार के अन्य व्यक्तियों तथा समाज के अन्य बच्चों से होता है। परिपक्वीकरण के फलस्वरूप वे शब्दों का उच्चारण भी कर सकते हैं। सांकेतिक अर्थ को तो वे पहले से ही समझने लगते हैं। ये बच्चे अनुकरण के द्वारा, वस्तुओं के नामकरण के द्वारा तथा 'प्रयत्न और भूल' के द्वारा भाषा सीखते हैं। उनका वर्णन हम अलग-अलग करेंगे।

(क) अनुकरण करना (Imitation)

छोटे-छोटे बच्चे आवाज का अनुकरण करना सीखते है। ये बच्चे वयस्कों की आवाजों का अनुकरण करते है। इस तरह, शब्दों या आवाजों को सुनकर बच्चे अनुकरण करने की चेष्टा में उन्हें दुहराते है। अगर कोई व्यक्ति 'बा' कहता है, तो 'बा' शब्द-खंड का अनुकरण करता है।

बच्चे शब्द-खंड (syllables) से शब्द (word) सीखते है। उदाहरण के लिये, 'बा' 'बाबा', 'ना' से 'नाना' 'दु' से 'दुध' इत्यादि। शब्दों को सुनने के बाद अनुकरण करने की क्रिया में कहना पड़ता है। फिर, अपने शब्दों के उच्चारण को ही वह दुहराता है। इस क्रिया को 'कहने-सुनने' की प्रतिक्रिया ('hear-say' reaction) कहते हैं।

(ख) वस्तुओं का नामकरण (Naming the objects)

'कहने-सुनने' की प्रतिक्रयाओं के पश्चात शब्दों का सीखना प्रारंभ होता है। यह सीखना "सम्बन्ध-प्रत्यावर्तित प्रतिक्रियाओं (conditioned reaction) के द्वारा होता है। वस्तुतः बच्चों को कोई वस्तु दी जाती है और एक ही साथ (simultaneously) उसका नाम बताया जाता है। उस वस्तु का अर्थ समझा दिया जाता है। इस तरह, बच्चे किसी भी वस्तु का अर्थ समझ लेते है। इसके बाद समान परिस्थितियों में वस्तु देखकर नाम लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। स्पष्ट है कि सम्बन्ध-प्रत्यावर्तन (conditioned response) के द्वारा बच्चे वस्तुओं के नाम अथवा शब्द सीखते है। इस प्रक्रिया (process) से अवगत होने के बाद कोई भी शब्द (word) वस्तु (object) के बदले में उत्तेजना (substitute stimulus) बन जाता है और उसकी प्रतिक्रिया (reaction) ही उस शब्द का अर्थ होती है। उदाहरण के लिये, एक आम बच्चे के सामने प्रस्तुत किया जाय और आम के साथ ही 'आम' शब्द का उच्चारण भी, तो बच्चा उस स्थिति में 'आम' शब्द का सम्बन्ध 'आम' वस्तु से स्थापित करता है। फिर, सीखने के इस क्रम के पूर्ण होने पर वह 'आम' वस्तु की उपस्थिति में 'आम' शब्द प्रगट करता हैं और 'आम' शब्द कहने पर उसके सामने आम का आकार-प्रकार, रंग इत्यादि का वस्तु-रूप (image) आ जाता है।

(ग) प्रयत्न और भूल (Trial and Error)

सामान्यतः प्रथम प्रयास में बच्चे न तो शुद्ध-शुद्ध उच्चारण ही कर सकते और न शुद्ध शब्द ही सीख पाते हैं। इसी तरह सुने हुए शब्दों को ठीक उसी तरह दुहराने में वे असफल रहते हैं। किसी शब्द के सीखने के सिलसिले में उन्हें प्रयत्न (try) करना पड़ता है और भूल (error) भी होती है। 'प्रयत्न और भूल' (trial and error) के कई क्रम के बाद ही शुद्ध उच्चारण (correct pronounciation) हो पाता है तथा उपयुक्त अर्थ (correct meaning) वे समझ पाते हैं। जब बच्चे अनुकरणात्मक प्रतिक्रिया प्रगट करते, हैं तब सम्भव है कि शब्द का उचित उच्चारण नहीं भी प्रगट करें। 'कुत्ता' शब्द के अनुकरण में बच्चा 'कुत्ता' के बदले में 'उत्ता', फिर, 'तुत्ता' और अन्त में 'कुत्ता' कह सकता है। बच्चे में आत्मप्रेरित क्रियायें (self-initiated activity) होती है। दूसरी ओर वाह्यवातावरण (external world) में अभियोजन के लिये नई-नई आवश्यकतायें होती हैं। समाज के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने में उन्हें प्रोत्साहन भी मिलता है। अतः, भाषा सीखने के सिलसिले में बच्चे वाहरी मांग तथा प्रोत्साहन (reward) के साथ आत्म-प्रेरित क्रियाओं का सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

४. बच्चों में भाषा-विकास के स्वरूप

इस समस्या की ओर सबसे पहले एक प्रमुख स्वीस् मनोवैज्ञानिक *पियाजे* (piaget) का ध्यान आकर्षित हुआ। *पियाजे* ने जिनेवा (Geneva) में यूरोपीय बच्चों का, जिनमें मुख्यतः फ्रांसीसी भाषा-भाषी थे—निरीक्षण किया। अपने अध्ययन के पश्चात् इस दिशा में उन्होंने एक नया दृष्टिकोण दिया। बच्चों की भाषा तथा उनके चिंतन (languge and thinking) में *पियाजे* की विशेष रुचि रही। उन्होंने बच्चों की सभी तरह की वाणी (speech) को 'आत्मकेंद्रित' (Egocentric) तथा 'समार्जीकृत' (socialised) वाणी—दो प्रमुख स्वरूपों में विभक्त (classify) करने की चेष्टा की है। इन दोनों तरह की वाणियों (speeches) का अंतर यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा।

(क) आत्मकेंद्रित वाणी (Egocentric speech)

आत्मकेंद्रित वाणी की विशेषता वतलाते हुए *पियाजे* ने कहा है कि बच्चे अपने विचारों को व्यक्त करने के बाद दूसरों के विचारों पर ध्यान देने की चेष्टा

नहीं करते। बच्चा यह भी स्पष्ट रूप से समझने का प्रयास नहीं करता कि वह किससे बातें कर रहा है। वह अपने-आप से बातें करता है। ऐसा ज्ञात होता है कि वह दूसरों से बातचीत नहीं करता। उसकी क्रिया अपने-आप तक सीमित (self-centred) रहती है; अर्थात् आत्मकेंद्रित रहती है। ऐसा भी देखा गया है कि दूसरों की उपस्थिति में भी बच्चा या तो अपने-आप से बातें करता है या उपस्थित व्यक्ति (बच्चे या वयस्क) से सम्बन्धित किसी विचार को उसकी ओर संकेत करते हुए व्यक्त करता है। लेकिन, सुनने वाले के दृष्टिकोण के अनुकूल वह कभी भी कुछ कहने की चेष्टा नहीं करता। इसे *पियाजे* ने 'सामूहिक स्वगत भाषण' (Collective monologue) कहा है।

पियाजे ने यह भी स्पष्ट किया है कि खास आयु (certain age) तक बच्चों का सोचना तथा बोलना (thinking and speaking) आत्मकेंद्रित (egocentric) होता है। बच्चों की अपनी चिन्तन-क्रिया (thinking) की विशेष जानकारी नहीं रहती। इसलिये उनमें तर्क करने की क्षमता की कमी देखी जाती है। बच्चों में अपने-आप से उपयुक्त तर्क प्राप्त करने की क्षमता ७ वें या ८ वें वर्ष की आयु में प्राप्त होती है। *पियाजे* के कथन से यह भी ज्ञात होता है कि ३-५ वर्ष की आयु में आत्मकेंद्रित वाणी बच्चों में अधिकांशतः पायी जाती है और आयु अधिक होने के फलस्वरूप ७ वें या ८ वें वर्षों में इसमें काफी कमी (decline) आ जाती है। *पियाजे* की 'आत्मकेंद्रित वाणी' की सत्यता का खंडन करते हुए *मेकार्थी* (McCarthy) ने बतलाया है कि पाठशाला के बच्चों की वाणी हमेशा आत्मकेंद्रित नहीं होती। सम्भव है कि एकान्त स्थान में कोई बच्चा आत्मकेंद्रित हो सकता है, लेकिन अन्य साथियों या व्यक्तियों की उपस्थिति में वह ऐसा नहीं हो सकता। *मेकार्थी* के कथन से यह भी ज्ञात होता है कि आयु-वृद्धि के फलस्वरूप बच्चे प्रश्न, उत्तर तथा अन्य प्रकार की सूचनाओं (informations) का भी प्रयोग शुरू कर देते हैं।

(ख) समाजीकृत वाणी (Socialised speech)

समाजीकृत वाणी की विशेषता है कि बच्चे अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में ही इसे व्यक्त करते हैं। वे अपने विचारों, भावों तथा इच्छाओं को दूसरों से व्यक्त करते हैं। किसी विषय पर वाद-विवाद (conversation) में उलझ पड़ना उनके लिये स्वाभाविक मालूम पड़ता है। वे बातचीत में हमेशा विश्वास तथा अधिकार के साथ ही कुछ व्यक्त करते हैं। तर्क-वितर्क में उन्हें काफी दिलचस्पी

रहती है। हर बात में तर्क पेश करना उनके लिये आवश्यक हो जाता है। इन विशेषताओं (characteristics) से युक्त वाणी (speech) को 'समाजीकृत वाणी' कहते है।

पियाजे (Piaget) ने बतलाया है कि बच्चों की समाजीकृत वाणी, जो आत्मकेंद्रित वाणी से भिन्न है, अत्यधिक समाजीकृत (highly socialised) नहीं होती। दूसरी ओर, वयस्कों की भाषा की अभिव्यक्ति अत्यधिक समाजीकृत होती है। इस अंतर (difference) की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए *पियाजे* ने स्पष्ट किया है कि मनोवैज्ञानिक अपरिपक्वता (Psychological immaturity) के कारण ही बच्चों की वाणी अत्यधिक समाजीकृत नहीं होती।

वाणी और भाषा में अंतर

(Difference between Speech and Language)

भाषा के कई प्रकार (forms) होते हैं। वाणी (speech) केवल एक प्रकार (one form) की भाषा है, जिसमें विचारों को अभिव्यक्त करने या कहने के लिये शब्दों (words) का प्रयोग किया जाता है। देखा जाता है कि प्रायः मानव प्राणी (human being) को वाणी (speech) की क्षमता रहती है।

भाषा (Language) से यह स्पष्ट होता है कि जितने भी प्रकार के अभिव्यक्ति या कथन (Communication) के साधन (means) हैं, उनमें से भाषा प्रत्येक साधन से सम्बन्धित है, जिसमें भावों तथा विचारों (feelings & thoughts) का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप में (symbolized) होता है। इन साधनों से अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रकार के अर्थ स्पष्ट होते हैं। उदाहरण के लिये संकेत का अर्थ, लिखी हुई चीजों का अर्थ, बोली हुई चीजों का अर्थ, चेहरे तथा शरीर का परिवर्तन तथा कलात्मक अभिव्यक्ति आदि।

वाणी को अच्छी तरह समझने के लिये कुछ विशेषताओं पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रथम यह कि बच्चे अपने शब्दों (words) का उच्चारण इस तरह करें कि दूसरे व्यक्ति की समझ में वे आसानी से आ जाँय। ऐसा नहीं कि उसके शब्दों को केवल वे ही व्यक्ति समझ सकें, जो हमेशा उसके सम्पर्क

में रहे। दूसरी बात यह है कि बच्चा जिन शब्दों का प्रयोग करता है, उनका अर्थ भी अवश्य समझे और उन शब्दों के साथ उपयुक्त वस्तुओं का साहचर्य (association) भी स्थापित करे। उदाहरण के लिये, अगर बच्चा 'नारंगी' कहता है तो 'नारंगी' वस्तु के साथ ही उस शब्द का सम्बन्ध हो, 'आम' से नहीं।

६. बच्चों के शब्दकोश की वृद्धि

(Growth of vocabulary)

बाल मनोवैज्ञानिकों का यह बड़ा ही रोचक विषय रहा है कि आयु विशेष में बच्चे कितने शब्द जानते हैं या सीख पाते हैं। इसे उचित रूप से समझने के लिये उनके शब्दकोशों (vocabularies) के प्रकार (forms) को समझना आवश्यक है।

१. शब्दकोशों के प्रकार (forms of vocabularies)

(क) मौखिक शब्दकोश (oral vacabulary)—इससे यह स्पष्ट है कि बच्चे किसी व्याख्यान या वाद-विवाद (conversation) में कितने शब्द बोल सकते हैं। जैसे—'मैं उजले कपड़े नहीं पहनूँगा।'

(ख) श्रव्य शब्दकोश (auditory vocabulary)—दूसरे व्यक्तियों के शब्दों को सुनकर बच्चे उनके अर्थ को समझ लेते हैं। ये शब्द भी उनके शब्दकोश में आते हैं। इन शब्दों को वे आसानी से व्यक्त नहीं कर सकते; लेकिन समझ लेना भी जानने का परिचायक है। उदाहरण के लिये, कोई व्यक्ति 'हाथी' बोलता है और बच्चा शीघ्र ही सड़क की ओर देखने लगता है; क्योंकि हाथी का चित्र उसके सामने उपस्थित हो जाता है, वह हाथी से किसी भयंकर जानवर का अर्थ समझता है।

(ग) लिखित शब्दकोश (written vocabulary)—लिखित रूप में भी बच्चे कुछ शब्द को व्यक्त करते हैं। इन शब्दों की संख्या कम रहती है; क्योंकि ये अभ्यास तथा प्रशिक्षण पर निर्भर करते हैं।

(घ) वाचन शब्दकोश (reading vocabulary)—बच्चे जब पढ़ना सीखते हैं, तब उन्हें कई शब्दों की जानकारी हो जाती है। पुस्तकों

में छपी हुई बातों को वे समझते है तथा उन्हें व्यक्त भी कर सकते हैं। इसी तरह, अन्यत्र लिखी हुई चीजों को वे पढ़ते हैं, जिससे यह पता लगता है कि वे कितने शब्दों को सीख चुके हैं। वस्तुतः इसमें यह नहीं देखा जाता है कि शब्दों के पढ़ने में बच्चों को प्रसंग (reference) का ध्यान रहता है या नहीं।

२. शब्दकोश के अध्ययन की विधि

सबसे प्राचीन तथा प्रचलित विधि यह है कि मनोवैज्ञानिक बच्चों के वार्तालाप को सुनते है। ये वार्तालाप तथा उनके अन्य तरह के भाषण एक निश्चित समय तक अथवा काफी देर तक सुने जाते हैं। ये सभी शब्द बड़ी सावधानी के साथ लिख लिये जाते है। इससे यह पता लगता है कि बच्चे कितने शब्द जानते है।

दूसरी विधि यह है कि बच्चों की मौखिक प्रतिक्रियाओं का अल्पकाल तक एक दिन या कई दिनों तक अध्ययन किया जाता है। इन बच्चों के शब्दों को जानने के लिये कई तरह की वस्तुएँ दी जाती है, ताकि वे इनके प्रति प्रतिक्रियायें प्रगट करें। इन सभी मौखिक प्रतिक्रियाओं को मनोवैज्ञानिक अंकित कर लेते है।

इन दोनों विधियों के द्वारा बच्चों के शब्द-ज्ञान के भंडार की जानकारी प्राप्त की जाती है। लेकिन, बच्चे भाषा की अभिव्यक्ति में इतने सक्रिय होते हैं कि उनके भाषण तथा अभिव्यक्तियों का लिखित विवरण (record) आसानी से प्रस्तुत किया जा सके।

३. शब्दकोश का विस्तार (Size of vocabulary)

विभिन्न अवस्थाओं में, बच्चों के शब्दकोश में शब्दों की संख्या, उनकी वृद्धि, वातावरण तथा प्रोत्साहन पर निर्भर करती है। तीव्र बुद्धि के बच्चों का शब्दकोश मंद बुद्धि के बच्चों से अधिक बड़ा होता है। जिन बच्चों को नये-नये शब्दों को सीखने का अवसर अधिक मिलता है, निःसन्देह सुविधाजनक परिस्थिति में उनका शब्दकोश अधिकाधिक विस्तृत होता जाता है। फिर, जिन बच्चों को नये शब्दों के सीखने में अधिक प्रलोभन या प्रोत्साहन मिलता है, उनका भी शब्द-भंडार विशद हो जाता है।

इस दिशा में काफी अध्ययन हो चुका है और कई नई-नई विधियों (methods) का भी उपयोग किया गया है। लेकिन, एक निश्चित मत के सिलसिले में सबों में मतान्तर है। फिर भी, अध्ययन की सुविधा के लिये बच्चों के शब्दकोश (vocabulary) का सामान्य विवरण आवश्यक है।

देखा जाता है कि ९ महीने की आयु के लगभग अधिकांश बच्चे 'मामा' तथा 'दादा' कह सकते हैं और १ वर्ष की आयु के लगभग 'मामा' और 'दादा' के अतिरिक्त अन्य दो या तीन शब्द भी बोल लेते हैं।

बच्चों के प्रथम शब्द के बारे में काफी मतान्तर है। इनके प्रगट होने की निश्चित आयु के संबंध में सभी मनोवैज्ञानिक सहमत नहीं हैं। *शर्ली* (Shirley) ने बतलाया कि 'प्रथम शब्द' बच्चों में ६० सप्ताह की आयु में प्रगट होता है। *गेसेल तथा थॉम्पसन* (Gesell & Thompson) के अध्ययन से पता चलता है कि कुछ बच्चे बहुत ही कम आयु में 'प्रथम शब्द' व्यक्त करते हैं और कुछ बच्चे काफी देर से। उन्होंने देखा कि २८ सप्ताह में भी 'प्रथम शब्द' प्रगट हो सकता है; जबकि कुछ बच्चे ५६ सप्ताह की आयु में 'प्रथम शब्द' व्यक्त करते हैं। अतः, यहाँ हम दूने समय का अंतर पाते हैं। फिर भी, यह माना जाता है कि प्रायः ५२ सप्ताह के लगभग 'प्रथम शब्द' बच्चों में प्रगट होते हैं। बच्चों के इस 'प्रथम शब्द' का प्रगट होना उनके परिपक्वीकरण (maturation) के अतिरिक्त उनकी बुद्धि (intelligence) यौन-भेद (sex-difference) तथा वातावरण (environment) पर निर्भर करता है।

१ वर्ष की आयु में साधारणतः बच्चे २ या ३ शब्द बोल लेते हैं। 'प्रथम शब्द' के प्रगट होने के बाद बच्चों के शब्दकोश में नये-नये शब्द बड़ी शीघ्रता से आने लगते हैं। जहाँ ८ महीने के लगभग वे केवल १ शब्द जानते हैं, १२ महीने में ३ शब्द जानने लगते हैं। १८ महीने में उनके शब्दों की संख्या २२ हो जाती है और २४ महीने में २७२ के लगभग हो जाती है।* ढाई वर्ष की आयु में उनके शब्दकोश में लगभग ४५० शब्द हो जाते हैं। ३ वर्ष में शब्दों की संख्या में दूनी वृद्धि हो जाती है और ८९६ शब्द पाये जाते हैं। *कैरोल* (Carrol) ने १९३९ ई० के अध्ययन के आधार पर बतलाया कि बच्चों के शब्दकोश में ढाई वर्ष से लेकर साढ़े चार वर्ष की आयु में काफी वृद्धि हो जाती है। स्मिथ

---

* smith.

(Smith) के अभिलेख (record) से यह बात स्पष्ट हो जाती है। ४ वर्ष की आयु में १५०० शब्द, ५ वर्ष में २,००० शब्द तथा ६ वर्ष में २५०० शब्द के लगभग बच्चों के शब्दकोश में वृद्धि हो जाती है।

जब बच्चे पाठशाला में जाने योग्य हो जाते हैं और उनकी शिक्षा भी शुरू हो जाती है, तब उनके सामान्य शब्दकोश (general vocabulary) में काफी तीव्रता से वृद्धि होने लगती है। बच्चे अध्यापकों से नये-नये शब्द तथा उनके अर्थ (meaning) सीखते है। फिर, रुचि (interest) बढ़ने पर अधिकाधिक अध्ययन अथवा आनन्द के लिये पढ़ने के सिलसिले में भी उनका शब्दकोश विस्तृत होने लगता है। इस शब्दकोश का विस्तार कई तत्त्वों (factors) पर निर्भर करता है, जिनमें परिवार तथा शिक्षालय का शैक्षणिक (educational) तथा सांस्कृतिक (cultural) वातावरण अधिक महत्वपूर्ण है।

टरमन (Terman) ने १९२२ ई० में स्टैनफोर्ड-बिने-शब्दकोश (Stanford-Binet vocabulary Test) जाँच के द्वारा विभिन्न आयु के बच्चों के शब्दकोश से विस्तार (size of vocabulary) का अध्ययन किया। *स्मिथ* (Smith) ने भी १९२६ ई० में १ वर्ष से लेकर १८ वर्ष के बालकों के शब्दकोश के विस्तार के बारे में अध्ययन किया है। दोनों के अध्ययन का निष्कर्ष (results) एक साथ ही नीचे दिया जाता है।

(Size of vocabulary at different ages.)

आयु (age)	शब्दों की संख्या (number of words)	
१ वर्ष	२—३	*स्मिथ* (smith)
२ ,,	२७२	,,
३ ,,	८९५	,,
४ ,,	१,५४०	,,
५ ,,	२,०७२	,,
६ ,,	२,५६२	,,
८ ,,	३,६००	*टरमन* (Terman)
१० ,,	५,४००	,,
१२ ,,	७,२००	,,
१८ ,,	१५ ०००—१९,००० तक	(*स्मिथ*)

टरमन (Terman) के मुताबिक औसत (average) वयस्क (adults) के शब्दकोश में करीब ११,७०० शब्द रहते हैं।

बच्चों के शब्दकोश में सबसे पहला शब्द 'संज्ञा' (noun) होता है। प्रथम वर्ष के अधिकांश शब्द संज्ञा ही होते हैं। ब्रुक्स (Brooks) ने बतलाया है कि २ वर्ष की आयु में बच्चों के शब्दकोश में आधे से अधिक शब्द संज्ञा ही रहते हैं। इनका अनुपात (ratio) ६०% हो जाता है। कारण, कि बच्चे शैशवावस्था में ही अन्यान्य वस्तुओं के सम्पर्क (contact) में आते जिनके कुछ-न-कुछ नाम होते हैं। इन वस्तुओं के नाम से उनके सम्पर्क का अनुभव बच्चों के लिये दुहराया जाता है। अतः, वे उन वस्तुओं का नाम सीख लेते हैं। 'संज्ञा' के बाद उनके शब्दकोश में 'क्रिया' (verb) आती है। उदाहरण के लिये, 'मां' प्रथम शब्द संज्ञा होता है। आम, नाक, दादा इत्यादि सभी संज्ञा हैं। फिर, जब बच्चे दो शब्दों के वाक्य बोलते हैं तब 'संज्ञा' के बाद 'क्रिया' (verb) का प्रयोग करते हैं। 'आम दो'—इसका सुन्दर उदाहरण है। यहां बच्चा आम की ओर संकेत करते हुए देने के लिये दो शब्दीय वाक्य का प्रयोग करता है, जिसमें संज्ञा और क्रिया दोनों क्रमशः आ जाती हैं। 'संज्ञा' तथा 'क्रिया' के बाद विशेषण, सर्वनाम तथा अन्य शब्द-भेदों (parts of speech) का प्रयोग होता है।

७. भाषा-विकास की विभिन्न अवस्थायें

(Stages in Language Development)

जन्म-क्रंदन (Birth cry) से लेकर जटिल वाक्य-रचना तक भाषा-विकास की कई अवस्थायें होती हैं। इस विकास में एक क्रम रहता है। बाल मनोवैज्ञानिकों ने अध्ययन के आधार पर बच्चों के भाषा-विकास की प्रमुख अवस्थाओं (stages) का उल्लेख किया है। इन सभी अवस्थाओं का अलग-अलग विशद रूप वर्णन भाषा-विकास को समझने के लिये आवश्यक है।

१. बच्चों का प्रारम्भिक उच्चारण (Early vocalization)

जन्म-क्रंदन (Birth cry) नवजात शिशुओं का प्रारम्भिक उच्चारण माना जाता है। यह एक सहज क्रिया है। यह ध्वनि (sound) शिशु के स्वर-यंत्र (vocal organs) में गति होने के फलस्वरूप होती है। बच्चों की यह प्रारम्भिक ध्वनि सीखी हुई नहीं होती। बाल मनोविज्ञान के कुछ

विशेषज्ञों ने अध्ययन किया है कि २ सप्ताह की आयु में शिशुओं में एक प्रकार की ध्वनि पायी जाती है जो 'अं' या 'आ' के साथ 'इंग' से मिलती-जुलती है। शिशुओं की इस ध्वनि को घुरघुराहट (Grunt) के रूप में समझा जाता है।

बच्चों के प्रथम उच्चारण 'स्वर' (vowel) होते हैं। जैसे; 'अ' 'इ' 'उ' इत्यादि। 'म' प्रथम व्यंजन (consonant) है जो शिशुओं में प्रगट होता है। ८ महीने के लगभग बच्चे 'प', 'ह', 'ग', 'ब' तथा 'क' ध्वनियाँ (sounds) को शब्द-खंडों (syllables) का उच्चारण भी करने लगते है। इनमें 'माँ', 'बू', 'दा', इत्यादि मुख्य है। 'र' तथा 'ल' वर्ण बच्चों में सबसे अंत में प्रगट होते हैं।❀

२. बलबलाना (Babbling Sound)

बच्चों में बलबलाना दूसरे या तीसरे महीने में प्रारम्भ होता है और आठवें महीने में यह ध्वनि (sound) अत्यधिक मात्रा में देखी जाती है। यह बलबलाना ध्वनि मात्र होता है। इसके द्वारा वे विचारों तथा भावों को दूसरों से व्यक्त नहीं कर सकते। भाषा-विकास के क्रम में जबतक ये प्रारम्भिक उच्चारण (early vocalization) अर्थयुक्त (meaningful) नहीं हो जाते और इस तरह की ध्वनि बार-बार क्रम से निकलती रहती है, तब तक उन्हें 'बलबलाना' (Babbling) कहा जाता है। इसका विकास नवजात शिशु के अचानक या धड़ाके के साथ निकली ध्वनि (explosive sound) से होता है। बल-बलाने में ध्वनियों की संख्या (number of sounds) में धीरे-धीरे वृद्धि होती जाती है और अभ्यास के फलस्वरूप ६ महीने के लगभग कुछ स्वर (vowel) तथ व्यंजन (consonant) ध्वनियों की संधि (combination) भी हो जाती है। उदाहरण के लिये "माँ—माँ", "दा—दा" या "ना—ना" इत्यादि। वैज्ञानिक अध्ययन से यह पता चलता है कि बलबलाना साधारणतः अधिक व्यक्तिगत होता है। इसमें ध्वनियों का निकलना काफी देर तक होता रहता है; लेकिन, अधिकांशतः ध्वनियों की पुनरावृत्ति (repetition) ही होती है। बच्चे जितनी भी ध्वनि प्रगट कर सकते हैं उनमें से जो उन्हें सर्व-प्रिय होता है, उनको वे चुनकर बार-बार दुहराने में आनन्द का अनुभव करते हैं। इस सिलसिले में वे किलकारी मारते हुए ध्वनियों की अभिव्यक्ति की सफलता से काफी आह्लादित भी होते हैं।

❀ E. B. Hurlock.

बच्चों में बलबलाना मुख्यतः उनके स्वर-यंत्रों (vocal organs) की परिपक्वता पर निर्भर करता है। ऐसा कहा जाता है कि ये बच्चे दुनिया की विभिन्न भाषाओं में व्यवहृत (used) प्रायः सभी ध्वनियां को प्रगट करते है। लेकिन, वे केवल उन्हीं को धारण करते है जिनकी आवश्यकता उन्हें घर की बोल-चाल की भाषा में होती है। जिन ध्वनियों को वे अपने वातावरण में नहीं सुन पाते, उन्हें अनुकरण करने का अवसर भी प्राप्त नहीं होता। अतः, वे मुख्यतः सुनी हुई भाषाओं को ही सीख पाते है। अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि बहरे (deaf) बच्चों को भाषा सीखने में अत्यधिक कठिनाई होती है। भाषा-विकास के लिये सुनना अत्यावश्यक है। इस अवस्था में माँ-बाप अपने बच्चों से बातें करते है। बातचीत को इस प्रणाली को 'Baby talk' कहते है। इस सिलसिले में बच्चे अपने माँ-बाप की ध्वनियों या उच्चारणों का अनुकरण करना शुरू कर देते है। भाषा-विकास में इसका काफी महत्व है।

३. भाषा-ज्ञान (Comprehension of Language)

जीवन की किसी भी अवस्था में बच्चा अपने भावों तथा विचारों को शब्दों द्वारा व्यक्त करने की अपेक्षा दूसरे व्यक्तियों के कहने का अर्थ बड़ी आसानी से समझ लेता है। ८ सप्ताह से लेकर ८ वर्ष की आयु में भी यह बात देखी जाती है। हरलॉक (Hurlock) ने बतलाया है कि किसी भी आयु में बच्चों के समझने का शब्द-कोश (comprehension Vocabulary) उनके बोलने के शब्दकोश (speech vocabulary) से बड़ा होता है। 'समझने का शब्द-कोश' से तात्पर्य है कि उनमें ऐसे शब्द हों, जिनके अर्थ बच्चे समझते हों। लेकिन, सबों का प्रयोग अपनी वाणी में करना सम्भव न हो। दूसरे शब्द-कोश से यह स्पष्ट है कि बच्चे सभी शब्दों का केवल अर्थ ही न समझते हों, बल्कि उनका सही प्रयोग भी कर सकें। प्रायः यह देखा जाता है कि कोई भी वयस्क (adult) जब विदेशी भाषा (foreign language) सीखता है, तब भाषा में होने वाली अन्य व्यक्तियों की बातचीत को समझ लेता है, लेकिन स्वयं अपने विचारों को सफलतापूर्वक उसी भाषा में व्यक्त करने में असमर्थ रहता है।

बोलने वाले की मुखाकृति (facial expression) ध्वनि तथा हाव-भाव (gestures) से बच्चा यह समझ जाता है कि उसे क्या कहा जा रहा है। बच्चों का समझना (comprehension) केवल सुने हुए शब्दों की व्याख्या पर आधारित नहीं होता, बल्कि शब्दों की व्याख्या के साथ कहने

वाले को मुखाकृति तथा हाव-भाव की अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। ३ महीने की आयु के लगभग बच्चे आनन्द, क्रोध तथा भय की अभिव्यक्ति को समझ लेते हैं। उदाहरणार्थ, ३ महीने का बच्चा दूसरों को मुस्कुराते देखकर मुस्कुराने (smiling) की प्रतिक्रिया प्रगट करता है। इसी तरह इसके बाद क्रोध तथा भय की स्थिति में मुखाकृति से सम्बन्धित आवाज को बच्चे समझ लेते हैं। धीरे-धीरे, इसके बाद उनकी समझ बढ़ने लगती है और शब्दों के अर्थ समझने में मुखाकृतियों तथा हाव-भाव से काफी मदद मिलती है। गेसेल (Gesell) के अध्ययन से पता चलता है कि ६ महीने में ५० % या उससे अधिक बच्चे कुछ शब्दों के साथ ऐसा सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि कुछ मात्रा में वे कुछ पूछे हुए प्रश्न समझ लेते हैं। उदाहरण के लिये, अगर यह पूछा जाता है—"तुमने कितना खाया है ?"—बच्चा हाथ फैलाते हुए दोनों हाथों के बीच की जगह की ओर संकेत करता है और कहता है—"इतना।" "क्या तुम आम खाओगे ?"—बच्चा कहता है—"हाँ !" "यह गुड़िया कितनी बड़ी है ?"—बच्चा हाथ के इशारे से मदद लेते हुए कहता है—"इतनी।" इत्यादि।

डेढ़ वर्ष से लेकर २ वर्ष तक की आयु के बच्चों पर प्रयोग करके देखा गया कि साधारण तस्वीर (picture) में वे शरीर के विभिन्न अंगों (limbs) को बतला सकते थे। बच्चों को हाथ या आँख तस्वीर में दिखाने को कहा गया। उन्होंने इन अंगों को अंगुली के सहारे दिखला दिया। इसी तरह अन्यान्य अंग भी बतलाने में वे सफल रहे।

४. प्रथम शब्द (The first word)

प्रथम शब्द ध्वनियों का निरर्थक संयोग मात्र है। यह निर्धारित करना कि बच्चा कब बोलता है, बड़ा ही कठिन है। मनोवैज्ञानिकों ने अध्ययन के आधार पर बतलाया है कि प्रथम शब्द के लिये सभी बच्चों में एक ही आयु नहीं होती। इसमें काफी अंतर देखा जाता है। किसी बच्चे में ८ महीने के लगभग प्रथम शब्द देखा जाता है तो किसी में १० महीने के लगभग। अतः, कोई आयु विशेष (particular age) सभी बच्चों में एक नहीं होता। प्रथम शब्द के प्रगट होने के सिलसिले में समय के अंतर (variation in time) को समझने के लिये कुछ मुख्य तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक ज्ञात होता है। इन तत्त्वों में जाति (Sex), बुद्धि (Intelligence) तथा वातावरण

(Environment) विशेष उल्लेखनीय है। साधारणतः लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ पहले बोलना सीख जाती है। प्रथम शब्द भी लड़कियों में अधिकांशतः पहले प्रगट होता है। दूसरी ओर, तीव्र बुद्धि के बालक सामान्य बालकों से पहले बोलना शुरू करते है और इसी तरह सामान्य बालक मंद बुद्धि के बालकों से पहले बोलने लगते है। वातावरण का भी प्रभाव उनपर कम नहीं पड़ता। ऐसे वातावरण में जहाँ बालकों के भाषा-विकास में उत्तेजना की कमी हो तथा उन्हें प्रेरणा भी कम मिलती हो—वहाँ के बच्चों के प्रथम शब्द के प्रगट होने में विलम्ब होता है। शिक्षित परिवार में, जहाँ बच्चों के भाषा-विकास में अनुकूल वातावरण मिलता है, बच्चों का प्रथम शब्द काफी पहले प्रगट हो जाता है।

शर्ली (Shirley) के अध्ययन से पता चलता है कि ६० सप्ताह की आयु में बच्चों में प्रथम शब्द प्रगट होता है। *गेसेल तथा थाम्पसन* (Gesell & Thompson) ने अपने अध्ययन के आधार पर प्रमाणित किया कि कुछ बच्चे केवल २८ सप्ताह के लगभग प्रथम शब्द बोल लेते है। यह भी ज्ञात हुआ है कि सामान्यतः ५०वें सप्ताह की आयु में बच्चे प्रथम शब्द बोलते है। बच्चों के द्वारा जो प्रथम शब्द बोले जाते है, वे प्रायः 'संज्ञा' होते है। ये शब्द मुख्यतः एक शब्द-खंड (mono syllable) के होते है। बलबलाने के क्रम में बच्चे कई तरह की ध्वनियाँ प्रगट करते है। उन्हीं ध्वनियों में जो उन्हें सबसे अधिक अच्छा लगती है या सर्वाधिक प्रिय होती है, उसे सबसे पहले प्रथम शब्द के रूप में प्रगट करते है। बाद में इसी शब्द को बच्चे दुहराते है। उदाहरणार्थ मां, दा, बू, इत्यादि। दुहराने पर ये मां-मां, दा-दा, तथा बू-बू हो जाते है। बच्चे इन शब्दों को अपने वातावरण के व्यक्ति तथा वस्तुओं के संबंध में ही प्रयोग करते है। ऐसा भी देखा जाता है कि वे दूसरे व्यक्ति द्वारा प्रयोग में लाये हुए शब्दों का अनुकरण कर लेते है। प्रथम शब्द जो बच्चों द्वारा बोला जाता है, वह हमेशा किसी भी प्रश्न पर बार-बार दुहराया जाता है। जब बच्चा किसी शब्द को सीखता है, तब वह सभी वस्तुओं या व्यक्तियों के लिये किसी का प्रयोग करता है। फिर, शब्द का उपयोग वह समान या मिलती-जुलती चीजों के सिलसिले में करता है। जैसे— 'बू' का प्रयोग वस्तु के सिलसिले में सभी वस्तुओं के लिये करता है।

बच्चों का सम्बन्ध वातावरण से हमेशा रहता है और इसके सम्पर्क में उन्हें विभिन्न प्रकार के अनुभव भी होते हैं। अतः, वस्तु, घटना, व्यक्ति तथा परिस्थिति

चाहे साधारण हो या जटिल, सबों का अर्थ बच्चों के लिये होता है। बच्चे क्रमशः इन अर्थों को समझते हैं।

५. एकशब्दी वाक्य ("Single Word" Sentence)

बच्चों के प्रथम शब्द का भाषा-विकास में काफी महत्त्व दिया जाता है। इस प्रथम शब्द का हमेशा ही कुछ अर्थ होता है। प्रारम्भ से ही बच्चा प्रथम शब्द को वाक्य के रूप में प्रगट करता है। बच्चा जिस ढंग से यह शब्द व्यक्त करता है या अभिव्यक्ति के समय हाव-भाव (gestures) रहता है, उससे यह स्पष्ट रूप से यह मालूम होता है कि बच्चा कुछ कहना चाहता है। कई बाल मनोवैज्ञानिकों ने अध्ययन करने के बाद बतलाया है कि 'प्रथम शब्द' या उसके बाद कोई शब्द जिनका अर्थ होता है—वह केवल शब्द ही नहीं, बल्कि, 'वाक्य-शब्द' (Sentence-word) है। चूँकि, एक शब्द से ही वाक्यों के कहने का तात्पर्य समझा जाता है, इसलिये वह वाक्य के रूप में ही व्यवहृत होता है। हम इसे इस तरह कह सकते हैं कि ऐसे एक शब्द, एकशब्दी वाक्य-रूप में (Single word-sentence) ही महत्त्व रखते हैं।

अगर बच्चा कहता है—'माँ' तो बच्चे का मतलब केवल 'माँ' तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि, 'माँ, यहाँ आओ' या 'माँ, गोद लो' इत्यादि। प्यास लगने पर 'पानी' तथा भूख लगने पर 'दूध' शब्दों को बच्चे दुहराते हैं। 'पानी' से केवल पानी तक ही अर्थ नहीं रहता, बल्कि बच्चे माँ से पीने के लिये पानी माँग सकते हैं। इसी तरह भूख लगने पर केवल 'दूध' का उच्चारण कर बच्चे पीने के लिये दूध माँग सकते हैं। इतना याद रहे कि उस अवस्था में बच्चे अधिक शब्दों का प्रयोग करने में असमर्थ रहते हैं। हरलॉक (Hurlock) का मत है कि ऐसे वाक्य, जिनमें केवल एक शब्द हो, (एकशब्दी वाक्य) बच्चों द्वारा सर्वप्रथम १२ महीने से लेकर १८ महीने के लगभग बोला जाता है। इस स्थिति में बच्चों के शब्द के साथ हमेशा उनके हाव-भाव (gestures) का विशेष महत्त्व रहता है। इसके बाद बच्चे दो या दो से अधिक शब्दों का एक साथ प्रयोग आरम्भ कर देते हैं और ऐसे वाक्यों के साथ अर्थ की पूर्ति के लिये हाव-भाव की मदद भी लेते हैं। नाइस (Nice) का कथन है कि बच्चों की वाक्य-रचना की दक्षता भाषा पर उनके अधिकार की एक सुगम कसौटी है।

६. सरल वाक्य (Simple Sentence)

२ वर्ष की आयु में लगभग बच्चे वाक्य बनाना प्रारम्भ कर देते है। यह वाक्य प्रायः अधूरा (incomplete) रहता है; लेकिन हाव-भाव के द्वारा इसका अर्थ पूर्ण बनाया जाता है। ऐसे वाक्य में प्रायः एक या एक से अधिक संज्ञा (nouns) तथा क्रिया (verbs) होती है। जैसे—'आम दो', 'पानी दो', 'लाल गुड़िया दो', आदि। कभी-कभी बिना क्रिया के वाक्य और संज्ञा के पहले क्रिया का प्रयोग भी देखा जाता है। जैसे—"मेरी पुस्तक", "दो दूध" आदि। संज्ञा तथा क्रिया के अतिरिक्त वाक्य-रचना में कभी-कभी विशेषण तथा क्रिया-विशेषण का भी प्रयोग पाया जाता है। सामान्यतः उच्चारण (pronunciation) में बच्चों को काफी कठिनाई होती है। वे सुनी हुई आवाजों की नकल करते है। जिस प्रकार दूसरे व्यक्ति किसी शब्द का उच्चारण करते है, बच्चे भी ठीक वैसा ही उच्चारण करने की चेष्टा करते है। इस प्रयास में गलत और सही उच्चारण की बराबर ही सम्भावना रहती है। अनुकरण करने की योग्यता उनमें काफी रहती है। अतः, वे उच्चारण को परिवर्तित करने में भी समर्थ होते है।

प्रायः ३ वर्ष के पहले उनके उच्चारण सुगम नहीं होते और इसके बाद उनमें कुछ बोधगम्यता आने लगती है। उच्चारण की अशुद्धि बच्चों में लगभग ५ वर्ष की आयु तक पायी जाती है। धीरे-धीरे उनमें सुधार होता जाता है। ध्यान रखना है कि सभी बच्चों में समान रूप से यह उच्चारण की अशुद्धि नहीं रहती। इसमें भी वैयक्तिक भिन्नता (individual difference) पायी जाती है। ३ वर्ष की आयु तक व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ (Grammatical errors) भी बच्चों में सामान्यतः रहती है। शब्दों के उचित प्रयोग में इन्हें कठिनाई होती है। ३ वर्ष के पहले बहुत ही कम बच्चे 'सर्वनाम' का उपयोग शुद्ध रूप में कर पाते हैं। लेकिन, ३ वर्ष के बाद अधिकांश बच्चे सर्वनाम का शुद्ध प्रयोग करने में समर्थ हो जाते है। 'संज्ञा' के साथ 'क्रिया' के उचित प्रयोग में अधिक अशुद्धि देखी जाती है।

नोट—प्रायः, वाक्य-रचना बच्चों की अपनी ही घरेलू भाषा (Home spoken dialect) में होती है। हमारे यहाँ बहुत तरह की बोलियों का प्रयोग होता है। मैथिली, मगही, भोजपुरी आदि अन्यान्य क्षेत्रीय भाषायें है।

४ वर्ष की आयु में उनके वाक्य प्रायः पूर्ण हुआ करते हैं। ऐसे वाक्यों में 'संज्ञा, 'क्रिया', 'विशेषण', 'सर्वनाम', तथा 'क्रिया-विशेषण' का प्रयोग वे कर लेते हैं। ५ वर्ष के लगभग सामान्य बच्चे वाक्य-रचना सफलतापूर्वक करते हैं। सरल वाक्यों की रचना में सभी वर्गों में समानता नहीं होती। अध्ययन के आधार पर यह प्रमाण प्राप्त हुआ है कि लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ प्रायः अधिक कुशलता से वाक्य-रचना कर सकती हैं। तीव्र बुद्धि के बच्चे सामान्य बच्चों की अपेक्षा और मंद बुद्धि वालों से सामान्य बच्चे अधिक आसानी से वाक्य-रचना में सफलता प्राप्त करते हैं।

८. जटिल वाक्य (Complex Sentence)

५ वर्ष की आयु में बच्चे जब पाठशाला जाने योग्य हो जाते हैं, प्रायः सरल वाक्य का प्रयोग सफलतापूर्वक कर लेते हैं। इसके बाद उनके वाक्य का स्वरूप सरल न रहकर, जटिल हो जाता है। *मैकार्थी* (Mc Carthy, 1954) तथा *विंसेंट* (Vincent, 1955) के मतानुसार बच्चे करीब-करीब सभी प्रकार के वाक्यों की रचना करने लगते हैं। भाषा-विकास की यह अवस्था (stage) काफी महत्त्वपूर्ण है, जबकि हर प्रकार की रचना तथा उनका प्रयोग कुशलतापूर्वक किया जा सके। क्रमशः ७ वें और ८ वें वर्ष की आयु में इन जटिल वाक्यों की रचना तथा प्रयोग में उन्हें धीरे-धीरे सफलता मिलती जाती है और वे अधिकाधिक ऐसे वाक्यों का प्रयोग करने लगते हैं। *हरलॉक* (Hurlock) के मतानुसार ९-१० वर्ष की आयु तक वाक्य की लम्बाई में वृद्धि होती है और इसके बाद उसमें कोई वृद्धि नहीं देखी जाती। ऐसे वाक्य में अधिक वाक्यांश (clauses) का प्रयोग होता है, जिससे वाक्य की लम्बाई अधिक हो जाती है। लम्बे तथा जटिल वाक्यों के प्रयोग में भी वैयक्तिक भिन्नता हमेशा विचारणीय है। यौन-भेद (sex difference) का काफी प्रभाव पड़ता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ अधिक सफलता से जटिल तथा लम्बे वाक्यों का प्रयोग कर लेती हैं। उन्नत परिवार (advanced family) में लड़के-लड़कियों को काफी सुविधायें प्राप्त होती हैं, जिसके फलस्वरूप वे भाषा के प्रयोग में अधिक कुशल दीख पड़ते हैं। दूसरी ओर, अशिक्षित परिवार में लड़के-लड़कियों का भाषा-विकास सामान्य ढंग से नहीं हो पाता। मंद बुद्धि के बालकों की अपेक्षा सामान्य बालक जटिल वाक्यों का प्रयोग अधिक सफलता से कर सकता है।

८. भाषा-विकास को प्रभावित करने वाले तत्त्व

१. शारीरिक अवस्था (Physiological Condition)

बोलने के लिये स्वर-यंत्रों (Vocal organs) की आवश्यकता होती है। इन यंत्रों को सामान्य रूप में क्रिया होने के फलस्वरूप ही बोलना सम्भव हो सकता है। भाषा-विकास के लिये मुँह, नाक, जीभ, कंठ आदि शारीरिक अंगों का सामान्य अवस्था (normal condition) में होना आवश्यक है। अगर इनमें किसी प्रकार का दोष हो जाय, तो भाषा-विकास उचित रूप में नहीं हो पाता। बहरे (deaf) तथा कम सुनने वाले बच्चों का भाषा-विकास सामान्य ढंग से नहीं हो पाता, क्योंकि, बच्चे प्रायः अनुकरण के द्वारा ही भाषा अधिक सीखते हैं, सुनने में कठिनाई होने अथवा नहीं सुन सकने के कारण वे अनुकरण नहीं कर सकते। अतः, उनके शब्द-कोश का विस्तार उचित रूप में नहीं हो पाता और सामान्य बच्चों के शब्द-कोश के विस्तार से कम होता है। जिन बच्चों का शारीरिक स्वास्थ्य उत्तम रहता है, वे अधिक सक्रिय (active) तथा उत्साहित दीख पड़ते हैं। उनका सम्पर्क वातावरण से अधिक रहता है और सीखने का इन्हें अधिक अवसर प्राप्त होता है। लेकिन बीमार तथा अस्वस्थ बच्चे, जिनका सम्पर्क वातावरण से कम जाता है, उचित रूप में भाषा-विकास की सुविधा प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। अतः, स्वास्थ्य भाषा-विकास को काफी प्रभावित करता है।

२. बुद्धि (Intelligence)

मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि तीव्र बुद्धि के बच्चे सामान्य बच्चों से पहले बोलना प्रारम्भ कर देते हैं और मंद बुद्धि के बच्चे बाद में बोलते हैं। तीव्र बुद्धि के बच्चों में भाषा-सम्बन्धी विशिष्टता (superiority) देखी जाती है। *मेकार्थी* (Mc Carthy, 1954) के मतानुसार उनके शब्द-कोश का विस्तार अधिक होता है तथा वे लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग करते हैं। इतना ही नहीं, उनके वाक्यों की बनावट में अशुद्धियाँ कम रहती हैं। अतः, भाषा-विकास तथा बुद्धि में काफी घनिष्ट सम्बन्ध है। उत्तम मानसिक योग्यता के कारण भाषा का अर्थ समझने तथा सतर्कता से अनुकरण करने में काफी सुविधा होती है। अध्ययन के सिलसिले में यह देखा गया है कि मंद बुद्धि के

बच्चों की अपेक्षा तीव्र बुद्धि के बच्चों का शब्द-कोश अधिक विस्तृत होता है तथा वे शब्दों का प्रयोग भी बड़ी कुशलता से सही रूप में (correctly) करते हैं। विंसेंट (Vincent, 1955) का कथन है कि बच्चों के भाषा-विकास के आधार पर उनके बौद्धिक स्तर (Intellectual level) की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। यह एक विवादग्रस्त विषय है कि तीव्र बुद्धि के कारण समुचित भाषा-विकास शीघ्रता से होता है या भाषा-विकास के कारण ही बौद्धिक विकास होता है। मनोवैज्ञानिकों में मतैक्य नहीं; फिर भी यह मानना पड़ता है कि दोनों पक्षों का विकास साथ-साथ होता है। मानसिक विकास में भाषा-विकास का प्रभाव पड़ता है और मानसिक योग्यता भाषा सीखने में सुविधा प्रदान करती है।

३. यौन-भेद (Sex difference)

प्राय: लड़कों की अपेक्षा लड़कियों का भाषा-विकास अधिक शीघ्रता से होता है। १ वर्ष की आयु के बाद से ही यौन-भेद का प्रभाव बच्चों में स्पष्ट रूप से मालूम होने लगता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के शब्द-कोश का विस्तार तथा भाषा की बोधगम्यता में विशिष्टता (superiority) आ जाती है। इस बाल्यावस्था में लड़कियों की अपेक्षा लड़के देर से बोलना सीखते हैं। उनके शब्द-कोश का विस्तार (Size of vocabulary) छोटा होता है तथा वे छोटे-छोटे वाक्यों का ही प्रयोग कर सकते हैं। वाक्य-रचना तथा शब्द-प्रयोग में व्याकरण की अशुद्धियाँ अधिक मात्रा में होती है। ५ वर्ष की आयु के बाद, औसत बालकों की अपेक्षा औसत (average) बालिकाओं में भाषा-सम्बन्धी विशिष्टता अधिक होती है। प्राय: बालिकायें अधिक याद कर सकती हैं और वाक्य-रचना भी अधिक कुशलता से करती हैं। उनके वाक्य अधिक लम्बे होते है। परीक्षाओं में यह देखा गया है कि साहित्य में बालिकायें अधिक अंक (marks) प्राप्त करती हैं। भाषा-विकास पर यौन-भेद के प्रभाव को स्पष्ट करते हुए मैकार्थी (Mc Carthy) ने इसकी व्याख्या के सिलसिले में माँ-बाप का बच्चों के साथ के सम्बन्ध को महत्वपूर्ण माना है। उनके मतानुसार २ वर्ष की आयु के बाद बालक अपने पिता के साथ और बालिका अपनी माँ के साथ एकात्म्य स्थापित (Identify) कर लेते हैं। लेकिन, बाप-बेटे की अपेक्षा माँ-बेटी का सम्पर्क अधिक घनिष्ट हो पाता है। बाल्यावस्था में माँ-बेटी का यह घनिष्ट सम्बन्ध बालिकाओं को बालक की अपेक्षा पहले बोलने तथा उत्तम ढंग से बातचीत करने में सुविधा प्रदान करता है।

४. दुभाषियापन (Bilingualism).

दुभाषियापन से मतलब है, दो भाषाओं को जानना तथा बोलना। साधारणतः बच्चों को एक भाषा को सीखने में आसानी होती है, लेकिन, साथ-साथ दो भाषाओं का सीखना कठिन होता है। दोनों भाषाओं को सीखने के कारण भाषा-विकास की प्रगति (progress) धीरे-धीरे होती है। कारण यह है कि दो विभिन्न भाषाओं की शब्दावलि के प्रयोग में उलझन (Confusion) पैदा हो जाती है और इस तरह दोनों भाषाओं के साथ उनका अभियोजन (adjustment) कठिन हो जाता है। यह निर्विवाद रूप से मान्य है कि अपनी मातृभाषा (native tongue) बच्चे बड़ी सरलता से बोलना सीख लेते हैं। दो भाषाओं को सीखने के कारण भाषा-विकास उचित रूप से नहीं हो पाता, जब कि केवल एक भाषा सीखने वाले बच्चे काफी सरलता से सीख जाते हैं। द्विभाषी बच्चे के शब्द-कोश का विस्तार (size) एक भाषा सीखने वाले की अपेक्षा कम होता है और वाक्य-रचना भी उत्तम नहीं हो पाती। अध्ययन द्वारा यह देखा गया है कि दो भाषा सीखने के कारण विद्यालयों में छात्रों को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप उनकी शिक्षा-सम्बन्धी प्राप्ति (educational achievements) में कमी आ जाती है। दो भाषा सीखने के कारण एक ही चीज के लिए दो शब्द जानना आवश्यक हो जाता है। व्याकरण-सम्बन्धी नियम भी दोनों के भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः, इनके उचित प्रयोग में कठिनाई की सम्भावना बढ़ जाती है। इस दुभाषियेपन का प्रभाव बच्चों के संवेगात्मक तथा सामाजिक अभियोजन में भी अत्यधिक पड़ता है।

५. वातावरण (Environment)

भाषा-विकास में वातावरण का सबसे अधिक महत्त्व है। वस्तुतः वातावरण के अनुकूल ही बच्चों की भाषा का विकास होता है। जिस परिवार में बच्चा जन्म लेता है, उसका सबसे अधिक प्रभाव उसके विकास पर पड़ता है। जीवन के प्रारम्भिक भाग में बच्चे का सम्पर्क माँ के साथ सामान्यतः अधिक रहता है। माँ के साथ उसका कितना और कैसा संबंध रहता है,—उसके भाषा-विकास के लिए अधिक महत्वपूर्ण होता है। बच्चों के साथ माँ-बाप का जितना ही सुन्दर संबंध होगा, भाषा-विकास में उन्हें उतनी ही सुविधा प्राप्त होगी। अस्वस्थ संबंध के कारण उनका भाषा-विकास सामान्य रूप में नहीं हो पाता। देखा

गया है कि प्रायः जिस परिवार में एक ही बच्चा है, उसका अपनी माँ के साथ अधिकाधिक सम्पर्क होता है। फलतः, इसके भाषा-विकास में काफी सुविधा होती है।

भाषा-विकास को परिवार की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति (status) भी प्रभावित करती है। जिस परिवार का वातावरण उन्नत (advanced) है, वहाँ बच्चे शीघ्र ही बोलना प्रारम्भ कर देते हैं। वे अच्छी तरह बोलना सीख लेते हैं तथा अन्य बच्चों की अपेक्षा अधिक बोलते भी हैं। लेकिन, जिस परिवार के लोग अशिक्षित हैं तथा आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है—वहाँ बच्चे देर से बोलते हैं और उनका भाषा-विकास समुचित रूप से नहीं हो पाता। जर्सिल्ड (Jersild, 1954) का मत है कि उच्चतर सामाजिक-आर्थिक स्तर के परिवार में बच्चों का सम्पर्क माँ-बाप के साथ अधिक होता है, जिससे उनके भाषा-विकास में काफी सुविधा प्राप्त होती है। लेकिन, निर्धन परिवार में माँ-बाप के कार्य-व्यस्त रहने के कारण बच्चों का सम्पर्क उनके साथ बहुत ही कम होता है। फलतः उनके भाषा-विकास में उचित सुविधा प्राप्त नहीं हो पाती।

इसी तरह शिक्षित परिवार के व्यक्ति अपने बच्चों को प्रारम्भ से ही बोलना सिखाते हैं और उनके भाषा-विकास में काफी सुविधा देने की चेष्टा करते हैं। बच्चों को भी अधिक-से-अधिक शब्दों को अनुकरण द्वारा सीखने का अवसर प्राप्त होता है। यह सुविधा अशिक्षित परिवार में नहीं मिलती। उन्नत परिवार में बच्चों के बोलने का काफी महत्त्व दिया जाता है। अतः, शीघ्र तथा सफलतापूर्वक बोलने के लिये उन्हें काफी प्रोत्साहन तथा प्रशिक्षण (training) दिया जाता है। फलतः ऐसे उन्नत वातावरण में बच्चों का भाषा-विकास अनुकूल रूप में ही होता है। बच्चों का भाषा-विकास परिवार के अतिरिक्त समाज के अन्य बच्चों के सम्पर्क से भी प्रभावित होता है। खेलने में भाषा-प्रयोग आवश्यक होता है। जैसे साथी मिलते हैं, उसी प्रकार का वातावरण होता है, जिसमें बच्चे नये-नये शब्दों तथा उनका उपयोग सीखते हैं। खेलने में अपने विचारों को प्रगट करना तथा दूसरों के अभिप्राय को शब्दों के माध्यम से समझना आवश्यक हो जाता है। इस सिलसिले में अधिक आयु के बच्चों से अल्पायु बच्चे लाभान्वित होते हैं। लेकिन, यह ध्यान रखना है कि ये साथी किस प्रकार के परिवार से सम्बन्धित होते हैं और उनका भाषा-विकास कहाँ तक हुआ रहता है।

—o—

अध्याय ८

संवेगात्मक विकास

(EMOTIONAL DEVELOPMENT)

१. प्रारम्भ

बच्चों की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को मनोवैज्ञानिकों ने काफी महत्त्व दिया है। आनन्द, दुःख, भय, घृणा, क्रोध तथा अन्य संवेगात्मक प्रतिक्रियायें बच्चों के सामाजिक व्यवहार से सम्बद्ध है। संक्षिप्त रूप में, संवेग (emotion) की परिभाषा देना कठिन है, अतः हमलोग क्रोध, भय, आनन्द इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते है, जिनसे खास संवेगों का अर्थ स्पष्ट होता है। संवेगात्मक अनुभूतियों की विशेषताओं (charactoristics) का वर्णन हमारे लिये सुलभ मालूम पड़ता है; क्योंकि ये हमारे दैनिक जीवन में प्रकट होती रहती है। प्रायः हमलोग ऐसा कहते है कि "मुझे भय लगता है।" या "मुझे गुस्सा आ गया।" इत्यादि। केवल अनुभव तक ही संवेग सीमित नहीं रहता, बल्कि इनमें आवेग (impulse) या किसी-न-किसी रूप में कार्य करने की तैयारी (disposition to act) रहती है। उदाहरण के लिये, भय की अवस्था में भागना, क्रोधावस्था में आक्रमण करना तथा आनन्ददायक स्थिति

में गम्भीर रहना और देर तक ठहरना। अतः, संवेग में परिवर्तित मात्रा में भौतिक (physical) तथा शारीरिक (physiological) दोनों घटनाओं का समावेश रहता है। बच्चों के प्रत्यक्ष व्यवहार (overt behaviour) अर्थात् उनके क्रन्दन (cry) गति (movement) तथा मुखाकृति (facial expression) आदि पर ध्यान देने से यह स्पष्ट होता है कि नवजात शिशुओं की संवेगात्मक प्रतिक्रियायें बिल्कुल अस्पष्ट (diffused) तथा सामान्यित (generalised) होती है। इन प्रतिक्रियाओं से किसी विशेष प्रकार के संवेगात्मक व्यवहार को समझना कठिन मालूम पड़ता है।

नवजात शिशु के जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्तन होता है। जन्म के पूर्व वह जिस स्थिति अथवा वातावरण (pre-natal environment) में रहता है और उसका जो कुछ उसे अनुभव होता है, जन्म के बाद अपने-आप को उससे बिल्कुल भिन्न वातावरण में पाता है। गर्भस्थली के बाहर उसे एक विचित्र दुनिया (strange world) मिलती है, जहाँ की हर चीज उसके लिये नवीन होती है। प्रकाश, ध्वनि, गंध, स्वाद तथा सर्दी-गर्मी की स्थिति, सभी उसके लिये नवीन होते हैं। गर्भस्थली (womb) के अनुभव से बाहरी जगत के वातावरण का अनुभव भिन्न होता है। अतः, यह समझने में कठिनाई नहीं होती कि उसके भोजन (nourishment) में जब कभी विलम्ब होता है, तब उसमें शंका तथा भय (apprehension & fear) की एक व्याकुल स्थिति (overwhelming state) पैदा हो जाती है। इसका कारण है कि उसका अस्तित्व (existence) ही अधिक मात्रा में उस भोज्य पदार्थ पर निर्भर करता है। बच्चों की संवेगात्मक अभिव्यक्ति में काफी परिवर्तन होता जाता है। जैसा ऊपर देख चुके हैं कि नवजात शिशुओं की प्रतिक्रियायें प्रारम्भ में अस्पष्ट होती है; लेकिन ज्यों-ज्यों उनकी आयु अधिक होती जाती है, उनकी गति में विशेषता आती जाती है। वस्तुतः उनकी संवेगात्मक अभिव्यक्ति (emotional expression) का कुछ मात्रा में आयु के अनुरूप विशेषीकरण (specialisation) होता है। इस तरह, बच्चे आवेग के प्रति उचित प्रतिक्रिया प्रगट करने की क्षमता प्राप्त कर लेते है, ताकि अपने संवेगों की अभिव्यक्ति, वे स्पष्ट रूप से या अन्य तरह से कर सकें।

२. संवेगात्मक व्यवहार का प्रारम्भ

बच्चों की प्रारम्भिक संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं (early emotional responses) का अध्ययन कई मनोवैज्ञानिकों ने किया है। लेकिन, उन

सबों के निष्कर्ष में काफी भिन्नता है, अर्थात् उनमें मतैक्य नहीं। वाट्सन (watson) का विश्वास है कि भय, क्रोध तथा प्रेम जन्मजात (inborn) या मौलिक संवेग है। मेलन क्लाइन (Malanei klien) का मत है कि बच्चों में केवल प्रेम का ही संवेग पाया जाता है। इसी तरह शरमन (Sherman) तथा इरविन (Irwin) ने बतलाया कि बच्चों में उद्देश्यहीन (aimless) क्रिया प्रकट होती है। वस्तुतः अब वाट्सन के विचारों को मान्यता नहीं दी जाती है। आधुनिक अध्ययन के आधार पर यह माना जाता है कि प्रारम्भ में बच्चों में केवल 'स्पष्ट उत्तेजित अवस्था' (clear excitement) ही पायी जाती है। इस सिलसिले में ब्रिजेज (Bridges) का अध्ययन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। ब्रिजेज के अध्ययन की चर्चा हम विशद रूप में करेंगे।

वाट्सन का अध्ययन

प्रश्न उठता है- "क्या कोई संवेग जन्मजात होता है ? क्या वे एक दूसरे से भिन्न किये जा सकते है (differentiated) तथा अच्छी तरह पहचाने जा सकते है ?" कुछ मनोवैज्ञानिक तो इसके पक्ष में उत्तर देते है और कुछ विपक्ष में। लेकिन, सामान्यतः मान्य विचार यह है कि केवल "स्पष्ट उत्तेजित अवस्था" (clear excitement) ही नवजात शिशुओं में पाई जाती है।

दूसरा सम्भावित प्रश्न है—"नवजात शिशुओं में किन-किन संवेगों की अनुभूति होती है ?" इस प्रश्न के उत्तर के लिये वाट्सन तथा मॉरगन के अध्ययन का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। दोनों मनोवैज्ञानिकों ने इस समस्या (problem) पर अध्ययन करते हुए सबों का ध्यान आकृष्ट किया तथा सर्वप्रथम यह प्रमाणित किया कि शिशुओं में अनेक संवेग नहीं पाये जाते। इसके पुष्टिकरण के लिये दोनों ने प्रयोगात्मक अध्ययन किया, जो काफी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। बहुत-से शिशुओं को एकत्रित किया गया। इन शिशुओं को उन सारी वस्तुओं (objects) तथा परिस्थितियों (situations) के सम्पर्क में लाया गया, जो अन्य बच्चों तथा वयस्कों में सांवेगिक प्रतिक्रियायें उत्पन्न कर सकती थीं। इस तरह, विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाएँ उन्हें दी गईं और उनकी प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण किया गया। वाट्सन तथा मॉरगन

इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि शिशुओं में केवल भय (Fear), क्रोध (Anger) तथा प्रेम (Love)—ये तीन ही मौलिक (unlearned) प्रतिक्रियायें होती हैं।

अध्ययन के सिलसिले में वाट्सन ने देखा कि प्रेम की प्रतिक्रिया (Love response) शिशुओं में ओठ तथा कपोल को गुदगुदाने से होती है। इसी तरह स्पर्श उत्तेजना (tactile stimulation) द्वारा मुख्यतः शरीर के संवेदनशील भागों (जननेन्द्रिय, मुँह इत्यादि) को गुदगुदाने से भी ऐसी प्रतिक्रिया देखी जाती है। पीठ को थपथपाने (patting) से भी उन्हें आनन्द की प्रतीति होती है। प्रेम की प्रतिक्रियाओं के स्वरूपों पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि उनमें मुस्काना, किलकारी मारना (cooing) तथा हाथों को फैलाना आदि पाये जाते हैं।

दूसरे प्रयोग में वाट्सन ने देखा कि जोर से आवाज (Loud Sound) देने पर या आकस्मिक रूप में सहारे की कमी (Sudden loss of support) के कारण शिशुओं में भय उत्पन्न होते हैं। भय की प्रतिक्रियायें (fear responses) उनमें भिन्न-भिन्न तरह से होती हैं। साँस को रोकना, ओठ थरथराना, हाथ-पैर जिधर-तिधर फेंकना आदि देखे जाते हैं। उनकी आँखों के पुतलियों (pupils) में भी कंपन आ जाता है। बाद में क्रंदन (crying) भी उनमें देखा जाता है।

भय की तरह क्रोध की प्रतिक्रिया (anger response) भी शिशुओं में अधिक स्पष्ट मालूम पड़ी। शिशुओं की शारीरिक गति को रोक देने पर उनमें क्रोध की प्रतिक्रिया देखी गई। खेलते हुए शिशुओं के हाथ-पैर की गति को अवरुद्ध कर देने से वे चिल्लाने लगते हैं। क्रोधित अवस्था में उनका मुखमंडल लाल हो जाता है यानी चेहरा तमतमा जाता है। वे साँस को रोक लेते हैं तथा शरीर को कड़ा कर लेते हैं। फिर, उनके अवयव (limbs) में तीव्र गति होने लगती है और वे चिल्लाना शुरू कर देते हैं।

ये प्रतिक्रियायें हमेशा उन्हीं रूपों में नहीं रह जातीं। विकास के साथ-साथ इनमें भी परिवर्तन होता है। जब शिशुओं की आयु (age) अधिक होती है, तब उनमें विभिन्न प्रकार की संवेगात्मक प्रतिक्रियायें पायी जाती हैं। इनमें दूसरों को धक्का देना, दाँत काटना, झगड़ना तथा पीटना इत्यादि मुख्य व्यवहार हैं।

वाट्सन (watson) के अध्ययन से स्पष्ट है कि शिशुओं (infants) में केवल तीन ही मौलिक संवेग पाये जाते हैं। अन्य संवेग इन्हीं तीनों पर आधारित हैं, जो बाद में विकसित होते हैं। इसका पुष्टिकरण करते हुए उन्होंने बतलाया कि जीवन में नित्य नई-नई उत्तेजनाओं की संख्या बढ़ती जाती है, जिनके सम्पर्क में व्यक्ति को आनो पड़ता है। इन उत्तेजनाओं (stimuli) के साथ तीनों मौलिक संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं (unlearned responses) में से प्रत्येक का सम्बन्ध-प्रत्यावर्तन स्थापित हो जाता है। फलस्वरूप बड़े-बड़े बच्चों तथा वयस्कों (adults) में जटिल (complex) संवेग देखे जाते हैं।

वाट्सन के बाद का अध्ययन

वाट्सन के मत की जांच कई मनोवैज्ञानिकों द्वारा की गई। बाद के तीन दशाब्दियों (decades) में किये गये अन्वेषण (investigation) से यह पता लगता है कि अन्य मनोवैज्ञानिक *वाट्सन* के मत को प्रमाणित करने में असफल रहे। इन अन्वेषकों में *इरविन* (Irwin), *शरमन* (sherman), टेलर (Taylor) तथा ब्रिजेज (Bridges) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सबों का कथन है कि *वाट्सन* द्वारा प्रमाणित शैशवावस्था में तीन स्वाभाविक प्रतिक्रियायें (भय, प्रेम, क्रोध) उचित नहीं मालूम पड़ती। अतः, वाट्सन के प्राप्त निष्कर्ष की जाँच के लिये अनेक प्रयोग किये गये। इन सबों का जिक्र अलग-अलग करना यहाँ अपेक्षित है।

(क) *शरमन तथा शरमन* (Sherman and Sherman) ने १९२९ ई० में *वाट्सन* के द्वारा प्रयोग में लाई हुई सभी उत्तेजनाओं को ही अपने प्रयोग में लाया। इन उत्तेजनाओं में जोर की आवाज, शिशुओं को गिराना, शरीर की गति को अवरुद्ध करना तथा शरीर के संवेदनशील भागों को उत्तेजित (stimulating erogenous zones) आदि थे। *शरमन तथा शरमन* ने देखा कि शिशुओं का गिराने तथा जोर की आवाज देने पर भी सब-के-सब भयभीत नहीं होते। उसी तरह थपथपाने तथा ओठों को गुदगुदाने (stroking the lips) से भी प्रेम की प्रतिक्रिया स्पष्ट नहीं होती। अतः, किसी तरह की उत्तेजना के प्रति शिशुओं में एक तरह की उद्देश्यहीन क्रिया (aimless activity) देखी गई। *शरमन तथा शरमन* तीन मौलिक प्रतिक्रियाओं के सिद्धान्त को प्रमाणित करने में असमर्थ रहे।

(ख) दूसरे मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन के द्वारा *शरमन तथा शरमन* के प्राप्त निष्कर्षों की पुष्टि होती है। *इरविन* (Irwin) ने भी *वाट्सन* के मत की जाँच की और वे विपरीत निष्कर्ष पर पहुँचे। उन्होंने देखा कि सभी शिशुओं में वाट्सन की प्रणाली द्वारा ही किये गये प्रयोग में जोर की आवाज (loud sound) तथा गिरने से भय का संवेग (fear emotion) नहीं होता। १९३२ ई० में *इरविन* ने नमूना (sample) के तौर पर २४ शिशुओं को एकत्रित किया। उन्हें दो फीट की ऊँचाई से गिरा कर पकड़ लिया जाता था। देखा गया कि ८५ स्थितियों (situations) में केवल दो बार ही ये शिशु आकस्मिक रूप में सहारे की कमी (sudden loss of support) पाकर या तो प्रकंपित होते थे या रोने लगते थे। १२% घटनाओं (cases) में कोई भी प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया नहीं देखी गई। जोर की आवाज की उत्तेजना के प्रति भी कोई स्पष्ट प्रतिक्रिया नहीं पायी गई। अर्थात् विपरीत परिणाम (negative result) ही मिला। वस्तुतः शिशुओं में जो भी प्रतिक्रिया पाई गई, उसे *इरविन* ने स्थूल क्रिया (mass activity) या सामान्यित क्रिया (generalised activity) बतलाया।

(ग) १९३० ई० में *प्राट्* (Pratt) ने अनुसंधान के सिलसिले में ६९ शिशुओं पर परीक्षण (tests) किया। इन शिशुओं की बाहों (arms) को पकड़ लिया गया। प्राट् का अभिप्राय यह था कि इस तरह की प्रतिरोध-उत्तेजना (restrained stimulus) से उनमें क्रोध की प्रतिक्रिया होगी। ७५% से भी अधिक स्थितियों में ये शिशु गतिहीन (motionless) रहे।

(घ) १९३२ ई० में *ब्रिजेज* (Bridges) ने इस समस्या पर काफी महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया। उनका मत है कि शिशुओं में स्पष्ट रूप से भिन्न-भिन्न संवेग नहीं पाये जाते। उनमें प्रारम्भ में केवल उत्तेजित अवस्था (Excitement) पायी जाती है, जिसमें कोई संवेगात्मक प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप में नहीं मालूम पड़ती। अध्ययन के आधार पर *ब्रिजेज* ने बतलाया कि नवजात शिशुओं (neonates) की प्रतिक्रिया मुख्यतः "अभेदित उत्तेजित अवस्था" (undifferentiated excitement) ही किसी प्रकार की संवेगात्मक उत्तेजना के प्रति होती है। बाद में यह प्रतिक्रिया परिपक्वीकरण (maturation) तथा सीखने (learning) के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न सांवेगिक अवस्थाओं (emotional states) में विकसित हो जाती हैं। आयु-वृद्धि

के साथ ये प्रतिक्रियायें अधिक स्पष्ट होती जाती है और परिस्थिति के अनुसार उचित प्रतिक्रिया के रूप में प्रगट होती है। विशेष से यह भी प्रमाणित कि सामान्य संवेगात्मक उत्तेजित अवस्था (emotional excitement) से कष्ट (distress) तथा आनन्द (delight) दो तरह की प्रतिक्रियायें होती है और बाद में इनसे भय, क्रोध, घृणा (disgust), ईर्ष्या, आनन्द, हुलास (elation) तथा स्नेह (affection) आदि धीरे-धीरे विकसित होते है।

(क) १९३४ ई० में टेलर (Taylor) ने वाट्सन के अध्ययन की स्थितियों (Conditions) को सम्भवतः दुहराने की चेष्टा की। उन्होंने बड़ी सावधानी से सभी स्थितियों का निरीक्षण किया। अन्त में वे इस निर्णय पर पहुँचे कि जोर की आवाज, अचानक गिराना या गतियों के प्रतिरोध (restraint of movements) आदि उत्तेजनाओं के प्रति कोई भी स्थायी प्रतिक्रिया की प्रतिकृति (Constant response pattern) नहीं पाई गई।

ऊपर प्रस्तुत किये गये सभी मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन से ऐसा मालूम पड़ता है कि शिशुओं के संवेगात्मक व्यवहार का स्वरूप वाट्सन के मत के अनुकूल नहीं होता। भिन्न-भिन्न उत्तेजनाओं के प्रति विशिष्ट प्रतिक्रिया की प्रतिकृति (specific response pattern) नहीं होती। अर्थात्, शिशुओं में विशिष्ट संवेग (भय, क्रोध, प्रेम) प्रत्यक्ष रूप में नहीं पाये जाते। वस्तुतः उनके संवेगात्मक व्यवहार का स्वरूप अभेदित (undifferentiated) तथा शारीरिक मांसपेशियों की सामान्यित क्रिया (generalised activity) होती है। शिशुओं की संवेगात्मक प्रतिक्रिया से भिन्न-भिन्न संवेगों का परिचय असम्भव है।

३. संवेगात्मक व्यवहार का विकास

(Development of Emotional Behaviour)

नवजात शिशुओं में विशिष्ट संवेगात्मक प्रतिकृतियाँ (specific emo-tional patterns) नहीं देखी जाती। निरीक्षकों के लिये ऐसी प्रतिकृतियों

(patterns) में भेद बताना संभव नहीं, लेकिन अधिक आयु के बच्चों में भिन्न-भिन्न प्रकार के संवेगात्मक व्यवहार के प्रमाण मिलते हैं। इन व्यवहारों को उचित रूप में क्रोध, भय, प्रेम, हुलास (elation) ईर्ष्या (jealousy) इत्यादि कहा जा सकता है।

इस स्थल पर दो प्रश्न उठते हैं—१. ये संवेगात्मक प्रतिक्रियायें कब एक दूसरे से भिन्न रूप में स्पष्ट होती हैं और २. इन विभिन्न संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के विकास के क्रम (course) क्या हैं? इन प्रश्नों के उत्तर के लिये *ब्रिजेज* के अध्ययन पर ध्यान देना आवश्यक है। १९३२ ई० में ब्रिजेज ने बच्चों के संवेगात्मक विकास का बड़ा ही विस्तृत अध्ययन किया। इनमें जन्मकाल से लेकर २ वर्ष की आयु तक के बच्चे थे। मौलिक संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के सिलसिले में *ब्रिजेज* के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि किसी प्रकार की संवेगात्मक उत्तेजना के प्रति शिशुओं में केवल अभेदित उत्तेजित अवस्था (undifferentiated excitement) होती है। संवेगात्मक प्रतिक्रिया की इस सामान्य उत्तेजित अवस्था से परिपक्वीकरण (maturation) तथा सीखने (learning) के फलस्वरूप बहुत से संवेगों के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का प्रारम्भ हो जाता है।

ब्रिजेज (Bridges) ने बतलाया कि तीन महीने की आयु में शिशुओं में दो तरह की संवेगात्मक प्रतिक्रियायें पाई जाती हैं। ये हैं कष्ट, (distress) तथा आनन्द (delight)। कष्ट की हालत में रोना, साँस को रोकना तथा मांसपेशियों का तनाव देखा गया। आनंद की हालत में मुस्काना, गलगल करना (gurgling) तथा मांसपेशियों की शिथिलता देखी गई। छह महीने के लगभग कष्ट का विकास, क्रोध, घृणा तथा भय के संवेग में होता है। कुछ समय के बाद हुलास (elation) तथा अन्य व्यक्तियों के प्रति स्नेह (affection) का विकास आनंद (delight) की प्रतिक्रिया से होता है। अठारह महीने के लगभग कष्ट (distress) से ईर्ष्या की उत्पत्ति हो जाती है। साथ-ही-साथ व्यक्तियों के प्रति स्नेह का विकास भी दो मुख्य दिशाओं में हो जाता है। प्रथम, अन्य बच्चों के प्रति स्नेह और दूसरे, अन्य वयस्कों के प्रति स्नेह। अंत में यह भी देखा गया कि १८ और २४ महीने के बीच में हुलास (elation) तथा स्नेह (affection) के अतिरिक्त हर्ष (joy) की प्रतिक्रिया भी स्पष्ट थी।

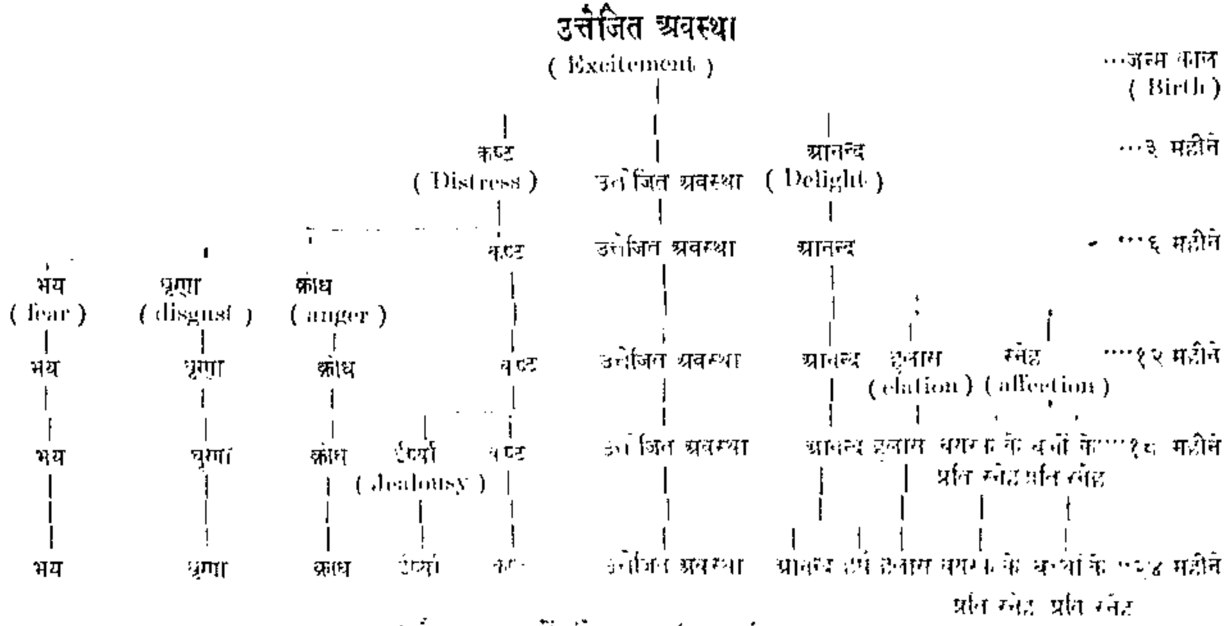

(शैशवावस्था में संवेगात्मक विकास के क्रम)

इस चित्र में *ब्रिजेस* के मत को दिखाया गया है, जिसका प्रतिपादन उन्होंने शैशवावस्था में संवेगात्मक विकास के क्रम में होने वाली सभी प्रतिक्रियाओं के अध्ययन के सिलसिले में किया ।

ब्रिजेज ने कुछ अधिक आयु (age) के बच्चों की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का भी अध्ययन १९३० ई० में किया। उनका मत है कि ५ वर्ष की आयु के लगभग अन्य संवेगों का विकास कष्ट (distress) तथा आनंद (delight) से होता है। इसमें स्पर्धा (envy), निराशा (disappointment), चिन्ता (anxiety) तथा शर्म (shame) आदि का कष्ट (distress) उद्गम स्थान होता है। अपत्य स्नेह (parental affection) तथा आशा (hope) आदि का विकास आनंद (delight) से होता है।

ब्रिजेज के सिद्धान्त का समर्थन

ब्रिजेज के इस सिद्धांत का समर्थन कई मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया गया है। इतना ही नहीं, जानवरों पर भी इस दिशा में प्रयोग हुए और प्राप्त निष्कर्ष द्वारा *ब्रिजेज* के मत का समर्थन हुआ।

ब्लाज (Blatz) तथा *मिलिशैम्प* (Millichamp) ने १९३५ ई० में पाँच बच्चों का अध्ययन किया, जिनकी आयु १ महीने से लेकर २ वर्ष तक थी। उनके अध्ययन से लगभग १८ संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के विकास-क्रम का उल्लेख मिलता है। हर तरह की प्रतिक्रिया किसी आयु विशेष में प्रगट होती है, लेकिन उसका स्वरूप आयु-वृद्धि के साथ लगातार परिवर्तित होता रहता है। फलतः परिस्थिति विशेष से ये प्रतिक्रियायें अधिक स्पष्ट (less defused) तथा अधिकाधिक विशिष्ट (more specific) होती जाती है। *बुहलर* (Buhler) ने भी अध्ययन के आधार पर बतलाया कि संवेगात्मक विकास के क्रम में आयु-वृद्धि के साथ भिन्न-भिन्न संवेग भी विकसित होने लगते है।

ब्रिजेज के मत के इस हद तक समर्थन के बावजूद कुछ अंतर मालूम पड़ता है। जहाँ तक *ब्रिजेज* द्वारा बतायी हुई आयु (age) का सम्बन्ध है कि किस आयु में कौन-कौन संवेग मौलिक प्रतिक्रिया के विकसित रूप होते है—ब्लाज तथा *मिलिशैम्प* उनसे सहमत नहीं है। लेकिन, यह मतान्तर यहाँ अधिक महत्त्व नहीं रखता ; क्योंकि सभी मनोवैज्ञानिक इस मत का समर्थन करते है कि संवेगात्मक विकास में एक विकासात्मक क्रम (developmental sequence) रहता है। इसके अतिरिक्त जन्म-काल में वर्तमान मौलिक प्रतिक्रिया से ही वयस्कावस्था के संवेगों के भिन्न-भिन्न स्वरूप विकसित होते है।

१९५८ ई० में मेलजैक (Melzack) ने कुत्ते पर प्रयोग किया। उन्होंने देखा कि विभिन्न संवेगात्मक उत्तेजनाओं (stimuli) के प्रति भी इन जानवरों की प्रारम्भिक प्रतिक्रिया सामान्य उत्तेजित अवस्था (general excitement) होती है। मेलजैक ने छोटे-छोटे कुत्ते के बच्चों को माँ से अलग कर पिंजरों में रखा। दो बच्चों को एक पिंजरे में रखा गया। ऐसा प्रबन्ध किया गया कि ये मानव-प्राणी अथवा पिंजरे के अतिरिक्त वातावरण की किसी वस्तु को नहीं देख पायें। यहाँ तक कि प्रयोगकर्त्ता भी उनके सम्पर्क में नहीं आ सके। इस तरह आठ महीने तक अलग रख कर उन्हें पाला गया और अंत में सजीव तथा निर्जीव वस्तुओं के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया गया।

अध्ययन के सिलसिले में देखा गया कि एक निर्जीव स्वेत खरगोश के प्रति कुत्ते के बच्चे की प्रतिक्रिया सामान्यित उत्तेजित अवस्था (generalised excitement) थी, जो ब्रिजेज द्वारा बताये हुए मानव-शिशुओं की प्रतिक्रिया के समान थी। दो सप्ताह तक जाँच (testing) होती रही। उत्तेजना के रूप में इन बच्चों को खरगोश, वनमानुष का सिर, बैलून तथा गतिशील मोटर (खिलौना) आदि दिये गये। जाँच-काल (testing period) के अंतिम भाग में कुत्ते के बच्चों में कम सामान्यित उत्तेजित अवस्था देखी गई। इन्होंने इन उत्तेजनाओं के सम्पर्क से दूर रहने की प्रतिक्रिया प्रगट की। यहाँ पर उनकी प्रतिक्रियाओं में अंतर (differentiation) देखा गया। नौ महीने के बाद उन्हीं कुत्तों पर फिर से जाँच की गई। इस बार बहुत ही कम सामान्यित उत्तेजित अवस्था देखी गई। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने खरगोश, बैलून तथा गतिशील खिलौने आदि उत्तेजनाओं से दूर रहने की चेष्टा प्रगट की। कभी-कभी तो वे उन वस्तुओं पर आक्रमण करते हुए भी देखे गये। इससे यह स्पष्ट हो गया कि इनमें क्रोध के संवेग भी विकसित हो चुके थे। अतः, इस तरह भिन्न-भिन्न संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के विकास-क्रम की जानकारी से ब्रिजेज के मत के समर्थन के पक्ष में पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं।

४. बच्चों के संवेगों की विशेषतायें

(Charactoristics of Children's emotions)

बच्चों के संवेग तथा वयस्कों के संवेग में अंतर है। हरलॉक (Hurlock) ने १९५० ई० के अध्ययन के आधार पर बच्चों के संवेगों की विशेषताओं को

बतलाया है कि ये अल्पकालीन (brief) होते हैं; इनमें तीव्रता की मात्रा का अभाव पाया जाता है। ये अस्थायी (tansitory) होते हैं तथा बार-बार प्रगट होते हैं। इन सबों की विवेचना यहाँ पर आवश्यक है।

(क) बच्चों के संवेग केवल कुछ मिनट तक ठहरते हैं। इन संवेगों की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप में और कभी-कभी तो भयानक रूप में होती है। लेकिन, शीघ्र ही ये विलीन हो जाते है। वयस्कों में ठीक इसके विपरीत काफी देर तक प्रतिक्रिया रहती है। ज्यों-ज्यों बच्चे बढ़ते हैं, सामाजिक मान्यता के अनुकूल अपनी संवेगात्मक अभिव्यक्ति पर नियंत्रण करना सीखते हैं। किशोरावस्था (adolescence) के लगभग विस्फोट की तरह संवेगात्मक अभिव्यक्ति प्रायः गौण हो जाती है। लेकिन, इसके बदले दूसरी तरह की प्रतिक्रिया देखी जाती है, जो काफी देर तक टिकती है। इस प्रतिक्रिया को चित्तवृत्ति (mood) कहते है।

(ख) बच्चों के संवेगों की दूसरी विशेषता है कि इनमें तीव्रता के क्रम का अभाव पाया जाता है। किसी भी उत्तेजना के प्रति उतनी ही प्रबल संवेगात्मक अभिव्यक्ति होती है, जितनी अन्य अधिक प्रभावोत्पादक उत्तेजना के प्रति। खासकर ऐसी बात तब होती है, जब हर्ष, भय अथवा क्रोध के संवेग के लिये अनुकूल परिस्थिति होती है। आयु-वृद्धि के फलस्वरूप ये प्रतिक्रियायें उत्तेजना के प्रति अधिक नियंत्रित तथा अधिक उपयुक्त (appropriate) हो जाती है। सामाजिक मान्यता के अनुसार इन प्रतिक्रियाओं में परिवर्तन भी सम्भव होता है। किशोरावस्था के लगभग ये बच्चे अपने क्रोध तथा अन्य प्रबल संवेगात्मक अभिव्यक्तियों को शैशवकाल की अभिव्यक्ति समझने लगते है और उनपर अधिकार पाने की चेष्टा करते हैं।

(ग) तीसरी विशेषता यह है कि बच्चों के संवेग का स्वभाव अस्थायी (transitory) होता है। छोटे-छोटे बच्चों की आँखों में कभी आँसू और शीघ्र ही हँसी दृष्टिगत होती है। कभी वे व्यग्र दीख पड़ते है और उनकी भौंहें तनी रहती हैं, तो कभी शीघ्र ही उनके मुँह पर मुस्कान दीख पड़ती है। एक के बाद दूसरी प्रतिक्रिया शीघ्र ही परिवर्तित हो जाती है। प्रारम्भिक किशोरावस्था में प्रायः देखा जाता है कि एक ही दिन कभी किशोर हर्षित है, तो कभी दुःख में डूबे हुए। बाल्यावस्था तथा प्रारम्भिक किशोरावस्था के संवेगों के अस्थायीपन में अंतर है। बच्चों के संवेग की क्षणभंगुरता

अधिकतर उनकी शारीरिक अवस्था (physical condition) पर निर्भर करती है। लेकिन, किशोरों के संवेग की अभिव्यक्ति अधिकतर वातावरण की अवस्थाओं (environmental conditions) तथा आत्म-मूल्यांकन (Self-valuations) द्वारा प्रभावित होती है।

(घ) बच्चों के संवेगों की चौथी विशेषता है कि ये बार-बार (frequently) प्रगट होते है। दिनभर में इन बच्चों को समय-समय पर भयभीत होना, क्रोधित होना, हँसना तथा आह्लादित होना आदि देखा जाता है। शीघ्र ही ये बच्चे यह सीखते है कि समाज उनके इस तरह को अधिकाधिक सांवेगिक प्रतिक्रियाओं या व्यवहारों की स्वीकृति ([illegible]) नहीं देता। अतः, वे यह तर्क करते है कि उन्हें संवेग उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियों के साथ उपयुक्त ढंग से अभियोजन (adjustment) स्थापित करना चाहिये। इसके अनुसार ज्यों-ज्यों बच्चे बढ़ते हैं, उनकी प्रत्यक्ष प्रतिक्रियाओं (overt responses) की बारम्बारता (frequeney) में शनैः-शनैः कमी आ जाती है।

५. परिपक्वीकरण तथा संवेगात्मक विकास

(Maturation and Emotional Development)

परिपक्वीकरण के महत्त्व की जांच के लिये यह आवश्यक है कि बच्चो के जन्म के बाद बिल्कुल निर्जन स्थान (complete isolation) में पाला जाय और तब उनपर अध्ययन किया जाय। लेकिन, यह असम्भव मालूम पड़ता है; क्योंकि बच्चों के पालन-पोषण के लिये किसी-न-किसी प्राणी की आवश्यकता होती है और सामाजिक वातावरण वहाँ उपस्थित हो जाता है। अतः, इस तरह के प्रयोग के लिये अधिक सुविधाजनक अवस्था तभी हो सकती है, जब किसी जन्मान्ध तथा जन्म से ही बहरे व्यक्ति का अध्ययन किया जाय। ऐसे व्यक्तियों को अनुकरण द्वारा किसी तरह के संवेगात्मक व्यवहार को सीखने का अवसर नहीं प्राप्त होता। देखने तथा सुनने की अयोग्यता या अक्षमता (unability) के कारण अन्य व्यक्तियों की विभिन्नता संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को वे अनुकरण के द्वारा नहीं सीख पाते। उदाहरण के लिये, क्रोध की अवस्था में मुट्ठी बाँधना तथा अन्य सांवेगिक अवस्था में हँसना, आह्लादित होना आदि। प्रयोग के लिये ऐसे प्रयोज्य (subject) जो जन्मान्ध तथा जन्म से ही बहरा हो, विरले ही प्राप्त होते है।

१९३२ ई० में *गुडएनफ* (Goodenough) को ऐसी ही एक १० वर्षीय बालिका जो जन्मान्ध तथा जन्म से बहरी थी, के संवेगात्मक व्यवहार का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। इस बालिका को विभिन्न प्रकार के संवेग-उत्तेजक उत्तेजना (emotion provoking stimuli) दी गई और उनकी प्रतिक्रियाओं को स्थायी रूप में चलचित्र के द्वारा अंकित किया गया। इस बालिका ने क्रोध (anger) की भयानक अभिव्यक्ति (temper tantrums), संकोच अथवा भय (timidity), हर्ष तथा द्वेष (resetment) आदि व्यवहार प्रदर्शित किये। इसमें ऐसी भी बहुत संवेगात्मक प्रतिक्रियायें देखी गईं, जो सामान्य बच्चों में रहती हैं। *गुडएनफ* इस निष्कर्ष पर पहुँची कि संवेगों की अधिकांश प्रत्यक्ष विशेषतायें (overt charactoristics) बिना सीखी हुई (unlearned) होती हैं। *गुडएनफ* के मतानुसार ऐसे व्यक्तियों की मौलिक संवेगात्मक प्रतिक्रियायें जिनकी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ सामान्य स्थिति में हों, समाज के द्वारा स्वीकृत व्यवहार से इस हद तक प्रभावित हो जाती हैं कि उनकी मौलिक तथा अर्जित (native and acquired) प्रतिक्रिया-प्रतिकृतियों (reaction patterns) का विभेद मुश्किल मालूम पड़ता है।

१९४१ ई० में *थॉम्पसन* (Thompson) ने ७ सप्ताह से लेकर १३ वर्ष तक के २६ अंधे तथा २९ अन्य सामान्य बच्चों के मुखाकृतिक अभिव्यंजन (facial expression) का तुलनात्मक अध्ययन किया। अध्ययन के लिये छाया-चित्र प्रणाली (photographic method) का सहारा लिया गया। विभिन्न प्रकार की संवेगात्मक परिस्थितियों में बच्चों की अभिव्यक्तियों का लिखित विवरण (record) तैयार किया गया। अंधे तथा देख सकने वाले बच्चों ने क्रोध, उद्विग्नता (sulkiness) तथा उदासी (sadness) की अवस्था में समान प्रतिक्रिया-प्रतिकृति प्रदर्शित की। अन्तर केवल इतना ही था कि देख सकने वाले बच्चों की अभिव्यक्ति अधिक अभिन्न (uniform) थी। कुछ अधिक आयु के अंधे बच्चों ने मुस्काने की अवस्था में कम मुखाकृतिक अभिव्यंजन प्रगट किया। भय की स्थिति में अंधे बच्चों में कोई विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं देखी गई। *थॉम्पसन* को ऐसा मालूम पड़ा कि भय की प्रतिक्रिया के लिये दी गई उत्तेजना उपयुक्त (adequate) नहीं हो सकी होगी। *थॉम्पसन* इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि समान आयु के अंधे तथा देख सकने वाले बच्चों की संवेगात्मक प्रतिक्रिया-प्रतिकृति (emotional response pattern)

समान होती है। अतः, संवेगात्मक अभिव्यक्ति परिपक्वीकरण के फलस्वरूप होती है।

प्रश्न उठता है कि अगर संवेगात्मक प्रतिक्रियायें अर्जित नहीं होतीं, तो कौन-कौन-सी ऐसी अवस्थायें या परिस्थितियाँ होती है, जिनसे ये प्रतिक्रियायें सम्भव हो पाती है? देखा गया कि ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ तथा परिस्थितियाँ है, जिनके प्रति शिशुओं में कोई भी स्पष्ट संवेगात्मक प्रतिक्रियायें नहीं होतीं; लेकिन कुछ समय (महीने या वर्ष) के बाद उनमें ये संवेगात्मक व्यवहार स्पष्ट हो जाते हैं। छोटे-छोटे बच्चे अंधकार, जानवर, तथा नवागंतुक (strangers) से पहले भयभीत नहीं होते, लेकिन बड़े होने पर इन सभी अवस्थाओं में वे डरने लगते हैं। इस समस्या पर *वाट्सन* (Watson) ने प्रमाणित करके बतलाया कि बच्चे संबंध-प्रत्यावर्तन (conditioned reflex) के द्वारा डरना सीखते हैं। लेकिन, *जोन्स तथा जोन्स* (Jones and Jones) और *वैलेन्टाइन* (Valentine) का मत है कि बच्चे परिपक्वीकरण (maturation) के कारण ही भयभीत होते हैं। अब हम *जोन्स तथा जोन्स* के प्रयोग का अध्ययन करेंगे।

१९२८ ई० में *जोन्स तथा जोन्स* (Jones and Jones) ने ५१ बच्चे तथा ९० वयस्कों की प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण किया। इन व्यक्तियों को एक साँप को हाथ से पकड़ने का आदेश दिया गया। देखना था कि वे किस तरह इस परिस्थिति का सामना करते है। देखा गया कि २ वर्ष से कम आयु के बच्चों ने साँप को खेलने की चीज समझकर उसे पकड़ लिया और तनिक भी भयभीत नहीं हुए। ३--३½ वर्ष की आयु में वे साँप को देखते ही सावधान (cautious) हो गये और काफी ध्यान से उसे देखते रहे। ४ वर्ष की आयु के बाद बच्चों में प्रत्यक्ष रूप से भय का व्यवहार देखा गया। वयस्कों (adults) में भय का संवेग अधिक निश्चित रूप में देखा गया। इस प्रयोग का अध्ययन निम्नलिखित ढंग से किया जा सकता है।

आयु (age)	परिस्थिति	प्रतिक्रिया (Response)
जन्म से लेकर २ वर्ष तक	साँप को पकड़ना	भय नहीं
३ वर्ष से ३½ तक	,,	सावधानी तथा ध्यान केंद्रित करना
४ वर्ष के बाद	,,	निश्चित भय
वयस्क (adults)	,,	अधिक निश्चित भय

जोन्स तथा जोन्स ने इस अध्ययन के आधार पर बतलाया कि ये बच्चे कहानी सुनकर, पढ़कर, चित्रों को देखकर या साँप से मिलते-जुलते जानवरों के वास्तविक सम्पर्क में आकर डरना नहीं सीखे होंगे। उनका मत है कि भय की प्रतिक्रिया क्रमशः (gradually) प्रगट होती है; क्योंकि सांवेगिक प्रतिक्रियाओं को बच्चों के ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक पक्ष और सामान्य शारीरिक विकास पर निर्भर करना पड़ता है। इस विकास से उनका बौद्धिक विकास भी होता है तथा नवीन वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण में भी सुविधा प्राप्त होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि संवेगात्मक प्रतिक्रियायें केवल परिस्थितियों के परिवर्तन पर निर्भर नहीं करतीं, बल्कि बच्चों के विकास पर भी निर्भर करती हैं। ज्यों-ज्यों बच्चे विकसित होते हैं, उनका बौद्धिक विकास होता है तथा परिस्थितियों के अर्थ भी उन्हें स्पष्ट (clear) हो जाते हैं। नई वस्तुओं तथा अपरिचित परिस्थितियों (strnge situations) से अधिक आयु के बच्चे भी इसलिए डरते हैं कि उन्हें इनका पूर्ण ज्ञान अथवा अर्थ समझ में आ जाता है। वस्तुतः इन बच्चों में भय की प्रतिक्रिया तभी देखी जाती है, जब ये किसी परिस्थिति में संभावित खतरे (potential danger) को अच्छी तरह समझ लेते हैं और उसे अपने अधिकार से परे समझते हैं।

गेसेल (Gesell) का मत है कि शैशव काल में संवेगात्मक प्रतिकृति (emotional pattern) आन्तरिक परिपक्वीकरण तथा अनुभव के द्वारा ही विभिन्न रूपों में विकसित होता है। वे बतलाते है कि एक १० सप्ताह का बच्चा घेरी हुई संकीर्ण जगह में सीमित (confined) रह सकता है और उसमें कष्ट या उद्विग्नता (annoyance) का कोई चिह्न नहीं दीख पड़ता। २० सप्ताह की आयु में बहुत हल्की उद्विग्नता देखी जा सकती है। ३० सप्ताह की आयु में क्रंदन द्वारा वह अपनी असंतुष्टि (dissatisfaction) को इतने प्रबल रूप से व्यक्त कर सकता है कि उसकी प्रतिक्रिया को निश्चित रूप से संवेगात्मक व्यवहार समझा जा सकता है।

संवेगात्मक विकास कहाँ तक परिपक्वीकरण पर निर्भर करता है, इसका प्रमाण जानवरों पर किये गये प्रयोगों के द्वारा भी मिलता है। १९४६ ई० में *हेब* (Hebb) ने वनमानुषों (chimpanzess) पर अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि प्रौढ़ वनमानुष भी सर्वप्रथम दिये गये विभिन्न वस्तुओं से भयभीत हो गये; लेकिन बच्चे वनमानुषों (young chimpanzess) में

इस तरह की भय की प्रतिक्रिया नहीं देखी गई। इससे भी इस मत की पुष्टि होती है कि परिपक्वीकरण अथवा आयु विशेष पर ही संवेगात्मक विकास निर्भर करता है।

६. सीखना और संवेगात्मक विकास

(Learning and Emotinal Development)

सीखने के प्रभाव को जानने के लिये अगर बच्चों के संवेग तथा उनके मां-बाप के संवेगों का तुलनात्मक अध्ययन करें, तो ज्ञात होता है कि मां-बाप की अभिव्यक्ति के अनुरूप ही बच्चों की अभिव्यक्ति समान उत्तेजना के प्रति होती है। १९३२ ई० में *हगमैन* (Hugman) ने कुछ पूर्व-[illegible] आयु के बच्चों तथा उनकी माताओं के भय (fear) की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया। वे इस निर्णय पर पहुंचे कि परिस्थिति-विशेष में बच्चे डरना सीख लेते है; क्योंकि उसी तरह की परिस्थिति में वे अपनी माताओं को डरते हुए देखते है। अगर मां आकाश में चमकती हुई बिजली तथा साथ-साथ गरजते हुए बादल से भयभीत होती है, तो बच्चे भी ऐसी परिस्थिति में डरना सीख लेते हैं। किसी भयानक जानवर से अन्य व्यक्तियों को डरते तथा उससे बचने की चेष्टा करते देखकर, बच्चे भी भागने या छिपने की प्रतिक्रिया करते है। हमलोगों के दैनिक जीवन में प्राय: ऐसी घटना होती है कि रात्रि के अंधकार में निर्जन स्थान की ओर जाने में परिवार के प्रौढ़ व्यक्ति भी डरते है। बच्चे भी उसी तरह अंधकार से डरना सीख लेते हैं।

इस तरह हम देखते है कि अनुकरण के द्वारा बच्चे डरना सीखते हैं। प्रथम उदाहरण में यह स्पष्ट होता है कि किसी समुदाय में संस्कृति के अनुकूल जिस तरह की संवेगात्मक अनुभूतियाँ होती है, अन्य व्यक्ति भी उसका अनुकरण कर लेते है। इससे समाज तथा संस्कृति की विशेषता जाहिर होती है और सभी व्यक्तियो को समानता (conformity) कायम रखनी पड़ती है। *हगमैंने* (Hugman) के अध्ययन से यह निश्चित होता है कि बच्चे माँ की प्रतिक्रियाओं का अनुकरण करके ही डरना सीखते हैं। अगर उनकी माँ अंधकार में अथवा विद्युतप्रभा (Lightning) में भयभीत नहीं होती, तो बच्चे डरना नही सीखते। बच्चे प्राय: अपने परिवार में माँ-बाप या अन्य व्यक्तियों की सभी तरह की प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण करते है, जो परिस्थिति

विशेष में डरते हैं। फिर, उनके व्यवहार का अनुकरण बच्चों के लिये स्वाभाविक हो जाता है। ठीक इसी तरह अगर बच्चे बाद में यह देखते है कि उनके माँ-बाप उन्हीं परिस्थितियों में भयभीत नहीं होते, तो धीरे-धीरे उनका भी भय दूर हो जाता है। दिन के प्रकाश, मंदिर की घंटी, पालतू कुत्ते तथा परिचित व्यक्तियों से बच्चे नहीं डरते; क्योंकि इनसे उनके माँ-बाप तथा अभिभावक भी नहीं डरते। ठीक इसके विपरीत रात्रि के अंधकार में बादल के गर्जन, भयानक जानवर तथा अपरिचित व्यक्तियों से बच्चे डरते है; क्योंकि इन परिस्थितियों में अपने माँ-बाप या अभिभावक के भय की प्रतिक्रियाओं का उन्हें अनुकरण करने का अवसर प्राप्त होता है।

सम्बद्ध प्रत्यावर्तन (conditioning) के फलस्वरूप भी संवेगात्मक व्यवहार होते है। इस सिलसिले में अलबर्ट (Albert) नामक बच्चे पर वाटसन (Watson) तथा रेयनर (Raynor) का अध्ययन काफी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस प्रयोग के द्वारा यह प्रमाणित किया गया कि सम्बद्ध प्रत्यावर्तन के द्वारा संवेगात्मक प्रतिक्रिया अर्जित होती है। प्रयोग के समय अलबर्ट की आयु ९ महीने की थी और वह चूहे, खरगोश, कुत्ते अथवा ऊन की बनी गेंद से बिल्कुल नहीं डरता था। लेकिन, आकस्मिक रूप से जब जोर की आवाज (Loud noise) दी गई, तब उसमें भय के चिन्ह दीख पड़े। वाटसन तथा रेयनर ने १९२० ई० में यह प्रयोग किया। फिर उन्होंने अलबर्ट में निम्नलिखित ढंग से भय उत्पन्न किया। अलबर्ट के सामने एक चूहा रखा गया। ज्यों ही वह चूहा को छूना चाहता था, पीछे से बहुत जोर की आवाज दी गई। अलबर्ट भयभीत हो गया और गिर पड़ा। दूसरी बार जब यह स्थिति (Condition) दुहराई गई, अलबर्ट ने धीमी आवाज में रोना शुरू कर दिया। एक सप्ताह के बाद अलबर्ट के सामने चूहे के साथ जोर की आवाज की स्थिति पाँच बार उपस्थित की गई। फलतः चूहे के नजदीक जाने की बात क्या, वह चूहे को देखते ही सिमट गया तथा रोने लगा और उसमें भय के लक्षण भी स्पष्ट रूप में दीख पड़े। अलबर्ट जिस वस्तु से पहले नहीं डरता था, उससे सम्बद्ध प्रत्यावर्तन अथवा साहचर्य के द्वारा डरना सीख गया। बाद में चूहे से मिलती-जुलती रोएँदार चीजों से वह डरने लगा। जैसे; कुत्ता, बिल्ली, खरगोश तथा रोएँदार कपड़े इत्यादि। लेकिन, जो चीज चूहे से समानता नहीं रखती थी, उससे अलबर्ट भयभीत नहीं हुआ। काठ की बनी चीजें तथा खिलौने आदि के प्रति उसमें भय की प्रतिक्रिया नहीं देखी गई।

इस तरह यह देखा जाता है कि भय की प्रतिक्रिया पहले किसी खास वस्तु के प्रति होती है और बाद में भिन्न-भिन्न प्रकार की समान वस्तुओं के प्रति सामान्यित (generalized) हो जाती है।

क्रोध (Anger) में भी यही बात है। ब्रुक्स (Brooks) ने उल्लेख किया है कि लड़कों के प्रति की गई गालियों में क्रोध की प्रतिक्रिया होती है। यद्यपि शब्द स्वतः निर्दोष (Harmless) तथा कोमल उत्तेजना (mild stimuli) के रूप में रहते हैं, फिर भी, इतने शब्द क्रोध की प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं, तो इसका प्रमुख कारण है कि वे शब्द जिन्हीं अन्य उत्तेजनाओं के साथ प्रकट होते हैं, जिनमें क्रोध को उत्तेजित करने की अत्यधिक शक्ति रहती है। संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को दूर करने के सिलसिले में भी संवेगात्मक व्यवहार पर सीखने के प्रभाव को देखा जा सकता है। प्रायः यह अवस्था तब आती है, जब संवेग उत्पन्न करनेवाली उत्तेजनाओं को बार-बार दुहराया जाता है और बच्चों को यह विश्वास दिलाया जाता है कि उक्त स्थिति (भय की उत्तेजना) में डरने की कोई बात नहीं। उदाहरण के लिये, अगर कोई बच्चा कुत्तों से डरना सीख चुका है, तो उसके भय को दूर करने के लिये ऐसे कुत्तों का साहचर्य (association) आवश्यक है जो निर्दोष हों तथा साथी की तरह उसके साथ खेल-कूद करें अथवा आनन्ददायक परिस्थिति में कुत्तों के सम्पर्क (Contact) में आने पर भी बच्चों में यह विश्वास हो जाय कि ये निर्दोष हैं और इनसे डरना व्यर्थ है।

जरसिल्ड (Jersild) तथा *होम्स* (Holmes) के अध्ययन में सामान्यीकरण (generalization) का अच्छा उदाहरण मिलता है। जब किसी उत्तेजना के प्रति संवेगात्मक प्रतिक्रिया होती है, तब उस उत्तेजना से मिलती-जुलती वस्तुओं के प्रति भी संवेगात्मक प्रतिक्रिया भी देखी जाती है। इस तरह का सीखना सामान्यीकरण के द्वारा ही होता है। जरसिल्ड तथा *होम्स* के अध्ययन से पता चलता है कि बच्चे रेडियो (Radio) सुनते हैं, लेकिन उसमें जोर की आवाज या हल्ला-गुल्ला सुनकर डर जाते हैं। बाद में वे रेडियो से भी डरने लगते हैं। कहानी में हत्यारे तथा अपहरण (kidnap) करनेवाले व्यक्तियों के बारे में सुनकर बच्चे अकेले कहीं बाहर जाने में डरने लगते हैं। अतः, सामान्यीकरण के द्वारा किसी वस्तु अथवा परिस्थिति से

समानता रखनेवाली सभी वस्तुओं अथवा परिस्थितियों से बच्चे साहचर्य (assoication) स्थापित कर लेते है और उसके अनुरूप ही प्रतिक्रिया प्रगट करते हैं।

निष्कर्ष

सभी प्रयोगों तथा प्रमाणों की विवेचना करते हुए यह स्पष्ट होता है कि संवेगात्मक व्यवहार पर सीखने का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। अनुकरण के द्वारा तथा सम्बद्ध प्रत्यावर्तन के द्वारा बच्चे सीखते हैं। इन सिद्धान्तों के द्वारा वे संवेगात्मक अभिव्यक्ति भी सीखते है। *वाट्सन* के प्रयोग में हम यह देखते हैं कि अलबर्ट सम्बद्ध-प्रत्यावर्तन द्वारा ही चूहे से डरना सीखता है, फिर दूसरी ओर यह भी देखते हैं कि डरना सीखने के बाद अगर उस उत्तेजना को बार-बार फिर दिया जाय और बच्चों को यह विश्वास दिलाया जाय कि वह वस्तु निर्दोष है, तो उनका भय दूर हो जा सकता है। अतः, दूसरी स्थिति में बच्चा भय को हटाना सीखता है। *जुक्स* के मत की छानबीन करने पर यह ज्ञात होता है कि किसी शब्द के प्रति क्रोध का संवेग इसलिये होता है कि उस शब्द के साथ किसी ऐसी उत्तेजना का सम्बन्ध रहता है, जो क्रोध के संवेग को उत्पन्न कर सके। अतः, इस स्थिति में भी सम्बद्ध प्रत्यावर्तन का ही प्रमुख हाथ रहता है कि केवल शब्द के प्रति क्रोध की अभिव्यक्ति बच्चे सीख लेते हैं। अंत में, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सीखने के फलस्वरूप हम संवेगात्मक व्यवहार को अर्जित कर सकते है और उसका परित्याग भी।

—०—

अध्याय ९

विशिष्ट संवेग

SPECIFIC EMOTIONS

भय (Fear)

भय की उत्पत्ति

हमलोग जान चुके हैं कि भय का विकास परिपक्वीकरण (maturation) तथा सीखने (Learning) के फलस्वरूप होता है। अन्यान्य संवेगों की तरह भय का संवेग भी बच्चों में अधिकांशतः देखा जाता है। चार वर्ष की आयु के पहले बच्चों में साँप के प्रति कम भय दीख पड़ा। लेकिन, चार वर्ष से अधिक आयु के बच्चों में प्रत्यक्ष रूप से भय का संवेग देखा गया। कारण, परिपक्वीकरण के फलस्वरूप बच्चे परिस्थिति के अर्थ को समझने की क्षमता प्राप्त कर लेते है कि किसी वस्तु अथवा परिस्थिति से कितना खतरा है। यह भी देखा गया कि अनुकरण (imitation) अथवा सम्बद्ध प्रत्यावर्तन (Conditioning) के द्वारा भी बच्चे डरना सीखते हैं। *वाट्सन* (watson) के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है। *लाक्टन* (Lawton) ने १९३८ ई० में बतलाया

कि अर्जित भय (Learned fears) तीन तरह के होते हैं और उनमें प्रत्येक विभिन्न तरीकों से सीखे जाते हैं।

प्रथम, सम्बद्ध प्रत्यावर्तन (Conditioning) के द्वारा बच्चे डरना सीखते हैं। उजले चूहे के प्रति अलबर्ट नामक बच्चे का डरना इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है जिसका प्रयोग वाट्सन ने किया था।

दूसरा, अनुकरण (imitation) के द्वारा भयभीत होना भी बच्चे सीखते हैं। अपने माँ-बाप, साथी तथा अन्य व्यक्तियों के भय की प्रतिक्रिया का वे अनुकरण करके स्वयं डरना सीख लेते हैं।

तीसरा, अप्रुखद अनुभूति (unplease ant experience) के कारण भी बच्चों में भय की उत्पत्ति होती है। डाक्टर द्वारा दी गई सूई का अनुभव बच्चों के लिए बड़ा ही अप्रुखद होता है। अतः, डॉक्टर को देखते ही वे भयभीत हो जाते हैं। इसी तरह किसी जानवर के सम्पर्क में अगर कोई दुःखद घटना घट जाती है, तो बच्चे फिर उससे डरने लगते हैं।

इस तरह अगर *वाट्सन* (watson) *जोन्स तथा जोन्स* (Jones & Jones) तथा *गेसेल* (Gesell) के प्रयोगों (experiments) पर ध्यान दें, तो सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। *वाट्सन* ने सम्बद्ध प्रत्यावर्त्तन के द्वारा बच्चों का डरना प्रमाणित किया। *जोन्स तथा जोन्स* ने परिपक्वीकरण के फलस्वरूप बच्चों का डरना बतलाया। *गेसेल* का भी कथन है कि परिपक्वीकरण तथा अनुभूति के कारण ही बच्चे डरना सीखते हैं।

भय की उत्तेजनाओं की विशेषताएँ

बच्चों का भयभीत होना इस बात पर निर्भर करता है कि उत्तेजनायें किस प्रकार उनके सामने उपस्थित होती हैं। उत्तेजनाओं की विशेषताओं पर ही बच्चों का डरना निर्भर करता है। किसी भी उत्तेजना की आकस्मिक उपस्थिति के प्रति बच्चे भयभीत हो जाते हैं ; क्योंकि उसके साथ कम समय में वे अपना अभियोजन स्थापित नहीं कर सकते। अतः, उत्तेजनाओं का अकस्मात् (unexpectedly) अथवा एकाएक उपस्थित होना ही बच्चों के भय का कारण होता है। यह भय की उत्तेजनाओं की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता समझी जाती है। *इंगलिश* (English) ने १९२९ ई० में यह प्रमाणित किया कि भय की उत्पत्ति जोर की आवाज के कारण ही होती है। *जोन्स तथा जोन्स* ने

१९३३ ई० में बतलाया कि मेढ़क (frog) की आकस्मिक छलांग (unexpected leap) बच्चों में भय उत्पन्न कर सकती है। अतः ऐसा ज्ञात होता है कि केवल उत्तेजनाओं से ही भय उत्पन्न नहीं होता, बल्कि उनकी विशेषताओं (Charactoristics) का भी अधिक महत्त्व रहता है। भय उत्पन्न करने वाली उत्तेजना की दूसरी विशेषता है, उसकी नवीनता (novelty)। नवीनता से मतलब है, जिन वस्तुओं अथवा परिस्थितियों से बच्चे परिचित न हों। बिल्कुल नवीन उत्तेजनाओं के प्रति भी बच्चों में भय की प्रतिक्रिया देखी जाती है। परिचित व्यक्ति भी अगर कोई ऐसी पोशाक पहने हो, जिससे उसमें विचित्रता (strangeness) आ जाय अथवा वह अपरिचित मालूम पड़े, तो बच्चों के लिए वह भय की उत्तेजना के रूप में ही होगी। यह भी मालूम पड़ता है कि भूख तथा थकावट की अवस्था में भय की सम्भावना अधिक रहती है। आवेगिक संक्षोभ (emotional disturbance) स्थिति में भय आसानी से उत्पन्न होता है। अकेलेपन की अवस्था में भी बच्चे डरते हैं। देखा गया है कि विगत असुखद अनुभूति (Past unpleasant experience) के कारण भी बच्चों में भय आसानी से उत्पन्न होता है।

बच्चों में भय की प्रतिक्रिया

भय की अवस्था में रोना तथा अचानक कुछ देर के लिये साँस को रोकना बच्चों में देखा जाता है। उनकी शारीरिक क्रियायें भी रुक जाती हैं। इस अवस्था में सहायता के लिये ही बच्चे रोते हैं। चेहरे को छिपाना, भयानक वस्तु से दूर जाना आदि व्यवहार उनमें पाये जाते हैं। इस अवस्था में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में अधिक प्रत्यक्ष रूप में भय की अभिव्यक्ति देखी जाती है।

धीरे-धीरे बच्चे में नवीन वस्तु, शोरगुल तथा जानवरों के प्रति भय की प्रतिक्रिया में कमी देखी जाती है और नये-नये भय उत्पन्न होने लगते हैं। इसका कारण है कि आयु-वृद्धि के साथ-साथ उनकी समझ में भी काफी परिवर्तन होता जाता है। फलतः उनमें काल्पनिक भय की मात्रा अधिक देखी जाती है। भयानक वस्तु, अंधकार, मृत्यु तथा काल्पनिक जन्तुओं के प्रति उनका भय बढ़ने लगता है। इतना निश्चित रूप से देखा जाता है कि उनके भय की संख्या तथा तीव्रता में काफी कमी हो जाती है। फिर भी, बौद्धिक तथा काल्पनिक विकास के फलस्वरूप निर्जन स्थान, अग्नि, कारागार तथा भूत-प्रेत आदि के प्रति उनका भय बढ़ जाता है। भय की स्थिति में बच्चे भय की उत्तेजना से दूर होने की ही प्रतिक्रिया करते हैं। छोटे-छोटे बच्चे भय की स्थिति में केवल उत्तेजित

होते है, किन्तु आयु में वृद्धि के फलस्वरूप वे भागकर तथा छिपकर उसकी अभिव्यक्ति करते है।

वेक (wake) ने १९५० ई० में किशोरावस्था में भय का विस्तृत अध्ययन किया। इस अध्ययन के मुताबिक किशोरों के भय का स्वरूप सामाजिक होता है। वे सामाजिक बहिष्कार (Social exclusion), सामाजिक उपहास (ridiculousness) तथा अन्य व्यक्तियों के वाद-विवाद का विषय बनने आदि से डरने लगते है।

भय का उन्मूलन

बच्चों के शारीरिक तथा मानसिक पक्षों पर भय का बड़ा ही हानिकारक प्रभाव पड़ता है। अतः, भय का उन्मूलन बच्चों के सामान्य विकास के लिए काफी महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। अर्जित (learned) भय को दूर करना तथा उनपर नियंत्रण पाना अत्यन्त ही कठिन होता है। यहाँ हम *एम० सी० जोन्स* की बतायी हुए दो प्रणालियों का उल्लेख करेंगे, जिनके द्वारा उन्हें तीन महीने की आयु से लेकर सात वर्ष तक के बच्चों के भय को दूर करने में सफलता मिली। इनमें से एक है, सम्बद्ध प्रत्यावर्तन प्रणाली (direct conditioning method) और दूसरी है, सामाजिक अनुकरण प्रणाली (Social imitation method)।

यह स्पष्ट है कि सम्बद्ध प्रत्यावर्तन द्वारा बच्चे डरना सीखते है। जिन वस्तुओं से बच्चे डरना सीखते है, उनके साथ कुछ आनन्ददायक स्थिति अथवा खाने की कोई मीठी वस्तु का साहचर्य स्थापित करने से बच्चों का भय धीरे-धीरे दूर हो जाता है। अगर कोई बच्चा कुत्ते से डरता है, तो कुत्ते के साथ बच्चे के लिये मिठाई का साहचर्य आनन्ददायक होगा। फलतः कुत्ते से डरने के बदले मिठाई के लिये वह उत्सुक हो जायगा और निर्भय होकर कुत्ते के पास जा सकेगा। अनुकरण के द्वारा बच्चे किसी वस्तु अथवा परिस्थिति में डरना सीखते है। फिर, जब इन उत्तेजनाओं के प्रति वे अन्य व्यक्तियों को भयभीत होते नहीं देखते, तब उनका भी भय दूर हो जाता है। उदाहरण के लिये, बच्चा बादल के गर्जन के साथ बिजली की चमक से भयभीत अपनी माँ की प्रतिक्रिया का अनुकरण कर, डरने लगता है। लेकिन, माँ फिर इसी परिस्थिति में भय की प्रतिक्रिया नहीं करती है। बच्चा भी माँ के व्यवहार का अनुकरण करने लगता है और उसका भय उक्त

उत्तेजना के प्रति दूर जाता है। अन्य बालकों के व्यवहार के अनुकरण द्वारा बच्चों का अधिकांश भय दूर हो जाता है।

किसी भी डरने वाली वस्तु अथवा परिस्थिति के वास्तविक सम्पर्क से अगर बच्चे यह समझ लेते है कि उससे डरना निरर्थक है, तो उसके प्रति भी भय दूर हो जाता है। कल-पुर्जे की मदद से चलने वाली मोटर (खिलौना) से प्रारम्भ में बच्चे डरते है। अगर वास्तव में मोटर को उनके हाथ के सम्पर्क में लाया जाय और बच्चे यह महसूस करें कि इस खिलौने से डरना बेकार है, तो फिर उनमें कभी उस खिलौने के प्रति भय की प्रतिक्रिया नहीं देखी जा सकती है।

क्रोध

(Anger)

क्रोध की उत्पत्ति

भय की तरह क्रोध सीखना (learning) तथा परिपक्वीकरण (maturation) दोनों के द्वारा प्रभावित होता है। *ब्रिजेज* (Bridges) के अनुसार ६ महीने की आयु के लगभग बच्चों में क्रोध की प्रतिक्रिया देखी जाती है। इसके पहले बच्चों में कष्ट (distress) की प्रतिक्रिया ही मालूम पड़ती है। अतः, परिपक्वीकरण के फलस्वरूप ही कष्ट के बाद क्रोध बच्चों में प्रगट होता है। *डेनिस* (Dennis) का मत है कि प्रतिरोध (restraint) के प्रति बच्चों में प्रतिक्रिया परिपक्वीकरण के फलस्वरूप ही देखी जाती है; क्योंकि, स्वतः (spontaneously) यह प्रतिक्रिया प्रगट होती है। इतना मान लेना उपयुक्त मालूम पड़ता है कि कुछ समय बाद क्रोध की उत्पत्ति प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति (overt expression) तथा दमन (inhibition) आदि आंशिक रूप से वातावरण द्वारा निर्धारित होते है।

क्रोध के कारण

प्रारंभिक बाल्यावस्था में अन्य संवेगों की अपेक्षा क्रोध की प्रतिक्रिया बच्चों में अधिक देखी जाती है। इसका कारण है कि उनकी क्रियाओं में बहुत तरह की बाधाएँ उपस्थित हो जाती है तथा कई तरह के प्रतिरोध भी पेश किये जाते हैं। प्रायः प्रतिरोध (restraint), गति में बाधा, स्वाभाविक क्रिया की रुकावट तथा इच्छाओं का विरोध (thwarting of wishes) के कारण छोटे-

छोटे बच्चों में क्रोध की अभिव्यक्ति देखी जाती है। जोन्स (Jones) ने १६ महीने की आयु से लेकर ३ वर्ष की आयु तक के बच्चों का अध्ययन किया। उन्होंने क्रोध के कई कारणों का उल्लेख किया है, जिनमें मुख्य ये हैं :—शौचालय में बैठाना, किसी वस्तु से अनाधिकृत होना, चेहरे को धोना, अकेले छूट जाना, वयस्क का कमरे से बाहर जाना इत्यादि।

देखा गया है कि शारीरिक कष्ट के कारण भी क्रोध होता है। यह अल्पायु तथा अधिक आयु के बच्चों में भी देखा जाता है। अधिक आयु के बच्चों में सामाजिक तत्त्व का अधिक हाथ रहता है। किसी भी कार्य में साथियों अथवा अधिक आयु के व्यक्तियों (seniors) के हस्तक्षेप करने से भी अधिक आयु के बच्चे क्रोधित हो जाते हैं। किशोरावस्था में अनुचित व्यवहार, झूठी बातें, निन्दापूर्ण वचन (sarcasm) तथा उचित रीति से किसी कार्य के संपादन नहीं होने से क्रोध की उत्पत्ति होती है।

क्रोध के कुछ आंतरिक कारण भी होते हैं। अनिद्रा, अस्वस्थ अवस्था तथा पाचन-क्रिया की गड़बड़ी के कारण भी बच्चों में क्रोध देखे जाते हैं। भूख तथा थकावट की हालत में बच्चों में क्रोध बहुत अधिक होता है। बीमार तथा भूखे बच्चे आसानी से क्रोधित हो जाते हैं। माँ-बाप की धमकी के प्रति भी उनमें ऐसी प्रतिक्रिया होती है। २ वर्ष की आयु के बाद लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में अधिक क्रोध की अभिव्यक्ति होती है। इसका कारण है कि माँ-बाप लड़कियों के क्रोध पर ध्यान नहीं देते। जिस परिवार में खेल-कूद अथवा आनन्द तथा हँसी के साधन की कमी रहती है, वहाँ का वातावरण क्रोध की उत्पत्ति में सहायक होता है। घबड़ाहट तथा चिंता भी क्रोध की उत्पत्ति के कारण माने जाते हैं।

क्रोध की अभिव्यक्ति

गुडएनफ (Goodenough) ने देखा कि प्रारम्भ में बच्चों में क्रोध की अवस्था में शारीरिक अभिव्यक्ति अधिक होती है। किंतु, आयु में वृद्धि के फल-स्वरूप मौखिक अभिव्यक्ति (verbal expression) होने लगती है। धीरे-धीरे इन अभिव्यक्तियों का वे दमन करने लगते हैं। गुडएनफ ने १९३१ ई० में १ महीने से लेकर ७ वर्ष की आयु तक के बच्चों के क्रोध की अभिव्यक्ति की बारम्बारता (frequency) का सुंदर उदाहरण पेश किया है।

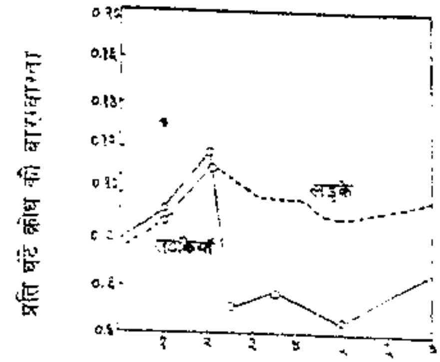

आयु (वर्ष में)

[विभिन्न आयु में क्रोध की अभिव्यक्ति की बारम्बारता
गुडइनफ—१९३१ ई० ।]

इस तरह हम देखते है कि आयु-वृद्धि के फलस्वरूप बच्चों के क्रोध की अभिव्यक्ति में भी परिवर्तन देखा जाता है। प्रथम तीन वर्ष की आयु के लगभग बच्चो में सांस को रोकना, शरीर को कड़ा कर लेना, रोना, उछलना, दांत काटना, पास की वस्तुओं को फेंक देना, जमीन पर लेट जाना तथा चिल्लाना आदि व्यवहार देखे जाते है। क्रोध की अवस्था में उनका चेहरा लाल हो जाता है तथा आंखों में आँसू भी आ जाते है। क्रोध में कपड़े फाड़ना तथा अन्य बच्चों पर आक्रमण करना भी उनकी अभिव्यक्ति होती है। आयु-वृद्धि के फलस्वरूप क्रोध की अवस्था में उनकी शारीरिक अभिव्यक्ति में कमी होने लगती है। दूसरी ओर मौखिक अभिव्यक्ति (verbal expression) काफी स्पष्ट हो जाती है। अतः गाली देना, धमकी देना, किसी चीज को अस्वीकार करना आदि अभिव्यक्ति देखी जाती है। यह कहा जा सकता है कि बच्चे सम्भवतः किसी भी मात्रा में क्रोध की अभिव्यक्ति शारीरिक अथवा मौखिक रूप में करते है। अल्पायु बच्चों की अपेक्षा बड़े बच्चों में क्रोध की प्रतिक्रिया अधिक स्पष्ट होती है।

बच्चों में जब क्रोध की अभिव्यक्ति काफी भयानक रूप (violent form) में होती है, तब उसे 'टेम्पर टेन्ट्रम्स' (temper tentrums) कहते हैं।

ब्रिजेज (Bridges) के मतानुसार यह अभिव्यक्ति बच्चों में २-३ वर्ष के बीच अथवा तीन-साढ़े तीन वर्ष के बीच में देखी जाती है। कभी-कभी १४ या १५ महीने की आयु के लगभग भी क्रोध की यह भयानक अभिव्यक्ति उनमें पायी जाती है। इस अवस्था में नोचना, दाँत काटना, अन्य व्यक्तियों पर आक्रमण करना, चिल्लाना, रोना तथा जमीन पर लोटना आदि व्यवहार का प्रदर्शन भयानक रूप में होता है। उनका चेहरा भी तमतमा जाता है। शारीरिक अभिव्यक्ति के साथ-साथ मौखिक अभिव्यक्ति भी काफी भयानक रूप में देखी जाती हैं। सामान्यतः आयु-वृद्धि के फलस्वरूप बच्चे क्रोध की भयानक अभिव्यक्ति की निरर्थकता (uselessness) को समझने लगते है और उन पर नियंत्रण पाने की चेष्टा करते हैं। नियंत्रण के लिये उपयुक्त निगरानी (suitable care) तथा प्रशिक्षण आवश्यक है।

क्रोध का नियंत्रण

अगर प्रारम्भिक बाल्यावस्था में होने वाले क्रोध की प्रतिकृति (anger pattern) स्थायी रूप में रह जाती है, तो उससे काफी हानि होती है। उससे बच्चों के व्यक्तित्व का सर्वांगीन विकास नहीं हो पाता और न उनके जीवन में आनन्द की ही वृद्धि हो पाती है। सबसे बड़ी कठिनाई उनके जीवन में सामाजिक अभियोजन (social adjustment) के सिलसिले में होती है। अतः, क्रोध की भयानक अभिव्यक्ति का नियंत्रण आवश्यक है, ताकि यह अभिव्यक्ति संतुलित रूप में हो और वे प्रतिदिन के जीवन में आने वाली सारी परिस्थितियों का सामना संतुलित ढंग से ही कर सकें। बच्चों के सांवेगिक विकास का यही उद्देश्य है।

नियंत्रण तथा प्रशिक्षण के द्वारा बच्चे भयंकर अभिव्यक्ति को दबाना सीखते हैं। छेड़ने वाले व्यक्तियों से प्रतिकार के आवेग को भी नियंत्रित करने की चेष्टा करते हैं। कुछ बच्चों के क्रोध की अभिव्यक्ति निर्दयता (cruelty), विद्रोह (active revolt) तथा गैर-सामाजिक व्यवहार (anti social behavior) के रूप में होती है। लेकिन, वे अपने बचाव के साथ-साथ अपने विचार अथवा सिद्धांत की रक्षा भी करना चाहते हैं। फलतः अभिव्यक्ति अप्रत्यक्ष रूप में (indirect form) होती है। क्रोध की भयंकर अभिव्यक्ति पर नियंत्रण पाने के लिये क्रोध उत्पन्न करने वाली उत्तेजनाओं की उपेक्षा आवश्यक है। अन्ततोगत्वा, क्रोध पर नियंत्रण के लिये अनुशासन (discipline) की प्रणाली में स्थिरता (consistancy) अत्यधिक महत्त्व रखती है।

प्रेम (Love)

यह स्पष्ट है कि संवेग का विकास परिपक्वीकरण तथा सीखने के फलस्वरूप होता है। आयु-वृद्धि के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की संवेगात्मक प्रतिक्रियायें देखी जाती हैं। प्रारम्भ में ये संवेग अस्पष्ट रहते हैं, किंतु क्रमशः आयु-वृद्धि के साथ-साथ अधिक स्पष्ट होते जाते हैं। ब्रिजेज के अध्ययन से यह पता लगता है कि नवजात शिशु में प्रेम या स्नेह (affection) का संवेग नहीं पाया जाता। उस समय केवल सामान्य उत्तेजित अवस्था ही रहती है। तीसरे महीने की आयु से आनन्द (delight) की प्रतिक्रिया बच्चों में देखी जाती है, जब वे मुस्कुरा कर अथवा मांसपेशियों के तनाव को ढीला कर इसे अभिव्यक्त करते हैं। यह स्थिति बच्चों में कई महीने तक रहती है। ६ महीने के बाद उनमें स्नेह की प्रतिक्रिया दिखाई पड़ने लगती है। १२ महीने की आयु में लगभग वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति प्रेम की प्रतिक्रिया बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

प्रेम व्यक्ति की एक संवेगात्मक प्रतिक्रिया है, जो आनंददायक तथा संतोषप्रद वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति निर्देशित होती है। बच्चों की यह प्रतिक्रिया केवल मानव-प्राणी के प्रति ही नहीं होती, बल्कि जानवर तथा खिलौने आदि जैसी निर्जीव वस्तु के प्रति भी होती है। प्रायः जो व्यक्ति बच्चे की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, उनके प्रति उनका स्नेह बढ़ जाता है। साथ रहनेवाले तथा साथ खेलनेवाले व्यक्ति के प्रति बच्चे काफी आनंद और संतोष का अनुभव करते हैं। फलतः ऐसे व्यक्ति के प्रति बच्चे स्नेह विकसित कर लेते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि स्नेह अथवा प्रेम एक पक्ष से नहीं होता, बल्कि दोनों पक्षों से होता है। जब वयस्क बच्चों के साथ खेलते हैं, उन्हें प्यार करते हैं तथा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, तब बच्चे भी उनके प्रति स्नेह की प्रतिक्रिया प्रगट करते हैं। सर्वप्रथम बच्चों का सम्पर्क अपने परिवार के व्यक्तियों के साथ होता है। आयु-वृद्धि के साथ ज्यों-ज्यों उनका सामाजिक संबंध अन्य व्यक्तियों के साथ बढ़ता जाता है, उनका संवेगात्मक व्यवहार भी विकसित होने लगता है। सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों में, जिनके साथ उन्हें अधिक आनंददायक तथा संतोषप्रद अनुभूतियाँ होती हैं, उनके साथ उनका

स्नेह बढ़ जाता है। अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ है कि बच्चों का स्नेह पहले व्यक्ति के प्रति होता है और बाद में किसी वस्तु के प्रति।

सम्पर्क में आनेवाले आकर्षक खिलौने तथा साथ में खेलनेवाले व्यक्तियों के प्रति बच्चे अपना स्नेह विकसित कर लेते हैं। माँ-बाप अथवा परिचारिका (nurse) जो अधिक सम्पर्क में रहते हैं तथा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर उन्हें संतोष प्रदान करते हैं, उन सबों के प्रति भी बच्चों का स्नेह बढ़ जाता है। ६ महीने की आयु के बाद वे सजीव तथा निर्जीव—दोनों के प्रति स्नेह प्रदर्शित करते हैं; लेकिन १० महीने की आयु के लगभग वे केवल परिचित व्यक्ति अथवा वस्तु के प्रति प्रेम का भाव दिखाते हैं। प्रथम वर्ष के बाद दूसरे वर्ष की अवधि में बच्चे अपने खिलौने तथा कपड़े आदि से अधिक प्रेम रखते हैं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि इस आयु में बच्चे अपने-आप से भी प्रेम करते हैं और तीसरे वर्ष में अन्य बच्चों से स्नेह बढ़ा लेते हैं। बच्चों के स्नेह-विकास में ध्यान देने योग्य बात यह है कि उनका स्नेह अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क अथवा संतोषप्रद सम्बन्ध पर निर्भर करता है। जिस व्यक्ति के साथ उनका अधिक आनंददायक साहचर्य (association) रहेगा, उसी मात्रा में स्नेह विकसित होगा। साहचर्य की कमी के फलस्वरूप स्नेह में भी कमी रहेगी। ५ वर्ष की आयु तक बच्चों में स्नेह का विकास इसी अनुपात तथा क्रम में होता है। अपेक्षाकृत अधिक सम्पर्क में रहने के कारण माँ के प्रति बच्चों का स्नेह अधिक मात्रा में विकसित होता है। इस प्रतिक्रिया में परिवर्तन भी सम्भव हो सकता है, अगर बच्चे के जीवन में माँ की अपेक्षा अन्य व्यक्ति का सम्पर्क अधिक हो तथा उन्हें अधिक आनन्द एवं संतोष प्राप्त हो। पिता के प्रति भी बच्चों का स्नेह कम नहीं रहता; क्योंकि वे उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तथा सुरक्षा (Security) देते हैं।

बच्चे विभिन्न प्रकार से अपने स्नेह की अभिव्यक्ति करते हैं। जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में अधिक रहते तथा उन्हें प्यार से थपथपाते हैं, उनके प्रति वे स्नेह की प्रतिक्रिया मुस्कुरा कर, गर्दन उठाकर तथा हाथ-पैर फैलाकर करते हैं। ६ महीने की आयु के बाद बच्चों में यह प्रतिक्रिया देखी जाती है। आयु-वृद्धि के फलस्वरूप वे केवल परिचित व्यक्तियों के प्रति स्नेह की प्रतिक्रिया प्रगट करते हैं, अपरिचितों के प्रति नहीं। दूसरे वर्ष की अवधि में बच्चे यह समझने लगते हैं कि सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों का साहचर्य कहाँ तक आनंददायक

एवं संतोषप्रद है। आनंद एवं संतोष की प्राप्ति के फलस्वरूप ही वे स्नेह दिखाते हैं और जब कोई व्यक्ति उनकी ओर ध्यान नहीं देता तथा उनकी उपेक्षा करता है, तब वे उनके प्रति स्नेह नहीं दिखाते।

क्रमश: जब बच्चों का क्रियात्मक विकास होता है, तब वे अपनी प्रिय वस्तुओं को अपने पास रखना चाहते हैं। अपने खिलौने को वे साथ रखते हैं तथा उन्हें दूसरों को देना नहीं चाहते। बच्चे छोटे-छोटे जानवरों को भी बहुत प्यार करते हैं; उन्हें गोद में उठाते तथा प्यार से चूमते भी हैं। उनके साथ उछल-कूद करने तथा खेलने में वे विशेष आनंद का अनुभव करते हैं। बाल्यावस्था में स्नेह की अभिव्यक्ति केवल चुम्बन के द्वारा ही नहीं होती, बल्कि आनंददायक वस्तु और व्यक्ति के साहचर्य के द्वारा भी होती है। प्यार पाकर भी बच्चे आनंद का अनुभव करते हैं। आपस में बच्चे एक-दूसरे को चूमते हैं तथा आलिंगन करते हैं। यह उनके प्रेम की मुक्त अभिव्यक्ति है। छोटे-छोटे बच्चों को थपथपाकर भी वे अपने प्रेम को अभिव्यक्त करते हैं।

किशोरावस्था में संवेग की तीव्रता व्यक्ति के सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन की विशेषता है। इस अवस्था में किशोर-किशोरियों की यौन-अभिरुचि बढ़ जाती है। चूंकि उनमें परवर्ती यौन-विशेषतायें (Secondary Sex Characteristics) प्रगट हो जाती है, इसलिये उनमें शारीरिक तथा सांवेगिक परिवर्तन स्पष्ट रूप में दीख पड़ते हैं। उनमें परस्पर यौन-आकर्षण बढ़ने लगता है तथा विभिन्न रूपों में प्रेम की अभिव्यक्ति होने लगती है। चुम्बन का महत्त्व इस अवस्था में काफी बढ़ जाता है और प्रेम की अभिव्यक्ति को एक सुंदर माध्यम माना जाता है। जिनके प्रति उन्हें अधिक प्रेम रहता है, उन्हें वे चूमना चाहते है और स्वयं चुम्बित होकर प्रेम का अनुभव करते हैं। गहरे प्रेम की अभिव्यक्ति वे आलिंगन के द्वारा करते हैं।

किशोरावस्था में प्रारम्भिक स्नेह की अभिव्यक्ति को वे उपयुक्त नहीं मानते तथा उसे परिष्कृत रूप में व्यक्त करते हैं। प्रिय वस्तुओं तथा प्रिय व्यक्तियों को भी वे 'प्रिय नाम' से पुकारना पसन्द करते हैं। प्रेम की अभिव्यक्ति प्रिय पात्रों के साहचर्य के रूप में भी होती है। अपने प्रिय पात्र, जैसे; मित्र, परिवार के घनिष्ट सदस्य आदि पर विश्वास करना तथा उनका विश्वासी बनना भी प्रेम की प्रतिक्रिया मानी जाती है। इस संवेगात्मक व्यवहार पर प्रशिक्षण तथा अनुकरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। प्रेम की

स्वाभाविक अभिव्यक्ति सामाजिक परिपाटियों तथा सांस्कृतिक मान्यताओं द्वारा पर्याप्त रूप से परिमार्जित हो जाती है। 'प्रेमोपहार' भी इस संवेग की सुंदरतम अभिव्यक्ति है।

उचित संवेगात्मक विकास के लिये बच्चों को संतुलित ढंग से प्यार करना चाहिये। अत्यधिक प्यार पाने के फलस्वरूप बच्चों में आत्मनिर्भरता की कमी हो जाती है तथा जीवन की कठोर वास्तविकता का सामना करने में वे असफल रहते हैं। ठीक इसके विपरीत अगर बच्चों को प्यार नहीं मिलता तथा उनकी उपेक्षा की जाती है, तो उनके संवेगात्मक विकास के लिये हानिकारक होता है। फलतः दोनों ही स्थितियों में बच्चों का संवेगात्मक विकास संतुलित रूप से नहीं हो पाता।

—०—

अध्याय १०

सामाजिक व्यवहार का विकास

(DEVELOPMENT OF SOCIAL BEHAVIOUR)

१. प्रारम्भ

कोई भी व्यक्ति जन्म से ही सामाजिक नहीं होता। अन्य व्यक्तियों के साथ अभियोजन स्थापित करना उसे सीखना पड़ता है। बच्चों के विकास के सिलसिले में समाजीकरण (socialization) का काफी महत्त्व है। इस अवस्था में बच्चों को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त होता है और इसी के फलस्वरूप उनमें अभियोजन की क्षमता प्राप्त हो सकती है। बच्चों में समुचित सामाजिक विकास के लिये माँ-बाप अथवा अभिभावक द्वारा निर्देशन आवश्यक है। इतना निश्चित है कि समाज के समुदाय (groups) का बच्चों के व्यक्तित्व-विकास पर काफी प्रभाव पड़ता है। अतः, समुदाय के किसी भी व्यक्ति के साथ सम्पर्क स्थापित करने में सावधानी की आवश्यकता है, ताकि बच्चों पर अनुकूल प्रभाव पड़ सके। ये बच्चे इतने अनुभवहीन होते हैं कि स्वयं अपने सामाजिक विकास का निर्देशन करने में असमर्थ रहते हैं। अतः, वयस्कों अथवा अनुभवी व्यक्तियों द्वारा निर्देशन उनके लिये अधिक अपेक्षित एवं संतोषप्रद होता है।

नवजात शिशुओं में जन्म के समय कोई भी सामाजिक व्यवहार नहीं देखा जाता। जन्म के समय वे न तो सामाजिक होते हैं और न असामाजिक। प्रारंभिक वर्षों में उन्हें अपने माँ-बाप पर निर्भर रहना पड़ता है; क्योंकि उनकी निगरानी के बिना वे जीवित नहीं रह सकते। उनकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति माँ के द्वारा होती है अथवा परिचारिका (nurse) द्वारा। नवजात शिशु (neonate) मानवीय तथा अमानवीय प्राणियों में अंतर नहीं कर सकता। धीरे-धीरे, जब उनकी माँ अथवा परिचारिका उनके संपर्क में आती है, वे उनके प्रति प्रतिक्रिया प्रगट करते हैं। इस तरह पालन-पोषण के सिलसिले में ही बच्चों में सामाजिक व्यवहार का विकास होता है।

अन्य व्यवहारों की तरह बच्चों का सामाजिक व्यवहार भी परिपक्वीकरण (maturation) तथा सम्बद्ध प्रत्यावर्तन (conditioning) के फलस्वरूप होता है। शुरू में नवजात शिशु अपरिचित व्यक्ति के प्रति भय की प्रतिक्रिया प्रगट नहीं करते; लेकिन बाद में परिपक्वीकरण के फलस्वरूप वे परिचित तथा अपरिचित में अंतर समझने लगते हैं और अपरिचित व्यक्ति के प्रति भय की प्रतिक्रिया दिखाते हैं।

२. बच्चों का समाजीकरण

(Socialization of Children)

बच्चे अपने समाज के अन्य व्यक्तियों की तरह सोचना तथा कार्य करना सीखते हैं। सीखने की इस प्रतिक्रिया को 'समाजीकरण' कहते हैं। मानव-प्राणी का समाजीकरण जटिल होता है। कारण, इस प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप में कार्य करने की अपेक्षा उनके अधिकाधिक चिंतन तथा कभी-कभी व्यवहार का नियंत्रण आदि देखे जाते हैं। समाजीकरण में काफी समय लगता है। हर व्यक्ति को समाज में हर सामाजिक व्यवहार को सीखना पड़ता है। कोई व्यक्ति जन्म से ही समाजीकृत (socialized) नहीं होता। अतः, सभी तरह के सामाजिक व्यवहार सीखे हुए ही होते हैं। व्यक्ति को समाज की परिपाटी (customs) तथा मान्य आचरण के सिद्धांत (principle of conduct) के अनुकूल सीखना पड़ता है। इन प्रचलित रीतियों को समुदाय (Group) द्वारा अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है। बच्चों को अपने समाज की भाषा (Language), हाव-भाव (gestures), संकेत (signals) तथा अभिव्यक्ति के अन्यान्य

साधन सीखने पड़ते हैं, ताकि वे अपने विचारों को दूसरों के साथ व्यक्त कर सकें। इतना ही नहीं; खाने-पीने, कपड़े पहनने तथा चलने-फिरने के ढंग में भी वे अनुकरण करना सीखते हैं। अपने परिवार तथा अपने समाज की सभी परम्पराओं (traditions) को अर्जित करना और संस्कृति (culture) की सारी मान्यताओं को स्वीकार करना उन्हें सीखना पड़ता है। इस तरह, हम देखते हैं कि सीखने की इस लम्बी प्रक्रिया द्वारा बच्चा अपने समाज अथवा वातावरण के साथ सफल अभियोजन स्थापित करने की तैयारी करता है।

प्रायः देखा जाता है कि समाज के किसी बच्चे को कभी 'अच्छा' कहा जाता है और कभी उसे 'बुरा'। प्रतिकूल व्यवहार के लिये उसे सजा (punishment) भी मिलती है। अतः व्यक्तियों के स्वभाव के कारण ही उसे अपना मन उनके अनुकूल रखना पड़ता है; क्योंकि न तो वह 'अच्छाई' (goodness) का अर्थ समझता है और न 'बुराई' (badness) का। बच्चा केवल इतना ही समझ पाता है कि उसे प्रोत्साहन मिला अथवा सजा। इससे यह स्पष्ट होता है कि बच्चा समुदाय की मान्यता को स्वीकार करना सीख चुका है और वह समझने लगता है कि उसके किसी तरह के व्यवहार का दायित्व (responsibility) उस पर है।

फ्रायड (Freud) ने इस समस्या पर काफी अध्ययन किया है। उन्होंने इस बात पर अधिक जोर दिया है कि माँ-बाप (parents) का बच्चों के प्रति कैसा संबंध है। उनका कथन है कि अधिकांशतः माँ-बाप के अनुकूल ही बच्चों का विशिष्ट अहम् (Super Ego) विकसित होता है। विशिष्ट अहम् से तात्पर्य है, बच्चों के व्यक्तित्व का वह गत्यात्मक स्वरूप (dynamic aspect) जिसके द्वारा उनका व्यवहार निर्देशित (directed) होता है। प्रधानतः अच्छे-बुरे तथा गलत-सही का निर्णय बच्चे सामाजिक वातावरण से अपने व्यक्तित्व के इसी आदर्श स्वरूप के द्वारा करना सीखते हैं। अतः, फ्रायड के मतानुसार समाजीकरण में बच्चों के साथ माँ-बाप के संबंध का काफी महत्त्व है। इस तरह, व्यक्ति को अपनी अभिव्यक्ति पर नियंत्रण रखना पड़ता है तथा व्यवहारों को परिष्कृत बनाना पड़ता है। और, तभी उनका समाजीकरण सम्भव है।

अगर हम समाजीकरण के साधन पर ध्यान दें, तो स्पष्ट है कि २ से ५ वर्ष की आयु तक इसका पूरा दायित्व (responsibilities) परिवार पर है। कहा गया है कि परिवार बच्चों के सीखने के लिये प्रथम शिक्षालय है। ज्यों-ज्यों

बच्चों का सम्पर्क समाज की विभिन्न संस्थाओं (associations) से बढ़ता जाता है, उनका प्रभाव भी उनके सामाजिक विकास पर काफी पड़ता है। पाठशाला, साथी, धार्मिक स्थान इत्यादि इनमें मुख्य है। बाद में, सेवा-संस्था (service organization), राजनीतिक संस्था, व्यापारिक संस्था तथा क्लब आदि में व्यक्ति काफी प्रभावित होते है। विभिन्न अवस्थाओं में पत्र-पत्रिका, पुस्तक, रेडियो (radio) चलचित्र (cinema), तथा पारदर्शी यत्र (television) आदि भिन्न-भिन्न प्रकार से बच्चों को प्रभावित करते है। ये सभी साधन समाजीकरण के मुख्य तत्व (factors) माने जाते है; क्योंकि बच्चो के विचार, विश्वास तथा मूल्यांकन (values) को खास ढंग से निर्धारित करते है।

३. बच्चों के सामाजिक व्यवहार का आरम्भ

आरम्भ के कुछ सप्ताहों में बच्चों में कोई भी प्रत्यक्ष सामाजिक व्यवहार नहीं देखा जाता। कई मनोवैज्ञानिकों का मत है कि इस अवस्था में जब रोते हुए बच्चों को गोद में उठा लिया जाता है अथवा माँ अपनी छाती से चिपका लेती है, (coressed) तब वे रोना बंद कर देते है। दूसरी ओर, १९३० ई० में बुहलर (Buhler) ने प्रमाणित किया कि तकिया (pillow) अथवा गर्म पानी के बोतल (hot water bottle) को चिपकाने से भी बच्चों का रोना बंद हो जाता है। अतः, इस तरह की प्रतिक्रिया को सामाजिक व्यवहार के रूप में व्याख्या देना उचित नहीं मालूम पड़ता।

बच्चों के सामाजिक व्यवहार का आरम्भ तब होता है, जब वे निर्जीव तथा सजीव चीजों में अंतर समझने लगते हैं। कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति तथा वस्तु के प्रति उनकी अलग-अलग प्रतिक्रियायें होती है। स्पष्ट रूप से यह जानना कठिन है कि कब बच्चे व्यक्ति तथा वस्तु में अंतर समझने लगते है। अतः, उनके प्रत्यक्ष व्यवहार से ही यह प्रतिक्रिया समझी जा सकती है। शिशुओं की प्रथम सामाजिक प्रतिक्रिया वयस्कों (adults) के प्रति ही होती है। सम्भवतः यह इसलिये होता है कि बच्चों का सर्वप्रथम सामाजिक सम्पर्क (social contact) वयस्कों के साथ ही होता है। अपनी माँ अथवा परिचारिका (nurse) के सम्पर्क में (बोलने पर) बच्चे मुस्कुराते है।

फिर भी वास्तविक सामाजिक प्रतिक्रियायें दूसरे महीने में प्रगट हो जाती हैं। १९३० ई० में बुहलर ने १ महीने से लेकर १ वर्ष की आयु के कई सौ बच्चों

की सामाजिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया। बुहलर ने देखा कि १-२ महीने तक के ६०% से अधिक बच्चे देखभाल करने वाले वयस्क के हट जाने पर रोने लगे; अपनी ओर वयस्क की दृष्टि (Glance) के प्रति उन्होंने मुस्कुराने की प्रतिक्रिया प्रगट की तथा बोलने पर वे बेचैन (restless) दिखाई पड़े। अब आयु-विशेष के अनुसार हम बच्चों की सामाजिक प्रतिक्रियाओं का विशद रूप में उल्लेख करेंगे।

४. वयस्कों के प्रति बच्चों की सामाजिक प्रतिक्रियायें

एक महीना

एक महीने की आयु के लगभग बच्चों में मानव-प्राणी की आवाज के प्रति चूसने की प्रतिक्रिया (sucking movement) होती है।

एक-दो महीने

बुहलर ने बतलाया कि दूसरे महीने में रोते हुए बच्चे को गोद में लेने पर वे चुप हो जाते हैं। किसी भी व्यक्ति की आवाज को सुनकर वे उसी ओर सिर घुमा लेते हैं। दूसरे महीने के अन्त में किसी प्रौढ़ व्यक्ति के मुसकुराने पर बच्चों में मुसकुराने की प्रतिक्रिया होती है। करीब ५०% बच्चों में ६८ वें दिन में और ३ महीने में १००% बच्चों में मुसकुराने की प्रतिक्रिया देखी गई।

दो-तीन महीने

तीसरे महीने में बातचीत करने पर बच्चे रोना बंद कर देते हैं। उनके व्यवहार से यह पता चलता है कि वे अपनी माँ या परिचारिका को पहचानते हैं। उपस्थित व्यक्ति के हट जाने पर वे रोने लगते हैं। इसी तरह, अन्य व्यक्तियों में उनकी रुचि (interest) शुरू हो जाती है। वे यह समझ लेते हैं कि रोने के फलस्वरूप दूसरों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है और बारम्बार वे इसके प्रयोग द्वारा घर के वातावरण को अपने अनुकूल रखते हैं।

तीन-चार महीने

चौथे महीने में बच्चे खास व्यक्तियों के प्रति ही अपनी रुचि दिखाते हैं। जो व्यक्ति उनसे बातें करता है, उसके प्रति वे मुसकुराने (smiling) की प्रतिक्रिया करते हैं। उपस्थित व्यक्ति के चले जाने पर उसी दिशा की ओर वे देखने

लगते हैं। जब कोई व्यक्ति उनकी ओर ध्यान देता है, तब वे आनन्दित ([illegible]) होते हैं और साथ में खेलने पर हँसते भी हैं।

चार-छः महीने

४ से या ६ के महीने की आयु में बच्चे नम्र तथा रूखे स्वरों (voices) में अंतर समझने लगते हैं और मुस्कुराने तथा डाँटने के प्रति भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिक्रियायें प्रगट करते हैं। बुहलर तथा हेजर (Hetzer) के अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि पाँच-सात महीने की आयु (age) में ही नम्र तथा रूखे स्वरों के प्रति अथवा मुसकुराने तथा क्रोधित मुखाकृति (facial expression) के प्रति बच्चों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियायें (differential responses) होती हैं। प्रायः नम्र शब्दों के प्रति वे मुसकुराने तथा रूखे शब्दों (unfriendly expression) के प्रति रोने की प्रतिक्रिया प्रगट करते हैं। इस आयु में बच्चे बाहों (arms) को फैलाकर हाथ-पैर उछालकर अन्य व्यक्तियों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।*

छः-सात महीने

पहले बच्चे किसी भी व्यक्ति के प्रति मुसकुराने की प्रतिक्रिया करते हैं। छठे महीने के बाद व्यक्ति विशेष अथवा अन्य किसी व्यक्ति के प्रति मुसकुराने की प्रतिक्रिया गायब हो जाती है। *स्पीज़* (Spitz, 1946) का मत है कि बच्चों के सामाजिक विकास में इस घटना का काफी महत्त्व है; क्योंकि परिचित अथवा अपरिचित व्यक्तियों के प्रति भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं का प्रारम्भ बच्चों में हो जाता है।

सात-नौ महीने

आठवें या नौवें महीने में बच्चे दूसरे व्यक्तियों की बोली का अनुकरण करने की चेष्टा करने लगते हैं। दूसरों के हाव-भाव (gestures) तथा सरल क्रिया का भी अनुकरण करने का वे प्रयास करते हैं। नौवें महीने में बच्चे अपनी शारीरिक गति अथवा नजदीक के व्यक्ति के कपड़े खींचकर उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहते हैं।

नौ-दस महीने

बुहलर के मतानुसार दसवें महीने में बच्चे अपने खिलौने अथवा कोई भी वस्तु वयस्क को देने की चेष्टा करते हैं और उनके साथ खेलना चाहते हैं।

---

* केल्टिनिग (Keltining, 1934)

बारहवें महीने

अपरिचित व्यक्तियों से बच्चे बारहवें महीने की आयु में डरकर भागने की प्रतिक्रिया करते हैं। किसी आग्रह पर (जैसे ; नाचो, गीत गाओ आदि) बच्चों द्वारा नकारात्मक उत्तर की प्रतिक्रिया भी उनमें देखी जाती है।

अठारहवें महीने

अठारहवें महीने के लगभग बच्चे अस्वीकारात्मक प्रतिक्रिया (negativism) दिखाते हैं। किसी व्यक्ति के कुछ कहने पर अथवा आदेश करने पर बच्चे विरोध करते हैं और जिद्द पकड़ लेते हैं।

चौबीसवें महीने

चौबीसवें महीने के लगभग बच्चों में सहयोग की प्रतिक्रियायें देखी जाती हैं। वयस्कों के किसी भी कार्य में वे सहयोग देने की चेष्टा करते हैं।

अभी तक हमलोगों ने जन्मकाल से लेकर दो वर्ष की अवस्था तक बच्चों की सामाजिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया, जो वयस्कों के सम्पर्क में होती है। देखा गया कि वयस्कों में उनकी काफी रुचि रहती है, लेकिन आयु (age) में वृद्धि के साथ-साथ वयस्कों के प्रति उनकी रुचि कम होती जाती है और समान आयु के अन्य बच्चों के प्रति बढ़ती जाती है। यह भी देखा गया कि वयस्कों अथवा अन्य बच्चों के सम्पर्क में बच्चे अधिकांशतः बोलते ही है। दो वर्ष के बाद वयस्कों के साथ वे काफी सक्रिय (active) रहते है। यही सक्रिय व्यवहार अन्य बच्चों के सम्पर्क में भी देखा जाता है। ब्रिजेज (Bridges) ने दो वर्ष से लेकर पाँच वर्ष तक की आयु के बच्चों की वयस्कों के प्रति मनोवृत्ति (attitude) का सुंदर अध्ययन किया है। जहाँ तक वयस्कों से बच्चों का सामाजिक सम्बन्ध (social relation) है, उनकी दो वर्ष से लेकर पाँच वर्ष की आयु की तीन अवस्थायें (stages) हो सकती हैं।

1. आश्रितावस्था (dependent stage)
2. अवरोध की अवस्था (Period of resistance)
3. सहयोग तथा मैत्री की अवस्था (Period of co-operativeness & friendliness)

१. दो वर्ष की आयु में बच्चे वयस्कों पर आश्रित रहते हैं। वे वयस्कों की सहायता में विश्वास करते हैं और निश्चेष्ट रूप में (passively) उन्हें स्वीकार करते हैं।

२. ढाई-तीन वर्ष की आयु बच्चों के अवरोध (resistance) की अवस्था है। इस अवस्था को प्रायः 'अस्वीकारात्मक स्थिति' (negative phase) भी कहा गया है; क्योंकि वयस्कों के प्रभाव के प्रति बच्चों का अवरोध पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वयस्कों के प्रभाव (influence) तथा सहायता के विरोध में बच्चे विरोध करना प्रारम्भ कर देते है। जब बच्चे की सहायता के लिये कोई वयस्क कुछ करने लगते है, तब बच्चे विरोध करना प्रारम्भ कर देते है :— "नहीं, मुझे ही करने दीजिये........ मैं ही करूँगा", इत्यादि। इस तरह, बच्चों की अभिव्यक्ति की विशेषता इसी रूप में देखी जाती है। वयस्कों की सहायता के विरोध से बच्चे आश्रित अवस्था से मुक्त होना चाहते है। वे आत्म-निर्भर अथवा स्वतंत्र (independent) होना चाहते हैं। अतः, वे अपनी बातों पर दृढ़तापूर्वक टिके रहते (self-assertive) है। ऐसे बच्चों को समझाना या अधिकार में लाना कठिन होता है।

३. चार-छः वर्ष की आयु में धीरे-धीरे सहयोगिता तथा मित्रता देखी जाती है। इस आयु में माँ-बाप तथा अभिभावक (guardian) को त्राण मिलता है, अर्थात् बच्चों के विरोध से मुक्ति मिलती है। ये बच्चे वयस्कों की मान्यता को स्वीकार करने लगते हैं और उनसे मैत्री का भाव रखते है।

प्रारम्भ में, जब बच्चे वयस्कों से बातचीत करते है, तब अधिकांशतः या तो कुछ माँगते है या आग्रह को अस्वीकार (refuse) करते हैं। लेकिन, धीरे-धीरे जब उनके शब्दकोश में वृद्धि होती है और अस्वीकारात्मक स्थिति (negative phase) का अन्त होने लगता है, तब वे अपने अनुभवों के आधार पर बातों को सोचना शुरू कर देते हैं और वयस्कों से अधिकाधिक प्रश्न करने लगते हैं। २-६ वर्ष की आयु (पूर्व-पाठशालीय अवस्था) में प्रायः वयस्कों के प्रति बच्चों का विशेष दृष्टिकोण रहता है। वे वयस्कों को सर्वशक्तिमान (all-powerful), सर्वबुद्धिमान (all-wise) तथा बिल्कुल अभ्रांत (in--falliable) समझते हैं।

५. अन्य बच्चों के प्रति बच्चे की प्रतिक्रिया

जन्मकाल से लेकर २ वर्ष की आयु तक बच्चे की अन्य बच्चों के प्रति सामाजिक प्रतिक्रियाओं का सुंदर विवरण *माडरी* (Maudry) तथा *नेकुला* (Nekula) के १९३९ ई० के अध्ययन द्वारा मिलता है। करीब-करीब एक ही आयु के बच्चों के जोड़े (pairs) खेलने के छोटे कमरे (playing pen) में कुछ खिलौने के साथ रखे गये। उनमें बच्चों की एक-दूसरे के प्रति प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया गया। इन बच्चों की सामाजिक प्रतिक्रियाओं के निरीक्षण की अवधि चार मिनट रखी गई। निरीक्षण के आधार पर निम्नलिखित प्रतिक्रियायें आयु विशेष (particular age) में देखी गई।

चार-पाँच महीने

चार-पाँच महीने के बीच की अवधि में सर्वप्रथम एक बच्चा दूसरे बच्चे को देखकर मुसकुराने की प्रतिक्रिया प्रगट करता है या दूसरे बच्चे का रोना सुनकर उसकी ओर ध्यान देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इसी आयु में सर्वप्रथम बच्चे में दूसरे बच्चों के प्रति सामाजिक व्यवहार का संकेत मिलता है।

छः-आठ महीने

छः-आठ महीने के बीच की अवधि में देखा गया कि आधे से अधिक बच्चों की प्रतिक्रियाओं में एक-दूसरे के प्रति रुचि (interest) की कमी थी तथा एक दूसरे की उपेक्षा करते थे। फलस्वरूप, उनकी मैत्री का संबंध कम देखा गया। उनका सामाजिक संबंध एक दूसरे को देखने, दूसरे को देखकर मुस्कुराने तथा दूसरों को आबद्ध करने (grasping) तक सीमित था। साथ में खेलने वाले अन्य बच्चों के प्रति उनका व्यवहार वही था, जो खेलने के लिये दिए गये खिलौनों के प्रति था। दूसरों से खिलौना प्राप्त करने के लिये उनमें छीना-झपटी देखी गई।

नौ-तेरह महीने

नौ-तेरह महीने के बीच की अवधि में स्वतंत्र रूप से खेलने की सामग्री लेने वाले बच्चों के साथ अन्य बच्चों का झगड़ा पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वे एक दूसरे के बाल तथा कपड़े खींचते हैं। वह दूसरे बच्चों की आवाज तथा व्यवहार का अनुकरण करने लगता है। बच्चों में व्यक्तिगत अंतर्द्वंद्व (conflicts) होने लगता है। चूँकि, खेलने वाले साथी सर्वप्रथम खास ढंग की मान्यता प्राप्त करते हैं, ये बच्चे पहले-पहल वस्तुओं का सामाजिक महत्व समझते हैं तथा सहयोग दिखाते हैं।

चौदह-अठारह महीने

चौदह-अठारहवें महीने की अवधि में जब बच्चों के खेलने की इच्छा संतुष्ट होती है, तब वे अपना ध्यान स्वतः खेलने की सामग्री (play-materials) से हटाकर खेल के साथी (playmates) पर केंद्रित कर लेते हैं। इस आयु में खिलौने के संबंध में अन्तर्द्वन्द्व में कमी देखी गई। खिलौने के लिए झगड़ने की अपेक्षा खेलने में सहयोग की मात्रा अधिक देखी गई।

उन्नीस-पच्चीस महीने

उन्नीसवें महीने से लेकर २ वर्ष की अवधि में बच्चों की रुचि खेलने के प्रति बढ़ जाती है। खिलौने के प्रति उनकी रुचि सामाजिक रुचि के साथ संबंधित हो जाती है तथा बच्चे अधिकाधिक खेलने का अवसर ढूँढ़ते हैं। इस खेल में बच्चे दूसरों की ओर देखते हैं, मुस्कुराते हैं तथा लिपटते भी हैं। वे खेलने में अधिक आनन्द का अनुभव करते हैं और खिलौने को खेलने का साधन मानते हैं। इन्हीं खिलौनों के द्वारा वे एक-दूसरे के सामाजिक सम्पर्क (social contact) में आते हैं।

यहाँ हमलोग देखते हैं कि प्रथम वर्ष की आयु में बच्चों की रुचि अन्य बच्चों में बढ़ने लगती है। लेकिन, इस आयु में ये बच्चे एक समय में (at a time) केवल एक ही बच्चे के साथ सामाजिक संबंध रख सकता है। अगर तीन बच्चों को एक साथ एक ही खेलने के घेरे (play pen) में रखा जाय, तो उनमें केवल दो के बीच ही परस्पर सामाजिक प्रतिक्रिया होगी। डेढ़ वर्ष के लगभग प्रायः यह देखा जाता है कि एक बच्चा एक साथ दो अन्य बच्चों के प्रति प्रतिक्रिया प्रगट कर सकता है।

अभी तक हमलोगों ने २ वर्ष तक के बच्चों की पारस्परिक सामाजिक क्रियाओं (social interactions) की चर्चा की। ब्रिजेज (Bridges) ने १९३१ ई० में २ वर्ष के बाद बच्चों के सामाजिक व्यवहार का विस्तृत अध्ययन किया है। उन्होंने नर्सरी स्कूल के बच्चों में सामाजिक विकास की निश्चित प्रतिकृति (definito pattern) देखी, जिसका उल्लेख यहाँ किया जाना अपेक्षित है।

दो-पाँच वर्ष की अवधि में नर्सरी स्कूल के बच्चों के व्यवहार में काफी प्रगति देखी जाती है। प्रारम्भ में इन बच्चों में सामाजिक तटस्था (social indiff-

erence) देखी जाती है। लेकिन, इस अवस्था में वे आत्मदृढ़ता (self-assertiveness) तथा अन्य बच्चों की स्वतंत्रता में विघ्न देना (interference) आदि अवस्थाओं से गुजरते हुए बाद में अन्य बच्चों के प्रति आदर, सहानुभूति तथा दया आदि का व्यवहार प्रगट करते हैं।

इस अवस्था में वे सामूहिक खेल (group play) का आनन्द लेते हैं और पारस्परिक आनंद (mutual enjoyment) के लिये एक-दूसरे को सहयोग भी देते हैं। वे दूसरों की मान्यता (approval) तथा अमान्यता (disapproval) पर ध्यान देते हैं तथा अपने कार्य की अपेक्षा शब्दों द्वारा उन्हें व्यक्त भी करते हैं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस पूर्व-पाठशालीय अवस्था (दो-पांच वर्ष की आयु) में सभी बच्चों में इतनी उच्च कोटि के सामाजिक व्यवहार नहीं देखे जाते। हलांकि, कुछ ऐसे भी बच्चे होते हैं जिनमें तीन वर्ष की आयु में ही उन्नत (advanced) सामाजिक विकास हो जाते हैं। अतः, वैयक्तिक भिन्नता सामाजिक विकास की अवस्था (stage) में प्रत्यक्ष रूप से देखी जाती है। इतना ही नहीं, सभी बच्चों के सामाजिक विकास की प्रगति (progress) एक समान नहीं होती। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि उनका सामाजिक व्यवहार छोटे-छोटे बच्चों के समान हो जाता है और उनमें गैर-सामाजिक (anti-social) व्यवहार विकसित हो जाते हैं। लेकिन, जब सामाजिक व्यवहार के सभी पहलुओं (aspects) पर एक साथ विचार किया जाय, तो देखा जाता है कि इस पूर्व-पाठशालीय अवस्था में बच्चों के सामाजिक विकास में काफी प्रगति होती है।

बच्चों के सामाजिक विकास के क्रम में, पूर्व-पाठशालीय अवस्था में, देखा जाता है कि कुछ बच्चे दूसरों पर अपना प्रभुत्व (dominance) दिखाते हैं और कुछ ऐसे हैं जो दूसरों की अधीनता (submission) स्वीकार कर लेते हैं। बच्चों में इस प्रकार के विकासात्मक स्वरूप का अध्ययन १९३४ ई० में जैक (Jack) ने किया है। दो-छः वर्ष के बच्चों का विशेष परिस्थिति में निरीक्षण किया गया। दो बच्चों को एक साथ कमरे में लाया गया, जहाँ काफी खिलौने थे। एक तरफा पर्दा (one-way screen) प्रणाली के द्वारा उनके व्यवहार का निरीक्षण किया गया।

नीचे लिखे द्वारा किसी भी व्यवहार को प्रभुत्व की प्रवृत्ति (dominance) समझा गया।

(क) दूसरे से खिलौना ले लेने की चेष्टा करना।

(ख) खिलौना प्राप्त करने में सफलता पाना।

(ग) अन्य बच्चों द्वारा कोई कार्य सम्पादन कराने की योग्यता रखना।

(घ) साथियों की आलोचना करना।

(ङ) कोई कार्य करना, जिसका अनुकरण उनके साथी करें।

इस तरह प्रत्येक बच्चे को अन्य दूसरे बच्चों के साथ रखकर अध्ययन किया गया। बच्चों में यह प्रवृत्ति अधिक-से-अधिक और कम-से-कम भी देखी गई। यह देखा गया कि प्रशिक्षण के फलस्वरूप अधीनताप्रिय (submission) बच्चों में भी प्रभुत्व की प्रवृत्ति कुछ मात्रा में बढ़ गई। अन्य मनोवैज्ञानिकों ने बतलाया है कि अगर अधीनताप्रिय बच्चों को उचित प्रोत्साहन (encouragement) तथा निर्देशन (guidance) दिये जाँय, तो वे सामाजिक रूप से प्रभुत्व की प्रवृत्ति (dominance) दिखा सकते हैं।

६. सामाजिक व्यवहार के रूप

(Forms of Social Behaviour)

शैशवावस्था में व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों पर आश्रित रहना पड़ता है तथा पर्याप्त निगरानी (care) की आवश्यकता होती है। ये बच्चे आरम्भ में आत्म-केंद्रित (self-centered) स्वभाव के होते हैं। धीरे-धीरे, ये वयस्कों तथा अन्य बच्चों के सम्पर्क में आते है—जिसके फलस्वरूप इनमें तरह-तरह के सामाजिक व्यवहार विकसित होने लगते हैं। बाल्यावस्था में बहुत ऐसे सामाजिक व्यवहार प्रगट होते है, जो बच्चों को समाज के साथ सफलतापूर्वक अभियोजन (adjustment) करने में सहायक होते है। सामाजिक व्यवहार के विकास की प्रगति मुख्यत: इस बात पर निर्भर करती है कि बच्चों को समाज में वयस्कों तथा अन्य बच्चों के सम्पर्क में आने का कितना अवसर प्राप्त होता है।‡ मनोवैज्ञानिकों ने बतलाया है कि नर्सरी स्कूल के बच्चे, अन्य बच्चों की अपेक्षा, जो स्कूल नहीं जाते, अधिक सफलता से सामाजिक अभियोजन करते हैं। खेल के द्वारा बच्चे अन्य

‡ A. T. Jersild & Fite, 1939

व्यक्तियों तथा समुदाय के साथ अभियोजन स्थापित करना सीखते हैं, जहाँ उन्हें कोई वस्तु किसी से लेने अथवा देने का अवसर प्राप्त होता है। इसका ही नहीं, वे यह भी सीखते है कि किसी वस्तु पर कैसे अधिकार पाया जाय तथा अन्य व्यक्तियों के साथ उनमें कैसे हाथ बटाया जाय। अनुकरण के द्वारा वे सीखते हैं; वे अन्य साथियों की तरह बनने के लिये उनकी बोली तथा क्रियाओं (actions) का अनुकरण करते है। हमेशा वे ऐसा व्यवहार दिखाने की चेष्टा करते हैं, जो अन्य व्यक्तियों तथा अपने समुदाय (group) द्वारा प्रशंसित हों।

अब हम नीचे बच्चों के सामाजिक व्यवहार के विभिन्न रूपों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

१. अनुकरण (Imitation)

देखा जाता है कि जब बच्चे की रुचि (interest) अन्य बच्चों में होने लगती है, तब वह उनके शब्दों तथा कार्यों का अनुकरण करना शुरू कर देता है। वह यह भी सीखने लगता है कि अन्य बच्चे किस तरह हँसते है अथवा रोते है तथा किसी संवेगिक परिस्थिति (emotional situations) में कैसे व्यवहार करते है। इस तरह वह बच्चा समुदाय (group) के अनुकूल अपनी संवेगिक अभिव्यक्ति (Indentification) करता है और उनके साथ एकरूपता स्थापित करने की चेष्टा करता है।

२. प्रतिद्वंद्विता (Rivalry)

चार वर्ष की आयु के लगभग बच्चों में प्रतिद्वंद्विता की भावना देखी जाती है। दूसरों से आगे बढ़ने की इच्छा को 'प्रतिद्वंद्विता' कहते है। लगभग तीन वर्ष की आयु में ही यह बच्चों में वर्तमान रहती है; किन्तु, इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति विनाशात्मक (distructive) रूप में होती है। प्रायः, दूसरों के उसकाने पर ही बच्चों में प्रतिद्वंद्विता की भावना आती है। पांच वर्ष की आयु के लगभग यह अत्यन्त प्रभावपूर्ण मनोवृति (dominant attitude) के रूप में बच्चों में देखी जाती है। बच्चों को कोई भी कार्य करने में यह उत्साहित करती है और इससे उन्हें सफलता भी मिलती है। मुख्यतः किसी वयस्क की उपस्थिति में ही बच्चों में प्रतिद्वंद्विता का व्यवहार देखा जाता है।

३. प्रतिवादिता (Negativism)

परिवार में वयस्क अधिकारियों के प्रति बच्चे प्रतिवादिता दिखाते हैं। यह प्राय: बाल्यावस्था में प्रगट होती है, जब घर में अनुशासन का प्रयोग काफी उग्र रूप में होता है। बाल-सुलभ व्यवहार (childish behaviour) के प्रति जब वयस्कों की कुछ ऐसी मनोवृत्ति (attitude) होती है, जिसे बच्चे नहीं सह सकते, उस स्थिति में भी वे अस्वीकारात्मक व्यवहार प्रदर्शित करते हैं। फलस्वरूप, बच्चे वयस्कों के आग्रह को स्वीकार नहीं करते। वे चुपचाप बैठे रहते, भोजन के आग्रह को भी अस्वीकार कर देते तथा कोई भी नियमित कार्य नहीं करते। रस्ट (Rust) ने बतलाया है कि प्रतिवादिता (negativism) का व्यवहार बच्चे शाब्दिक (verbal) तथा क्रियात्मक (motor) अभिव्यक्ति अथवा चुप्पी (silence) के द्वारा दिखाते हैं। हरलॉक (Hurlock) का मत है कि दो या तीन वर्ष की आयु में प्रतिवादिता उनके अहम् (Ego) के विकास की सामान्य स्थिति (normal phase) है। माँ-बाप के लिये अपने बच्चों के ऐसे सामाजिक व्यवहार से अधिक दुखदायी कुछ नहीं होता। वे बच्चों के इस व्यवहार को असामाजिक व्यवहार के रूप में समझते हैं और उसे रोकने या नियंत्रित करने की यथाशक्ति चेष्टा करते हैं।

४. झगड़ना (Quarreling)

खेलने के सिलसिले में प्राय: बच्चों को झगड़ते देखा जाता है। सम्भवत: अनुभव की कमी के कारण उनका ऐसा सामाजिक व्यवहार होता है; क्योंकि वे पूर्ण रूप से खेल में सहयोग देना नहीं सीख पाते हैं। जब ये बच्चे झगड़ते हैं, तब खेलते हुए बच्चों का खिलौने ले लेते हैं, खेल के सिलसिले में वे बनायी हुई चीजों को बर्बाद कर देते हैं। आपस में मुठभेड़ भी हो जाती है और वे चीखते हैं, चिल्लाते हैं, उछल-कूद करते हैं तथा दाँत भी काट लेते हैं। यद्यपि उनकी ये अभिव्यक्तियाँ काफी तीव्र (intense) अथवा भयंकर रूप में होती हैं, प्राय: थोड़ी देर तक ही टिकती हैं। इसके बाद शीघ्र ही उनकी मित्रता फिर कायम हो जाती है। बच्चों का झगड़ा प्राय: खिलौने या किसी वस्तु के लिये होता है। अधिक आयु के बच्चों की अपेक्षा छोटे-छोटे बच्चों में इस प्रकार का व्यवहार कम देखा जाता है। कारण, छोटे-छोटे बच्चों को अन्य बच्चों के सम्पर्क में आने का कम अवसर प्राप्त होता है। दो वर्ष की आयु के बच्चों की अपेक्षा चार वर्ष के बच्चों का झगड़ना अधिक देर तक होता है। जरसिल्ड (Jersild) के मतानुसार तीन वर्ष की आयु के लगभग बच्चे अत्यधिक झगड़ालू (quarrel-

बच्चों का सामाजिक व्यवहार

some) होते हैं। लड़कियों की अपेक्षा लड़के अधिक झगड़ते हैं। लड़कियाँ तर्क (argument) का विशेष उपयोग करती है और लड़के शारीरिक शक्ति का। धीरे-धीरे आयु में वृद्धि के फलस्वरूप इस प्रकार के सामाजिक व्यवहार में कमी देखी जाती है और उनका सामाजिक अभियोजन सफल होता जाता है।

५. सहयोग (Co-operation)

छोटे-छोटे बच्चे आत्म-केंद्रित (egocentric) होते है तथा तीन वर्ष के लगभग वे अत्यधिक झगड़ालू होते हैं। अतः, अन्य बच्चों के साथ खेलने के सिलसिले में कम सहयोग का व्यवहार देखा जाता है। वयस्कों के साथ भी उनका सहयोग कम ही रहता है। चूंकि, बच्चों के खेलने में वयस्क अधिक सक्रिय भाग लेता है, इसलिये किसी वस्तु अथवा खिलौने आदि के देने पर बच्चे अपनी रुचि के अनुसार कोई चीज ले लेते है। चार वर्ष की आयु के लगभग बच्चों में सहयोग का व्यवहार अधिक देखा जाता है, जिसके फलस्वरूप वे अधिक देर तक खेल सकते हैं। अवसर प्राप्त होने पर अन्य बच्चों के सम्पर्क में वे सहयोग देना सीख लेते हैं।

६. सहानुभूति (Sympathy)

छोटे-छोटे बच्चों में सहानुभूति की प्रतिक्रिया नहीं देखी जाती। उदाहरण के लिये, जब उन्हें कोई जख्म (injury) तथा शरीर का कोई विकृत भाग दिखाया जाता है अथवा कोई दुखद कहानी सुनायी जाती है, तब बच्चों में सहानुभूति की प्रतिक्रिया नहीं होती। तीन वर्ष के लगभग कभी-कभी उनमें यह सामाजिक व्यवहार देखा जाता है। सहानुभूति की प्रतिक्रिया एक प्रकार का सामाजिक व्यवहार है, जिसमें बच्चे अन्य व्यक्तियों की संवेगात्मक अनुभूतियों की स्थितियों से प्रभावित होते है या इसे इस तरह कह सकते हैं कि सहानुभूति में दूसरों के संवेगों (emotions) तथा भावों (feelings) को समझना आवश्यक है। अगर कोई बच्चा या वयस्क घोड़े या साइकिल से गिर पड़ता है, तो दूसरे बच्चे उसके प्रति सहानुभूति दिखाते हैं। इसी तरह, जब किसी व्यक्ति के पीटने या खिलौना छीन लेने के फलस्वरूप जब बच्चा रोता है, तब दूसरे बच्चे उसके प्रति सहानुभूति का व्यवहार दिखाते है। सहानुभूति में देखा जाता है कि बच्चे दूसरों की सहायता करते हैं, चूमते है, शरीर को सहलाते हैं तथा दुःख पहुँचाने वाली चीज को दूर करने की चेष्टा करते है। इनके अतिरिक्त अन्य तरह के सामाजिक व्यवहार भी बच्चों में देखे जाते है। प्रायः बच्चे अधिकारप्रिय (ascendant)

होते हैं। वे दूसरों पर अपना स्वामित्व अथवा अधिकार रखना चाहते हैं। प्राय: सभी बच्चों में प्रबल रूप में अधिकार की प्रवृत्ति देखी जाती है। खेल में दूसरों के खिलौने ले लेना तथा साथियों को खास ढंग से खेलने या कार्य करने के लिये निर्देशित करना, इसका सुन्दर उदाहरण है। दो-पाँच वर्ष की आयु तक अन्य लड़कों के साथ खेलने में लड़कियाँ अधिक प्रभुत्व की प्रवृत्ति प्रदर्शित करती है। जब बच्चों तथा माँ-बाप के बीच संतुलित संवेगात्मक संबंध नहीं रहता अथवा उन पर काफी नियंत्रण रहता है, तब अधिकांशत: बच्चों में उग्रता या काफी दृढ़ता (assertiveness) देखी जाती है।

इसी तरह, छोटे-छोटे बच्चे अन्य व्यक्तियों की स्वीकृति (approval) के लिये उत्सुक रहते हैं। चूंकि, बच्चे प्रारम्भ में वयस्कों के सम्पर्क में आते हैं। अत:, उनकी स्वीकृति का महत्त्व अधिक रहता है। बाद में अन्य बच्चों के सम्पर्क (contact) में आने पर उनकी स्वीकृति का भी महत्त्व हो जाता है। आयु में वृद्धि के फलस्वरूप बच्चे की रुचि (interest) समुदाय (group) में तथा अन्य साथियों में बढ़ती जाती है और वे अपने व्यवहार द्वारा साथियों को प्रभावित करना चाहते हैं। अत:, वयस्कों की स्वीकृति की अपेक्षा साथियों की स्वीकृति का महत्त्व उनके लिये अधिक हो जाता है।

७. पाँच वर्ष के बाद बच्चों का सामाजिक विकास

५ वर्ष के लगभग बच्चे पाठशाला जाने के लिये जिज्ञासु हो जाते हैं। चूंकि पाठशाला के बारे में वे सुनते हैं, अत: नये साथियों तथा नई अनुभूतियों (new experiences) के लिये वे अग्रसर होना चाहते हैं। ऐसा उनका विश्वास होता है कि पाठशाला के सम्पर्क में आना विकास का सूचक है। पूर्व पाठशालीय अवस्था में बच्चे वयस्कों तथा अन्य बच्चों के साथ खेलने तथा अभियोजन स्थापित करने का अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। खेल में सहयोग देना तथा सहयोग प्राप्त करना आदि जान लेते हैं और पाठशाला की नई परिस्थिति में अभियोजन स्थापित करने (adjusting) में कम कठिनाई होने की सम्भावना रहती है।

पाठशाला में प्रारम्भिक वर्षों में जितनी आसानी से मित्रता होती है, उतनी ही आसानी से टूटती भी है। बच्चे अपना संबंध घर से कायम रखना चाहते हैं। इस अवस्था में वे अकेले खेलना नहीं चाहते; बल्कि खेलने तथा

किसी कार्य के सम्पादन में सहयोग देना चाहते है। गुडएनफ (goodenough, 1945) ने बच्चों के सामाजिक संबंधों के परिवर्तन का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार पूर्व पाठशालीय अवस्था (५ वर्ष के पहले) में यद्यपि बच्चों में समाजीकृत खेल (Socialiazed play) का प्रारम्भ होने लगता है, खेल का स्वरूप आत्मकेंद्रित (Egocentric) ही होता है। बच्चा इस अवस्था में कहता है—"मैं अपने साथ खेलने के लिये साथी चाहता हूँ।" ५ वर्ष के लगभग इस आत्मकेंद्रितता (Egocentricity) का अंत होने लगता है और बच्चा अन्य साथियों के साथ खेलना चाहता है। उस अवस्था में वह कहता है—"मैं अन्य साथियों के साथ खेलने के लिये जाना चाहता हूँ।" +

जब बच्चों की शिक्षा आरम्भ हो जाती है, तब उन्हें सर्वप्रथम वयस्कों के समाज के द्वन्द्वात्मक (Conflicting) परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। अतः, मध्य बाल्यावस्था में इस अंतर्द्वंद्व के फलस्वरूप बच्चे वयस्कों के प्रतिमान (adult standard) का अनादर करने लगते हैं और साथ ही दल (gang) का संगठन करने लगते हैं। उस दल के निर्माण तथा कार्य-संचालन में उनका अपना दृष्टिकोण होता है। ९-१० वर्ष की आयु (age) के लगभग बच्चों के सामाजिक व्यवहार में मुख्यतः तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ देखी जाती है। ब्लेयर (Blair) तथा बर्टन (Burton) ने १९५१ ई० में बच्चों की उत्तरार्द्ध बाल्यावस्था में सामाजिक व्यवहार का अध्ययन किया। उन्होंने तीन प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है।

(क) वयस्कों के प्रतिमान का विरोध (Rejection of adult standard).

(ख) यौन-विभेदन (Sexual differentiation).

(ग) दल-निर्माण (Formation of gang).

(क) बच्चे पहले वयस्कों के सामाजिक प्रतिमान (Social standard) को स्वीकार करते है, लेकिन उत्तरार्द्ध बाल्यावस्था में वे इसका घोर विरोध करने लगते है। यह विरोध किशोरावस्था के पूर्व भाग में शुरू हो जाता है। हमलोग यह जान चुके हैं कि ३ वर्ष की आयु के लगभग बच्चों में

+ Goodenough, 1945.

सर्वप्रथम प्रतिवादिता (negativism) पाई जाती है। बाद में फिर बच्चे अपने माँ-बाप को सर्वशक्तिमान (all-powerful) तथा पूर्ण बुद्धिमान (all-wise) समझने लगते हैं। फिर जब वे पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करना प्रारम्भ करते हैं और यह जान लेते हैं कि सारे नियम-कानून मनुष्य के बनाये हुए हैं, तब उनका विरोध करने की सम्भावना उन्हें दीख पड़ती है। अतः, वे अध्यापकों तथा अन्य वयस्कों से उचित संबंध भी तोड़ लेते और उनके सामाजिक नियमों का विरोध भी कर देते हैं। यह विरोध १० वर्ष की आयु के लगभग उनमें अधिकांशतः देखा जाता है।

(ख) छोटे-छोटे बच्चे खेल के सिलसिले में यौन-भेद का महत्त्व नहीं देते। बालक-बालिकायें सभी साथ खेलती हैं। ऐसी कोई बात नहीं होती कि बालक अन्य बालकों के साथ और बालिका अन्य बालिकाओं के ही साथ खेलें। पाठशाला में शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु (age) में ही बच्चों के व्यवहार में परिवर्तन देखा जाता है। बालक-बालिकाएँ आपस में एक-दूसरे के प्रति कुछ अंश में विरोध (antagonism) का भाव दिखाते हैं। लगभग ७ वर्ष की आयु तक बच्चे सामाजिक संबंध में यौन-भेद (Sex difference) की उपेक्षा करते हैं। ८ वें वर्ष से वे इसकी प्रधानता देने लगते हैं। १० और ११ वर्ष की आयु के लगभग विरोध बढ़ जाता है। अतः, जब कभी बालक-बालिकाओं का सम्पर्क होता है, तब फल यह होता है कि वे एक दूसरे को चिढ़ाते हैं, आपस में झगड़ते हैं और बेवकूफ बनाने की चेष्टा करते हैं।⊛ यद्यपि यह विरोध बालक और बालिकाओं के बीच देखा जाता है और दोनों में से प्रत्येक अपने को दूसरे से श्रेष्ठ (Superior) समझते हैं; बालिकायें हमेशा बालकों का आदर करती हैं। लेकिन, बालक बालिकाओं के प्रति समान आदर का भाव नहीं रखते। १४ वर्ष की आयु के लगभग लड़कियाँ लड़कों के प्रति वही भाव रखती हैं, जो अन्य लड़कियों के प्रति रहता है। इस आयु में भी लड़के लड़कियों के प्रति विरोध कायम रखते हैं। +

(ग) आयु (age) तथा जाति (sex) के अनुकूल व्यक्तियों द्वारा सामाजिक समुदाय का संगठन ही दल-निर्माण कहलाता है। बच्चों के इस संगठन को 'दल' (gang) कहा जाता है। चूँकि बच्चे वयस्कों के प्रतिमान

⊛ Campbell, 1939.

\+ Smith, 1939.

(standard) का विरोध करते हैं और विपरीत सेक्स के व्यक्तियों में अरुचि (disinterest) दिखाते हैं; अतः उन्हें तीसरी दिशा में मुड़ना पड़ता है। वे सरल ढंग के सामाजिक संगठन (social organization) में क्रियाशील हो जाते हैं। बच्चों के लिये इस प्रकार के सामाजिक समुदाय को 'दल' (gang) कहा जाता है। इस तरह के सामाजिक व्यवहार की अवधि ७ वर्ष से लेकर १२ वर्ष की आयु के लगभग रहती है। दल का निर्माण स्वाभाविक (spontaneously) रूप में होता है। एक दल में प्रायः पाँच व्यक्ति होते हैं; लेकिन आठ व्यक्तियों से अधिक संख्या शायद ही होती है। ये प्रायः एक ही जाति (same sex) के रहते हैं और लगभग एक ही आयु (same age) के। दल-निर्माण में समान रुचि, व्यक्तिगत दिखावट (personal appearance) तथा सामाजिक-आर्थिक (socio-economic) स्थिति का अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता।

८. सामाजिक विकास को प्रभावित करनेवाले तत्त्व

१. शारीरिक बनावट

अगर किसी बच्चे की शारीरिक बनावट में कोई दोष (defect) स्पष्ट हो, तो उसके सामान्य सामाजिक विकास में बाधा पहुँचती है। उसके दोष को अन्य बच्चे हमेशा बतलाते रहते हैं तथा चिढ़ाते हैं। फल यह होता है कि बच्चा अपने दोष के कारण अन्य बच्चों से अलग रहना चाहता है। वह अन्य बच्चों की तुलना में अपने शरीर में कमी पाता है, जिससे उसमें हीनता की भावना (feeling of inferiority) आ जाती है। यह उसके सामाजिक विकास में बाधक होता है। अगर बच्चा नाटे कद का हो, तो उसे भी अन्य सामान्य ऊँचाई के बच्चों के साथ सामाजिक अभियोजन में कठिनाई होती है। ठीक इसी तरह, अधिक दुबला-पतला लम्बा बच्चा भी अन्य बच्चों की कर्कश आलोचनाओं से नहीं बच पाता। खेल-कूद में इन असामान्यताओं के कारण बच्चों का उचित सामाजिक विकास नहीं हो पाता और ये बच्चे प्रायः अन्तर्मुखी हो जाते हैं या अन्य तरह से अपनी कमी की पूर्त्ति के लिये व्यवहार का प्रदर्शन करते हैं। खेल में भाग लेने के बदले ये अच्छे कपड़े पहनना चाहते हैं या अपनी आयु से कम आयु के बच्चों के साथ खेलना पसन्द करने लगते हैं। भाषा-दोष तथा अंग-दोष से उचित सामाजिक विकास नहीं हो पाता और न वे किसी समुदाय अथवा दल का नेतृत्व ही कर सकते हैं।

२. स्वास्थ्य (Health)

स्वस्थ बच्चा प्रसन्न रहता है और उसका सामाजिक विकास सामान्य ढंग से होता है। वह वयस्कों के सम्पर्क में ही प्रसन्नता दिखाता है और उनके प्यार से संतोष प्राप्त करता है। अन्य बच्चों के साथ खेलने में उसे सुविधा होती है। काफी उत्साह के साथ वह देर तक खेल सकता है। स्वास्थ्य का आधार है पौष्टिक भोजन और उचित रूप से पालन-पोषण। स्वस्थ बच्चों के सम्पर्क में वयस्क भी अधिकाधिक आना चाहते है, जिससे उनके सामाजिक विकास में काफी सुविधा प्राप्त होती है। बच्चे वयस्कों के व्यवहारों का अनुकरण करते है और अन्य बच्चों के समक्ष उन्हें व्यक्त करते हैं। लेकिन, अस्वस्थ बच्चों के साथ बड़ी कठिनाई होती है। जिन बच्चों का पालन-पोषण उचित रूप से नहीं होता और जो अस्वस्थ रहते हैं, वे प्रायः संकोची (shy) तथा अधीनताप्रिय हो जाते हैं। अस्वस्थ अवस्था में उन्हें वयस्कों पर आश्रित रहना पड़ता है तथा हमेशा परिचर्या की आवश्यकता होती है। फलतः उनके स्वभाव में काफी परिवर्तन आ जाता है और वे स्वार्थी, जिद्दी तथा उद्दंड हो जा सकते हैं। स्वस्थ बालक समुदाय-संगठन में काफी उत्साह से कार्य करते हैं और नेतृत्व करने की क्षमता रखते है।

३. पारिवारिक वातावरण

परिवार को प्रथम शिक्षालय माना गया है, जहाँ बच्चों का समाजीकरण होता है। बच्चे परिवार में ही सर्वप्रथम अपने माँ-बाप तथा परिचारिका के सम्पर्क में आते हैं और उनके प्रति सामाजिक प्रतिक्रिया प्रगट करते है। फिर, बाद में अन्य बच्चों के प्रति उनका सामाजिक व्यवहार देखा जाता है। अतः, परिवार के वातावरण में ही उनके सामाजिक विकास का प्रारम्भ होता है। परिवार में सबसे मुख्य ध्यान देने योग्य बात है—बच्चों का अपने माँ-बाप के साथ संबंध। देखा गया है कि जिन बच्चों के माँ-बाप आपस में सुन्दर सामाजिक संबंध नहीं रख पाते, उनके बच्चों का भी समुचित सामाजिक विकास नहीं हो पाता। अत्यधिक लाड़-प्यार से पले हुए बच्चे आश्रित (dependent) रहना सीख लेते हैं। अगर अनियमित रूप से बच्चों पर शासन रखा जाय, तो उनके व्यवहार में एकरूपता नहीं रह पाती। इसी तरह अगर समान रूप से बच्चों के साथ सामाजिक संबंध नहीं रख पाते, तो प्यार करने वाले व्यक्ति के साथ उनका संबंध अधिक हो जाता है और दूसरे के साथ वह विरोधी व्यवहार प्रदर्शित करता है।

इस सिलसिले में अलफ्रेड एडलर (Alfred Adler) का अध्ययन उल्लेखनीय है। परिवार में बच्चों के जन्म के क्रम (Birth order) का काफी महत्त्व है। अकेले (only) तथा सबसे बड़े (eldest) बच्चे के लिये परिवार का वातावरण अनुकूल होता है और उसका सामाजिक विकास उचित ढंग से हो पाता है। लेकिन, सबसे छोटे बच्चे के बारे में एडलर का मत है कि प्रायः वह संतुलित रूप में विकसित नहीं हो पाते। बड़े और छोटे बच्चों के बीच का बच्चे का भी सामाजिक विकास उचित रूप में नहीं हो पाता। कारण यह है कि एकलौता होने के कारण सबसे बड़े बच्चे का लालन-पालन उचित रूप में अथवा काफी सावधानी से होता है और सभी तरह के साधन भी उसके विकास के लिये प्रस्तुत किये जाते हैं। लेकिन, जब उसके बाद दूसरा बच्चा परिवार में आ जाता है, तब उसके विकास में बाधा पहुँच जाती है। छोटे बच्चों को अधिक लाड़-प्यार में पलना पड़ता है और वह अपने को सबसे छोटा पाता है। उसे दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है। अतः, उसका सामान्य रूप में सामाजिक विकास नहीं हो पाता। यही स्थिति बीच वाले बच्चे की भी होती है। बड़े और छोटे बच्चे की देख-रेख के बाद इसके लिये अवसर ही कम रह जाता है। अतः, वह परिवार से अन्यत्र अपनी रुचि (interest) स्थिर करने की चेष्टा करने लगता है।

बच्चों का सामाजिक विकास परिवार की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति (Socio-econonic status) पर भी निर्भर करता है। जिस परिवार में खेलने तथा पढ़ने-लिखने के जितने साधन रहेंगे, वहाँ बच्चों का उतना ही विकास सम्भव होगा। सभ्य परिवार में अनुकरण के द्वारा बच्चे वयस्कों तथा अन्य बच्चों के मान्य (accepted) सामाजिक व्यवहार को ही सीख पाते है। ध्यान देने योग्य बात है कि सामाजिक विकास बच्चों की पारिवारिक स्थिति पर भी निर्भर करता है। गोद लिये हुए बच्चे (adopted child) की सामाजिक स्थिति अपने बच्चे के समान नहीं होती और उसका सामाजिक विकास भी समान ढंग से नहीं हो पाता।

४. पाठशाला का वातावरण

हमारे यहाँ प्रारम्भिक शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं है। अतः, बच्चों की पाठशालीय अवस्था में सुंदर ढंग से सामाजिक विकास नहीं हो पाता। न तो यहाँ के अध्यापक ही बालमनोविज्ञान का ज्ञान रखते हैं और न बच्चों के साथ उचित सामाजिक संबंध ही रख सकने में वे समर्थ होते है। फल यह

होता है कि ऐसे अयोग्य अध्यापकों के कारण पाठशालाओं में उचित मनोवैज्ञानिक वातावरण की कमी रहती है और बच्चों का सामाजिक तथा सांवेगिक विकास उचित रूप में नहीं हो पाता। लेकिन, जहाँ प्रारम्भिक शिक्षा (primary education) की उचित व्यवस्था है, वहाँ बच्चों को काफी सुविधायें प्राप्त हैं। देखा गया है कि नर्सरी स्कूल में बच्चों का सामाजिक विकास उन बच्चों से अधिक तेजी से होता है, जो स्कूल नहीं जा पाते। ये अधिक प्रसन्न दीख पड़ते हैं। किसी वस्तु के छिन जाने पर भी उदासीन नहीं होते, काफी वाचाल हो जाते, दूसरों के प्रति सहानुभूति (sympathy) दिखाते और काफी उत्साह से खेल में सक्रिय भाग लेते हैं। अच्छे नर्सरी स्कूल के वातावरण में बच्चों का बौद्धिक (Intellectual) तथा सामाजिक विकास काफी देखा गया है। इस सिलसिले में यह भी सावधानी रखनी है कि केवल पाठशाला का वातावरण ही मुख्य नहीं है, बल्कि बच्चों का वह वातावरण भी काफी महत्त्व रखता है, जहाँ वे रहते हैं।

आधुनिक शिक्षालय, जहाँ योग्य अध्यापक हों तथा शिक्षण, खेल और आनन्द के पर्याप्त साधन हों, वहाँ बच्चों को अधिकाधिक सीखने की सुविधा प्राप्त होती है। फलतः वे आपस में काफी आनन्दपूर्वक रहना सीखते हैं तथा किसी भी व्यक्तिगत अथवा सामाजिक कार्य में दिलचस्पी दिखाते हैं। अन्य विद्यार्थियों के सम्पर्क में उनका भय तथा संकोच खत्म हो जाता है। धीरे-धीरे वे अन्य अध्यापकों तथा अध्यक्ष आदि से मिलना और बातें करना आदि सीख लेते हैं। वस्तुतः, पाठशाला में केवल पुस्तकों का ही ज्ञान प्राप्त नहीं होता, बल्कि व्यक्ति के सांवेगिक तथा सामाजिक व्यवहार का भी उचित विकास होता है। वे अन्य विद्यार्थियों, शिक्षकों तथा अध्यक्ष आदि के साथ समुचित सामाजिक व्यवहार सीखते हैं, जो उनके सामाजिक अभियोजन की सफलता में सहायक होते हैं।

५. खेल तथा अन्य आनन्द के साधन

खेल तथा आनन्द के अन्य साधनों द्वारा भी बच्चों का सामाजिक विकास प्रभावित होता है। छोटे बच्चे खेलना चाहते हैं। अन्य बच्चों के साथ वे पहले रुचि (interest) नहीं दिखाते और स्वयं खिलौने के साथ खेलते हैं। आयु-वृद्धि के साथ उनकी रुचि अन्य बच्चों में बढ़ने लगती है और वे उनके साथ खेल में भाग लेने लगते हैं। खेल में उनके व्यवहार का काफी विकास होता है।

वे सहानुभूति प्रगट करना तथा सहयोग देना सीखते हैं। वे समुदाय के नियमों का पालन करना और उनकी सुरक्षा का प्रबंध करना सीखते हैं। जो बालक अधिक स्वस्थ तथा सुंदर शारीरिक बनावट का रहता है, वह नायक (leader) बनने का अवसर प्राप्त करता है। अन्य बच्चे उसके अधीन रहकर किसी खास तरह के खेल में भाग लेते हैं। अन्य बच्चों के सम्पर्क में आने पर उनके व्यवहार समान हो जाते हैं और सामाजिक मान्यता के अनुकूल ही उनका प्रत्यक्ष व्यवहार होता है। खेलने के सिलसिले में भावों तथा विचारों का आदान-प्रदान आवश्यक हो जाता है और वे बाल-चाल में भी सामाजिक ढंग से व्यवहार प्रगट करते हैं। खेल उनके सामाजिक अभियोजन की क्षमता की वृद्धि में सहायक होता है।

इसके अतिरिक्त, बच्चों की अभिव्यक्ति स्वतंत्र रूप से खेल के द्वारा ही सम्भव है। वे खेलने में आनन्द प्राप्त करते हैं और प्रायः सक्रिय भाग लेते हैं। खेल के द्वारा वे यह सीख पाते हैं कि अन्य व्यक्तियों के साथ कैसा सामाजिक संबंध रखा जाय।

तैरना तथा मैदानों में घूमना, बच्चों के आनन्द के साधन हैं। घर में, बच्चों के आनन्द के लिये कभी-कभी उनके साथ वयस्कों का खेलना भी सामाजिक विकास में सहायक होता है। नाटक, संगीत तथा मेले आदि में बालकों की रुचि अधिक देखी जाती है। अतः, इस तरह के वातावरण में बच्चों को अत्यधिक सीखने का अवसर प्राप्त होता है। वस्तुतः आनन्द के साधनों द्वारा ही बच्चों का सामाजिक विकास काफी प्रभावित होता है।

६. क्लब, कैम्प तथा दल का प्रभाव

बच्चों के सामाजिक विकास में इनका काफी प्रभाव पड़ता है। जो बच्चा किसी क्लब का सदस्य होता है, वह अन्य बच्चों की अपेक्षा अधिक सहयोगी होता है। क्लब में सबों से मिलना पड़ता है तथा किसी कार्य में सहयोग देना पड़ता है। अतः, सबों की रुचि एक हो जाती है। क्लब की उन्नति तथा किसी विचार के समर्थन के लिये बच्चे सहयोग देना और सक्रिय रूप में भाग लेना सीखते हैं।

बच्चे नवीनता तथा परिवर्तन को बहुत पसन्द करते हैं। अतः, जब घर के वातावरण को छोड़कर कुछ दिनों के लिये वे अन्यत्र कैम्पिंग (Camping) में

जाते है, तब उन्हे अत्यन्त प्रसन्नता होती है। नगर में रहने वाले बच्चों के जीवन में किसी पहाड़ी अथवा उत्तम जलवायु का परिवर्तन अधिक प्रिय होता है। कैम्प के वातावरण में बच्चों में आत्मविश्वास (self-confidence) बढ़ जाता है और वे अधिक शिष्ट तथा विनीत (courteous) हो जाते है। वे दूसरों की सहायता तथा कल्याण में अधिक सावधानी दिखाते है। कैम्प-जीवन से बच्चे निस्वार्थ, साहसी तथा उत्साही हो जाते है। दूसरों की सहायता करना, मिलना तथा मित्रता करना आदि भी वे सीख लेते है।

'दल' का प्रभाव भी बच्चों पर कम नहीं पड़ता। वे दल के अनुशासन को मानना सीखते है। दल की व्यवस्था तथा सुरक्षा के लिये सभी व्यक्तियों को नायक के आदेश का पालन करना पड़ता है। दल में बच्चे स्वतंत्र रूप से कार्य करते है और वयस्कों के हस्तक्षेप का विरोध करते है। यहाँ उन्हें जीवन की वास्तविकता का सामना करना पड़ता है। वे अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं करना अच्छा समझते है। दल का निर्माण वयस्कों के अधिकार के विरोध में ही होता है, जब बच्चे वयस्कों के प्रतिमान (standard) का विरोध करते है तथा स्वयं अपना क्षेत्र निर्माण करना चाहते है। यहाँ अपने दल में वे समान आयु (equal age) के तथा एक जाति (same sex) के व्यक्तियों को ही सम्मिलित करते हैं। दल से सबसे बड़ा खतरा यह है कि दल का कार्य-क्रम कहीं असामाजिक न हो जाय।

७. सामाजिक नियम

समाज में प्रचलित नियमों तथा विश्वासों का प्रभाव बच्चों के सामाजिक विकास पर पड़ता है। चाहे यह प्रभाव बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में हितकर हो या अहितकर। समाज में किसी भी समुदाय (group) की जो प्रचलित रीतियाँ तथा आदर्श है, उन्हीं के अनुसार बच्चों का व्यवहार निर्देशित होता है। बच्चे घर की तथा समुदाय की परिपाटी का अनुकरण करना सीखते है, ताकि वे सामाजिक मान्यता प्राप्त कर सकें। अतः, सामाजिक मान्यता के अनुकूल उनका आचरण (conduct) विकसित होता है। जिन व्यवहारों तथा विचारों पर समाज का नियंत्रण रहता है, बच्चे भी उनका विरोध करते हैं; क्योंकि अमान्य आचरणों से उन्हें समाज में मान्यता नहीं मिल सकती। सामाजिक प्राणी के नाते बच्चों की जीवन-शैली (style of life) समाज के अनुकूल होती है

और इसी शैली का प्रभाव उनके खेल पर तथा अन्य व्यक्तियों के साथ संबंध पर भी पड़ता है। शहर तथा देहात के बच्चों के सामाजिक व्यवहार में थोड़ी भिन्नता रहती है। खेल में परिलक्षित सामाजिक व्यवहार से यह स्पष्ट हो जाता है कि बच्चों का लालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा किस वातावरण में हुई है। बच्चों की सामाजिक मनोवृत्ति (social attitude) भी सामाजिक मान्यता (social approval) के अनुकूल ही विकसित होती है।

—:—

अध्याय ११

चिंतन-विकास

(THINKING DEVELOPMENT)

१. चिंतन का स्वरूप

चिंतन (thinking) मनुष्य की एक जटिल मानसिक क्रिया है, जो उसकी अन्यान्य क्रियाओं की अपेक्षा सबसे अधिक जटिल मानी जाती है। वुडवर्थ (Woodworth) ने मनुष्य को स्पष्ट रूप से एक चिंतन-प्रधान प्राणी (thinker) माना है। शायद अन्य कारणों की अपेक्षा इस आधार पर भी निम्न कोटि के जानवरों और मनुष्यों में अंतर निश्चित किया जाता है। चिंतन-क्रियाओं से कई तरह की क्रियाओं का बोध होता है। इनमें दिवा-स्वप्न (Day-dreaming), अभिलाषित-चिंतन (autistic thinking) तथा तर्क करना (reasoning) आदि मुख्य हैं। इन तीन प्रकार की चिंतन-क्रियाओं में तर्क करना (reasoning) अधिक महत्त्वपूर्ण है। चिंतन-क्रिया को उचित रूप से समझने के लिए इन विभिन्न प्रकार की क्रियाओं की व्याख्या आवश्यक है।

१. दिवा-स्वप्न (Day-dreaming) एक प्रकार की चिंतन-क्रिया है, जिसमें एक के बाद दूसरे विचार (Ideas) क्रम-बद्ध (sequence)

रूप में आते हैं और ये सभी किसी उद्देश्य (goal) की ओर निर्देशित होते हैं। प्रायः हर व्यक्ति की कुछ इच्छा होती है और दिवा-स्वप्न की क्रिया व्यक्ति को इसी इच्छा की पूर्त्ति की ओर ले जाती है।

२. अभिलाषित-चिन्तन (autistic thinking) एक दूसरी प्रकार की चिन्तन-क्रिया है। इसमें विचारों का क्रम पूर्णतया चिन्तक (thinker) की अभिलाषा (wish) के द्वारा ही निर्धारित होता है और सार्वजनिक तथ्य (facts), वास्तविकता (reality), तर्क अथवा सामाजिक प्रमाण (social confirmity) आदि का विशेष महत्त्व नहीं रहता। इस प्रकार की मानसिक क्रिया के द्वारा स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से व्यक्ति की अपूर्ण अभिलाषाओं (unfulfilled desires) की संतुष्टि होती है। वस्तुतः इस प्रकार की चिन्तन-क्रिया बच्चों में ही अधिकांशतः पाई जाती है। इसके मुख्य कारण अपरिपक्वता तथा अनुभवहीनता है। इसके अतिरिक्त, यह भी अधिक महत्त्वपूर्ण कारण है कि इन बच्चों का संबंध अन्य व्यक्तियों के साथ किस प्रकार का होता है। बच्चों का चिन्तन इस बात पर निर्भर नहीं करता कि वे क्या जानते हैं, बल्कि वे क्या चाहते है अथवा क्या विश्वास रखना (desires to believe) चाहते हैं।

३. तर्क करना (reasoning) एक प्रकार की चिन्तन-क्रिया है, जिसका वास्तविकता से घना सम्बन्ध रहता है तथा प्रतीकों (symbols) के कुशल प्रयोग (manipulation) पर निर्भर करता है, जो उद्देश्य (goal) विशेष की ओर निर्देशित होता है। तर्क की क्रिया को समस्या-समाधान—क्रिया (problem solving activity) कहा गया है। यह एक मानसिक क्रिया है। इस प्रकार की चिन्तन-क्रिया का प्रारम्भ तभी सम्भव होता है, जब व्यक्ति किसी प्रकार की समस्या से भयभीत होता है और अपने पूर्वानुभवों (past experiences) तथा पूर्वाभ्यासों के द्वारा उसका समाधान पा सकने में असमर्थ रहता है। समस्याओं के समाधान के लिये व्यक्ति को प्रयत्न और भूल (trial and error) विधि का सहारा लेना पड़ता है। अतः, तर्क करने की क्रिया एक प्रकार की मानसिक प्रयत्न और भूल की क्रिया है।* इस प्रकार के चिन्तन में जब व्यक्ति की मानसिक प्रयत्न और भूल की क्रिया (pro-

* Reasoning is a sort of mental trial & error process —Tiffin & Knight.

cess) जारी रहती है, उस समय उसमें शारीरिक क्रिया स्पष्ट रूप में दिखाई नहीं पड़ती। फिर भी, आन्तरिक क्रियायें जारी रहती हैं और अंग विशेष में भी परिवर्तन देख पड़ते हैं।

सीखना भी एक समस्या-समाधान (problem-solving) क्रिया है और दूसरी ओर, चिंतन भी एक समस्या-समाधान-क्रिया है। दोनों प्रकार के समस्या-समाधान में प्रयत्न और भूल की प्रक्रिया होती है। यहाँ दोनों के अंतर का स्पष्टीकरण आवश्यक है। सीखने के सिलसिले में 'प्रयत्न और भूल' क्रिया देखी जा सकती है, किंतु चिंतन में प्रयत्न और भूल की क्रिया को नहीं देख सकते। पहली अवस्था में प्राणी की प्रतिक्रियायें स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती हैं, किंतु चिंतन में मानसिक स्तर (mental level) पर ही प्रतीक के सहारे 'प्रयत्न और भूल' की क्रिया होती है, जो स्पष्ट रूप से देखी नहीं जा सकती। हाँ, अस्पष्ट रूप में आकृतियों में परिवर्तन देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, सीखने में वस्तुओं तथा परिस्थितियों के प्रति सीधी (direct) प्रतिक्रियायें होती हैं; लेकिन चिंतन में वस्तुओं की उपस्थिति में भी अस्पष्ट रूप में ही प्रतिक्रियायें होती हैं। उदाहरण के लिये, अगर *थॉर्नडाइक* (Thorndike) के प्रयोग (Experiment) को देखें, तो बिल्ली की प्रतिक्रिया उलझन-बक्स (puzzle-box) के प्रति स्पष्ट रूप से होती है। किंतु, चिंतन में मानसिक स्तर पर ही किसी समस्या का समाधान ढूँढ़ा जाता है। यहाँ पर बिल्ली तर्क (reasoning) के सहारे समस्या का समाधान नहीं करती, बल्कि उलझन-बक्स को पंजे के सहारे खोलना चाहती है। यहाँ मानसिक स्तर पर समाधान की क्रिया नहीं होती।

४. इस तरह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से समस्याजनक परिस्थितियों में वस्तुओं को स्पष्ट रूप से कुशल प्रयोग (manipulation) करके या प्रयत्न या भूल की क्रिया के द्वारा समस्या-समाधान को निम्न कोटि का व्यवहार माना जाता है। दूसरी ओर, मानसिक स्तर पर तर्क के द्वारा किये गये समस्या-समाधान को उच्च कोटि का व्यवहार माना जाता है। ध्यान देने योग्य बात है कि समस्यायें आसान भी हो सकती हैं और कठिन भी। समस्या-समाधान की सफलता मुख्यतः प्राणी की आयु, अनुभव तथा योग्यता आदि पर निर्भर करती है। तीसरे प्रकार की चिंतन-प्रक्रिया में जब समस्या उपस्थित होती है, व्यक्ति विगत जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त अनुभवों को समाधान के हित प्रयोग में लाते हैं। जो अनावश्यक हैं, उन्हें छोड़ देते हैं और जो आवश्यक हैं, उन्हें एक दूसरे से संबंधित करके प्रयोग में तब तक लाते हैं, जब तक कि समस्या का समाधान न मिल जाय।

२. बच्चों का चिंतन

तर्क करना (reasoning) सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रकार का चिंतन है। अतः, इस पक्ष पर अधिक जोर दिया जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार की चिंतन-क्रिया के क्षेत्र में काफी अन्वेषण हो चुके हैं। यहाँ पर हमलोगों के लिए यह जानना अधिक युक्तिसंगत है कि बच्चों में चिंतन-क्रिया का प्रारम्भ कब होता है और विभिन्न आयु में इस योग्यता में किस मात्रा में परिवर्तन होता है।

बच्चों की चिंतन-क्रिया के बारे में जानकारी प्राप्त करना कठिन है। बच्चे अपनी मानसिक क्रियाओं का निरीक्षण करने में असमर्थ रहते हैं और फिर वे उन क्रियाओं के बारे में अच्छी तरह सूचना भी नहीं दे सकते। अतः, यह मनोवैज्ञानिकों के लिये अधिक रुचिकर मालूम पड़ा। बच्चों की चिंतन-क्रिया का अध्ययन अप्रत्यक्ष (indirect) रूप से ही सम्भव हो सका है। इसलिये, निरीक्षण (observation) तथा प्रयोग (Experiment) की विधियों का उपयोग किया गया। इस समस्या पर *पियाजे* (Piaget) का अध्ययन अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने, छोटे-छोटे बच्चों की चिंतन-क्रिया का अध्ययन किया और उनके चिंतन की विशेषताओं (characteristics) को बतलाया है। यहाँ हम *पियाजे* के अध्ययन पर विचार करेंगे।

३. बच्चों के चिंतन की विशेषतायें

१. *पियाजे* (Piaget) के अध्ययन के मुताबिक बच्चों के चिंतन आत्मकेंद्रित (Egocentric) होते हैं। मुख्यतः वे अपनी आवश्यकताओं अथवा अपने से संबंधित चीजों में अधिक रुचि (interest) रखते हैं और उन्हीं चीजों पर उनका विश्वास केंद्रित रहता है। अन्य व्यक्तियों से सम्बन्धित चीजों के प्रति वे रुचि नहीं दिखाते। *पियाजे* ने यह भी देखा कि बच्चों में स्वगत भाषण (Egocentric speech) की प्रधानता रहती है। बच्चे स्वतः बातें करते हैं। अन्य बच्चों की उपस्थिति में अगर वे बातें करते भी हैं, तो विचारों के आदान-प्रदान की परवाह न करके स्वतः कुछ बोलते रहते हैं। इस प्रकार के संभाषण को *पियाजे* ने सामूहिक स्वगत भाषण (Collective Monologue) बतलाया है। प्रायः जब बच्चा अकेला रहता है, तब स्वगत भाषण उसमें देखा जाता है और साथ-ही-साथ उसकी किसी-न-किसी प्रकार की क्रियायें भी स्पष्ट रूप से दीख पड़ती हैं। समूह में भी वह अन्य साथियों के विचारों पर ध्यान

नहीं देता और न उनसे अपने प्रश्नों के उत्तर की प्रतीक्षा ही करता है, बल्कि स्वयं कुछ बोलना शुरू कर देता है। बच्चों की यह अभिव्यक्ति उनकी अपनी समस्याओं से संबंधित होती है।

२. बच्चों के चिंतन की दूसरी विशेषता के सिलसिले में *पियाजे* ने बतलाया है कि बच्चे संगतिविरुद्ध (Incompatible) या बेमेल विचारों को भी एक-दूसरे से संबंधित कर देते है। इस विशेषता को *पियाजे* ने संगतिविरुद्ध विचारों में एकरूपता स्थिर करना (Syncritism) बतलाया है।[1] इसमें बच्चे अपने विचारों का तर्कसंगत कारण नहीं दे सकते। वे केवल प्रयत्न और भूल' के द्वारा किसी समस्या का समाधान ढूँढ़ते है और उत्तर देते है। उदाहरण के द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अगर, ३ वर्ष की आयु से लेकर लगभग ७ वर्ष की आयु के बच्चों से पूछा जाय—"आकाश से चाँद क्यों नहीं गिरता ?" तो वह उत्तर दे सकता है—"क्योंकि, चाँद बहुत ऊपर आकाश में है।" या "चाँद मुझको बहुत अच्छा लगता है।" या "चाँद में रोशनी है।" इत्यादि। "तुम्हारी स्लेट कैसे टूट गई ?"—के उत्तर में वह कह सकता है—"वीणा की स्लेट बहुत अच्छी है।" या "मुझे भी वैसी ही स्लेट क्यों नहीं ला देते ?" आदि।

३. 'केवल एक घटना अथवा एक निष्कर्ष पर अन्यान्य समाजीकरण (generalisation) को आधारित करने की प्रकृति' बच्चों की चिंतन की तीसरी विशेषता है। *पियाजे* (Piaget) ने चिंतन की इस विशेषता को ट्रांसडक्सन (transduction) बतलाया है।[2] उन्होंने देखा कि किसी स्थितिविशेष में बच्चे को जो कुछ अनुभव होता है, उसी आधार पर वे दूसरी घटनाओं का भी निष्कर्ष निकाल लेते हैं। वे चीजों अथवा परिस्थितिविशेष के अंतर को समझे बिना ही किसी पूर्वानुभूतिविशेष के आधार पर सबों को समान रूप से समझने की चेष्टा करते हैं। *पियाजे* के मतानुसार लगभग १२ वर्ष की आयु के पहले बच्चे दूसरों के दृष्टिकोण (point of view) को समझने में

---

1. Children tend to combine incompatible ideas into a single impression.
2. Transduction—Child's tendency to base whatever generalisation he is capable of on a single case.

असमर्थ रहते हैं तथा वस्तुओं और घटनाओं की समानता को समझते हुए उनका समाजीकरण भी उनके लिये कठिन होता है। १० वर्ष की आयु के लगभग ही वे उचित रूप में सामान्यीकरण कर सकते हैं तथा युक्तिसंगत निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं।

४. *पियाजे* के मुताबिक बच्चों के चिंतन की यह भी विशेषता है कि वे निर्जीव (inanimate) तथा निश्चल (inert) चीजों को भी चेतन (conscious) तथा सजीव समझते हैं। इस विशेषता को बतलाते हुए *पियाजे* ने कई अवस्थाओं (stages) का उल्लेख किया है। लगभग ४ वर्ष से लेकर ६ वर्ष की आयु (age) में बच्चे निश्चल (Inert) चीजों को भी किसी कारण से गतिशील पाकर चेतन (conscious) समझते हैं। ६-८ वर्ष की आयु के बीच दूसरा स्तर होता है, जिसमें केवल गतिशील (movable) चीजों को ही बच्चे चेतन अथवा सजीव समझते हैं। उदाहरण के लिये, सूर्य तथा चांद को आकाश में पूरब से पश्चिम की ओर जाते हुए बच्चे देखते हैं। उन्हें वे सजीव तथा चेतन समझते हैं। मोटर (motor) तथा साइकिल (cycle) जैसी चीजों को भी वे चेतन समझते हैं। साथ-ही-साथ, कुर्सी-टेबुल जैसी निश्चल (inert) वस्तुओं को वे चेतन नहीं मानते है। ८-१० वर्ष की आयु के बीच बच्चे यह समझने लगते हैं कि कौन-सी वस्तु स्वयं गतिशील है और कौन किसी अन्य कारणों से। उदाहरण के लिये, चांद स्वयं गतिशील दीखता है या हवा स्वयं चलती हुई मालूम पड़ती है। अतः, बच्चे उन्हें चेतन समझते हैं। लेकिन, साइकिल को कोई व्यक्ति चलाता है, इसलिये उसे वे चेतन नहीं मानते। ११ वर्ष की आयु के लगभग बच्चे केवल जानदार चीजें (animals) को ही चेतन मानते हैं।

४. पियाजे के अध्ययन की आलोचना

पियाजे के अध्ययन से सभी मनोवैज्ञानिक सहमत नहीं हैं। इनके बाद किये गये बच्चों के चिंतन पर अन्वेषणों से यह स्पष्ट होता है कि *पियाजे* का मत खंडित होता है। *हैजलिट* (Hazlitt) तथा *अबेल* (Abel) ने बतलाया कि अपरिचित परिस्थितियों से भयभीत (confronted) होने के फलस्वरूप वयस्क (adults) भी बच्चों की तरह संगतिविरुद्ध तथा परिस्थिति-विरोधी (self-contradictory) उत्तर देते हैं। *ओक्स* (Oakes, 1945) ने अपने अध्ययन के आधार पर बतलाया कि बच्चों तथा वयस्कों के

चिंतन में कोई विशेष अंतर नहीं। वयस्कों में भी संगतिविरुद्ध तर्क तथा आत्म-केंद्रित विचार बच्चों की तरह पाये जाते हैं। प्रायः देखा जाता है कि वयस्क भी किसी घटनाविशेष के निष्कर्ष पर अन्यान्य निष्कर्षों को आधारित करते हैं। इतना ही नहीं, वे प्रायः अन्य व्यक्तियों के मतों (opinions) तथा दृष्टि-कोणों को भी सहज ही स्वीकार नहीं करते।

डेनिस (Dennis, 1953) *गैरिसन* (Garison, 1952) तथा *मन्* (Munn, 1955) आदि मनोवैज्ञानिकों ने बतलाया कि निर्जीव तथा निश्चल चीजों को चेतन तथा सप्राण समझने वाले बच्चों की संख्या में तीव्र गति से कमी होती जाती है। बच्चे और वयस्क दोनों सजीव (alive) को समान ढंग से नहीं समझते। बच्चे प्रायः गतिशील (active) चीजों को सजीव समझते हैं। आधुनिक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सजीवता के संबंध में बच्चों की विभिन्न अवस्थाओं (stages) का कोई विशेष मतलब नहीं है, बल्कि यह विकास उत्तरोत्तर परिवर्तन (gradual transition) के रूप में होता है।

५. बच्चों तथा वयस्कों के चिंतन में अंतर

पियाजे (Piaget) के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि बच्चों का चिंतन वयस्कों से भिन्न होता है, चाहे यह भिन्नता जिस कारण से हो। यद्यपि उनके मत का भी खंडन किया गया है, फिर भी इससे यह ज्ञात होता है कि बाल्यावस्था के प्रारम्भिक भाग में बच्चों का चिंतन वयस्कों से अधिक भिन्न होता है और क्रमशः परिपक्वीकरण के फलस्वरूप उत्तरार्द्ध भाग में भिन्नता कमती जाती है। फिर भी, वर्तमान अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि बच्चे तथा वयस्क दोनों समान ढंग से चिंतन के द्वारा अपनी-अपनी समस्याओं का हल नहीं करते। जहाँ एक ओर बच्चों का चिंतन आत्मकेंद्रित व्यक्तिनिष्ठ तथा तर्कहीन होता है, वहाँ दूसरी ओर वयस्कों का चिंतन वस्तुनिष्ठ तथा तर्कपूर्ण होता है और विगत अनुभव तथा सूझ का अधिक प्रयोग होता है। अब दोनों के चिंतन की तुलना द्वारा यह भिन्नता स्पष्ट की जायगी।

१. बच्चों का चिंतन आत्मकेंद्रित (Egocentric) होता है। वे अधिकांशतः अपने तथा अपनी चीजों के बारे में सोचते हैं, जो उन्हें अधिक रुचिकर मालूम पड़ती हैं। उनका चिंतन व्यक्तिनिष्ठ होता है। अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति में भी वह स्वयं बोलना तथा समस्या-समाधान की चेष्टा करता है। लेकिन, वयस्कों का

चिंतन हमेशा आत्मकेंद्रित नहीं होता और न व्यक्तिनिष्ठ ही होता है। वे अपने वातावरण से सतर्क रहते हैं। उनका चिंतन वस्तुनिष्ठ (objective) होता है। अपने अतिरिक्त अन्यान्य समस्याओं के समाधान के लिये उनका चिंतन अधिक होता है। चिंतन-प्रतिक्रिया के समय वयस्क अपने वातावरण की अपेक्षा नहीं करता।

२. बच्चों के चिंतन में तार्किक एकरूपता का अभाव (Lack of logical consistancy) पाया जाता है। यद्यपि 'प्रयत्न और भूल' के द्वारा बच्चे और वयस्क दोनों समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करते हैं, बच्चों से अधिक भूलें होती हैं। उनका तर्क संगतिविरुद्ध होता है। वे बेमेल विचारों को एक-दूसरे से संबंधित कर देते हैं, फलतः समाधान आसानी से नहीं हो पाता। लेकिन, वयस्कों के चिंतन में तार्किक दोष कम रहता है। वे संगतिविरुद्ध चीजों में मेल स्थापित नहीं करते। उनकी चिंतन-प्रक्रिया में तार्किक एकरूपता रहती है, जो समस्या-समाधान में अधिक सहायक होती है। यह भी देखा गया है कि बच्चे किसी प्रश्न का उचित उत्तर न देकर असंबंधित बातें बता देते हैं। वयस्कों के चिंतन में अतार्किकता नहीं रहती। सम्भवतः समस्याओं को अच्छी तरह समझने और अनुकूल समाधान पाने में वयस्कों का परिपक्वकरण सहायक होता है।

३. बच्चे हर गतिशील चीज को चेतन या सजीव (animistic) मानते हैं। वे यह समझने का प्रयास नहीं करते कि अमुक चीज क्यों 'चल' है। हवा, सूर्य, चाँद, रेलगाड़ी, मोटर आदि सभी चीजों को वे सजीव मानते हैं। बाल्यावस्था के अंतिम भाग में वे किसी चीज की गतिशीलता का कारण समझने लगते हैं। वयस्कों के चिंतन में ऐसी बातें नहीं रहतीं। वे इसे अच्छी तरह जानते हैं कि सजीव तथा निर्जीव वस्तु में क्या अंतर है। विभिन्न चीजों की गतिशीलता के कारण की भी जानकारी सामान्य वयस्कों को रहती है। साइकिल, मोटर तथा रेलगाड़ी आदि को वयस्क कभी सजीव नहीं समझते।

४. बच्चों का चिंतन सरल होता है। उनकी समस्यायें भी प्रायः व्यक्तिगत रूप में सीमित रहती हैं। वे प्रायः उन्हीं चीजों के बारे में सोचते हैं, जिन्हें वे देख पाते हैं और जिनके बारे में सुनते हैं। न तो उनकी समस्यायें जटिल होती हैं और न उनका समाधान ही जटिल होता है। लेकिन, वयस्कों के जीवन में केवल व्यक्तिगत समस्यायें ही नहीं होतीं और न केवल वर्तमान ही प्रधान होता है, बल्कि जीवन में जटिलता के फलस्वरूप समस्यायें भी जटिल ही उपस्थित होती हैं। साथ-ही-साथ चिंतन में वर्तमान तथा भविष्य दोनों की प्रधानता रहती है। वस्तुतः उनका

चिंतन सफल एवं संतोषपूर्ण अभियोजन के लिये ही होता है। अतः, वयस्कों का चिंतन जटिल होता है। अपरिपक्वावस्था ही बच्चों के सरल चिंतन का कारण हो सकती है।

५. सामान्यतः देखा जाता है कि बच्चों के चिंतन में सूचना (information) की कमी रहती है। चूंकि, उनके जीवन में अनुभव के क्षेत्र तथा समय में वयस्कों की अपेक्षा कमी रहती है, वे अधिक अनुभव से लाभान्वित नहीं हो पाते। अपरिपक्वता (immaturity) के कारण उनका बौद्धिक विकास भी कम हुआ रहता है और वे अधिक चीजें नहीं सीख पाते हैं। फलतः, वे विभिन्न प्रकार के प्रतीकों (symbols) का उपयोग तर्क द्वारा समस्या-समाधान में नहीं कर सकते। अनुभव की कमी के कारण केवल एक ही अनुभव के आधार पर किसी परिस्थितिविशेष में वे अन्य सभी घटनाओं को समझने तथा निष्कर्ष प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। अतः, उनका निष्कर्ष उपयुक्त नहीं हो पाता। वयस्कों को परिपक्वता के फलस्वरूप अधिकाधिक अनुभव तथा विभिन्न प्रकार के विषयों की जानकारी हो जाती है तथा वे प्रतीकों और विगत अनुभवों का यथेष्ट उपयोग करने में समर्थ होते हैं।

६. बच्चों के चिंतन प्रारम्भ होने साथ-साथ उनकी बोली भी सुनी जाती है। वे चुपचाप अपनी समस्याओं का समाधान नहीं करते। वे बोल-बोलकर विभिन्न प्रकार के प्रश्नोत्तरों का क्रम जारी रखते और अंग-विशेष को भी परिचालित करते हैं। वयस्कों के चिंतन में आवाज नहीं सुनी जाती, यद्यपि, मुखाकृति में परिवर्तन होता है। वयस्क प्रायः मौन रूप में ही अपनी चिंतन-प्रक्रिया जारी रखता है। कभी-कभी कुछ बोल लेता है, किंतु तर्क-वितर्क की अभिव्यक्ति मौखिक रूप से नहीं होती। शारीरिक अंगों का परिचालन भी वयस्कों में नहीं के बराबर होता है।

७. बच्चों के चिंतन में 'प्रयत्न और भूल' (trial and error) की प्रधानता रहती है। सूझ (Insight) का उपयोग कम होता है; क्योंकि उनकी बौद्धिक परिपक्वता नहीं हुई रहती है। लेकिन, वयस्कों के चिंतन में सूझ का अधिक उपयोग होता है, जिसके फलस्वरूप समस्या-समाधान में सुविधा होती है। इसका मतलब यह नहीं कि वयस्कों के चिंतन में 'प्रयत्न और भूल, का उपयोग नहीं होता। वस्तुतः वयस्क और बच्चे के समस्या-समाधान में 'प्रयत्न और भूल, का उपयोग होता है। लेकिन, जहाँ बच्चे के चिंतन में इसकी प्रधानता होती है, वहाँ वयस्कों के चिंतन में सूझ की प्रधानता होती है।

अध्याय १२

बौद्धिक विकास

(INTELLECTUAL DEVELOPMENT)

१. प्रारम्भ

बच्चों के बौद्धिक विकास (Intellectual Development) का अध्ययन काफी महत्त्वपूर्ण है। यह बौद्धिक विकास मुख्यतः बाल्यावस्था (childhood) तथा किशोरावस्था (Adolsence) में होता है। इस विकास के फलस्वरूप मानसिक क्रियाओं में काफी परिवर्तन देखे जाते हैं और व्यक्ति में जटिल चिंतन-प्रक्रिया (Complex thought process) शुरू हो जाती है। व्यक्ति वस्तु तथा परिस्थिति के अधिकाधिक परिष्कृत अर्थों तथा संबंधों (relationships) को समझने की चेष्टा करने लगता है। इतना ही नहीं, वह जटिल समस्याओं का समाधान भी करने लगता है। वस्तुतः ये सभी क्रियायें व्यक्ति के नित नवीन एवं परिवर्तित वातावरण के प्रति प्रभावपूर्ण ढंग से अभियोजन करने में सहायक होती हैं। इस अध्याय में बुद्धि के स्वरूप (nature of intelligence) के साथ-साथ बुद्धि-परीक्षण की व्याख्या भी प्रस्तुत की

गई है। मानसिक परीक्षण (Mental Test) तथा बुद्धि-परीक्षण (Intelligence) समानार्थक है। सीखने की योग्यता (Learning ability) तथा बुद्धि (Intelligence) के बीच विभाजन की कोई स्पष्ट रेखा खींचना कठिन है। यद्यपि बुद्धि के स्वरूप की व्याख्या भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों ने अपने-अपने ढंग से की है; फिर भी उनमें से कोई भी संतोषप्रद नहीं है। इन दिनों बुद्धि का सार्वभौम (Global) संबोध अधिक जँचता है। किन्हीं मनोवैज्ञानिक ने तो इसके स्वरूप के बारे में यह बतलाया है कि बुद्धि-जाँच के द्वारा जो कुछ मापी (measured) जाती है, वही बुद्धि है। अब हमलोग इसका विस्तृत अध्ययन करेंगे :—

२. बुद्धि की परिभाषा

बुद्धि की अनेक परिभाषायें की गई है। लेकिन, इसकी उपयुक्त (suitable) परिभाषा के सिलसिले में मनोवैज्ञानिकों में काफी मतान्तर है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा की गई भिन्न-भिन्न परिभाषाओं में कोई भी पूर्णरूपेण संतोषप्रद नहीं है। फिर भी, बुद्धि के स्वरूप (Nature of Intelligence) को समझने के लिये निम्न परिभाषाओं की जानकारी आवश्यक है।

बुद्धि के वास्तविक स्वरूप की स्पष्टता के लिये अनेक मनोवैज्ञानिकों ने चेष्टा की है। इस चेष्टा में वे एक दूसरे से कुछ अंशों में भिन्न दीख पड़ते है। बुद्धि के अध्ययन के सिलसिले में अलफ्रेड बिने (Alfred Binet) का नाम काफी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने बुद्धि की परिभाषा वस्तुबोध, अन्वेषण, दिशा-निर्देशन तथा आलोचनात्मक योग्यता के रूप में की है।[1] साथ-ही-साथ बिने ने निर्णय (decision) पर भी काफी जोर दिया है। स्टर्न (stern) ने बुद्धि को नवीन परिस्थितियों के प्रति अभियोजन की योग्यता कहा है।[2] टरमन (Terman) ने अमूर्त चिंतन की योग्यता को ही

1. "Intelligence may be defined in terms of Comprehension, invention, direction and critical ability." —Binet.

2. "Adaptibility to new situation."—Stern, 1914.

बुद्धि की संज्ञा दी है।[1] बुद्धि की प्रचलित परिभाषाओं के सिलसिले में मन् (Munn) तथा गोडार्ड (Goddard) का नाम भी उल्लेखनीय है। मन् के मतानुसार आनम्य अभियोजन (Flexible adjustment) की क्षमता ही बुद्धि है।[2] 'आनम्य' से मतलब है परिस्थिति की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन। 'आनम्य अभियोजन' का अर्थ है, परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार व्यक्ति का अभियोजन स्थापित करना। अतः किसी भी परिस्थिति अथवा वातावरण के प्रति अभियोजन (adjustment) स्थापित करने की क्षमता को ही बुद्धि माना गया है। गोडार्ड (Goddard) महोदय का मत है कि "व्यक्ति की तात्कालिक समस्याओं के समाधान तथा भावी समस्याओं के पूर्वानुमान ([illegible]) के लिये उसके अनुभवों (experiences) की उपयोगिता (anailability) का परिमाण (degree) ही बुद्धि है।"[3]

ऊपर की सभी परिभाषाओं की छान-बीन करने से यह मालूम होता है कि ये मुख्यतः व्यक्ति के सीखने की योग्यता, अमूर्त चिन्तन, विगत अनुभवों की उपयोगिता तथा अभियोजन आदि पर जोर देती है। किन्तु इनसे बुद्धि के स्वरूप की संतोषपूर्ण व्याख्या नहीं प्राप्त होती। इस तरह अनेकों मनोवैज्ञानिक बुद्धि के इस एकात्मक सिद्धान्त (Unitary theory) का स्पष्टीकरण करने में काफी दिनों तक व्यस्त रहे।

एक ओर मनोवैज्ञानिकों का एक समुदाय (group) बुद्धि के एकात्मक सिद्धान्त की चर्चा कर रहा था और दूसरी ओर स्पीयरमैन (Spearman)

---

1. "Intelligence in the ability to carry on abstract thinking."—Terman, 1916.
2. "Intelligence is the capacity for flexible adjustment."—Munn, 1938.
3. "Intelligence is the degree of availability of one's experiences for the solution of immediate problemes and anticipation of future ones."—Goddard, 1946.

बुद्धि के द्वितत्त्व सिद्धान्त (Two factor theory) की व्याख्या कर रहे है। यह व्याख्या तत्त्व-विश्लेषण (factor analysis) के सांख्यिक कार्यविधि (Statistical procedure) पर आधारित है। अपने प्रयोग तथा प्राप्ति (finding) के विश्लेषण के आधार पर *स्पीयरमैन* ने बतलाया कि मानसिक योग्यता की स्पष्ट व्याख्या के लिये सामान्य योग्यता (general ability) के अतिरिक्त विशिष्ट योग्यता (special ability) की मान्यता (assumption) आवश्यक है। इस सामान्य योग्यता को उन्होंने "सामान्य तत्त्व" (G factor) बतलाया, जो व्यक्ति के हर प्रकार के विचारों तथा कार्यों में अभिव्यक्त होते हैं। विशिष्ट योग्यता को 'विशिष्ट तत्त्व' (S factor) बतलाया गया, जिसकी अभिव्यक्ति व्यक्ति की विशिष्ट क्रियाओं के द्वारा होती है।

थर्सटन (Thurston, 1946) ने जटिल सांख्यिक विधि (Complex statistical method) का प्रयोग किया है, जिसे तत्त्व-विश्लेषण (factor analysis) कहते हैं। उन्होंने बुद्धि के स्वरूप को स्थिर करने के लिये कई प्रारम्भिक मानसिक योग्यताओं (PMA) की चर्चा की है। उनके मतानुसार व्यक्ति की लगभग १२ ऐसी प्रारम्भिक योग्यतायें हैं। इनमें ३ के नाम अभी तक नहीं दिये जा सके है और बाकी ९ प्रारम्भिक योग्यताओं को प्रतीकों (symbols) द्वारा बतलाने की चेष्टा की गई है। S P N V M W I R D आदि प्रतीक है। + *थर्सटन* ने बुद्धि की इन सभी प्रारम्भिक योग्यताओं में R तथा I प्रतीकों को सामान्य बुद्धि (general intelli-

---

+ 1. Primary Mental Ability.

S—(Special abilities) स्थान संबंधी योग्यताएँ

P—(Perceptual abilities) सम्यक ज्ञान संबंधी योग्यताएँ

N—(Numerical abilities) संख्यात्मक योग्यताएँ

V—(Verbal relations) वाचिक संबंध

M—(Memory) स्मृति

W—(Words) शब्द

I—(Induction) आगमन

R—(Reasoning) विवेक या तर्क

D—(Deduction) निगमन

gence) से काफी घनिष्ट रूप से संबंधित माना है और M को अन्यान्य तत्त्वों में सबसे अधिक स्वतंत्र।

आधुनिक प्रचलित परिभाषाओं में वेश्लर (Wechsler, 1944) की परिभाषा काफी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। वेश्लर के मतानुसार "सोद्देश्य कार्य करने, विवेकपूर्ण चिन्तन करने तथा प्रभावपूर्ण ढंग से अपने वातावरण के प्रति अभियोजन करने की सार्वभौम क्षमता (global capacity) ही बुद्धि है।"[1]

वेश्लर का कथन है कि बुद्धि सार्वभौम अथवा व्यापक (global) है; क्योंकि यह व्यक्ति के व्यवहार की विशेषताओं को समष्टि अथवा सम्पूर्ण रूप में (as a whole) जाहिर करती है। वस्तुतः बुद्धि की इस परिभाषा में कार्य-क्षमता, चिन्तन तथा अभियोजन आदि प्रमुख व्यवहार का समावेश मिलता है और साथ-ही-साथ उनके सार्वभौम अथवा व्यापक पक्ष पर जोर दिया गया है। अतः, यह परिभाषा अधिकाधिक मनोवैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित कर सकी और उन्हें अधिक उपयुक्त भी मालूम पड़ी। अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा वेश्लर (Wechsler) द्वारा की हुई परिभाषा बुद्धि के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करती है।

३. मानसिक आयु तथा बुद्धि-लब्धि

(Mental Age and Intelligence Quotient)

बुद्धि-परीक्षण (Intelligence tests) सर्वप्रथम अलफ्रेड बिने (Alfred Binet) के द्वारा प्रस्तुत किया गया। वह फ्रांस का निवासी और एक ख्यातिलब्ध मनोवैज्ञानिक था। १९०४ ई० में जब जन-शिक्षा विभाग के फ्रांसीसी मंत्री ने स्कूल के छात्रों में उचित मानसिक विकास में अवरोध (retardation) के कारणों का पता लगाने के लिये एक समिति का निर्माण किया, तब बिने (Binet) भी उसका एक मुख्य सदस्य बनाया गया। अपने

1. "Intelligence is the aggregate or global capacity of the individual to act purposefully, to think rationally and to deal effectively with his environment."—Wechsler, 1944.

इस कार्य में प्रोत्साहन पाकर उसने १६०५ ई० में बुद्धि मापने के लिये एक बुद्धिमाप (Scale) प्रकाशित की। फिर, १६०८ ई० में उन्होंने इस बुद्धिमाप (Scale) को पहली बार दुहराया। दुहराने के सिलसिले में उन्होंने आयु (Age) के मुताबिक परीक्षणों (tests) को क्रम से रखा और मानसिक आयु (Mental Age) का संबोध (Concept) प्रस्तुत किया। इस तरह की बुद्धिमाप में परीक्षणों (tests) को वर्षीय स्तर (Year level) के मुताबिक नियत किया, जिसका आधार विभिन्न आयु के बच्चों के प्रतिनिधि समुदाय कार्य-सम्पादन (Performance) था।

इस प्रकार उन बुद्धि-परीक्षणों को किसी आयुविशेष के स्तर का माना गया, जिनमें उसी आयु के बालक उतनी ही बार सफल हो सकते थे, जितनी बार असफल। उदाहरण के लिये, अगर १० वर्षीय बालक जिन परीक्षणों में उतनी ही बार सफल होते, जितनी बार असफल, तो उन परीक्षणों (tests) को १० वर्षीय स्तर (year level) में एकत्र किया (grouped) गया। फिर,अगर ७ वर्षीय बालक जिन परीक्षणों में उतनी बार असफल रहते जितनी बार सफल, तो उन परीक्षणों के समूह (group of tests) को ७ वर्षीय स्तर का माना गया। इस तरह, जो बालक जिस वर्षीय स्तर की बुद्धि-परीक्षा में सफल होता है, उसका लब्धांक (Scores) उसकी मानसिक आयु (Mental Age) के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। उदाहरण के रूप में इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अगर कोई बालक ८ वर्षीय स्तर के सभी बुद्धि-परीक्षणों (Intelligence tests) में सफल होता है, किन्तु ६ वर्षीय स्तर के परीक्षणों में बिल्कुल असफल रहता है, तो उसकी मानसिक आयु ८ वर्ष होगी। ध्यान रखना है कि उसकी वास्तविक आयु (Chrowlogical Age) चाहे कुछ रही हो, लेकिन उसकी मानसिक आयु ८ वर्ष होगी; क्योंकि उसने केवल ८ वर्षीय स्तर की बुद्धि-परीक्षणों में सफलता प्राप्त की और उसके बाद असफलता। एक दूसरा उदाहरण लें। रीता की वास्तविक आयु (C. A.) ८ वर्ष है। अगर वह १० वर्षीय स्तर के बुद्धि-परीक्षणों में सफल होती है और उसके बाद के परीक्षणों में सफल नहीं हो पाती, तो उसकी मानसिक आयु (M. A.) १० वर्ष होगी। हम देखते हैं कि रीता की मानसिक आयु उसकी वास्तविक आयु से २ वर्ष अधिक है। वस्तुतः वह अपनी वास्तविक आयु के अनुपात में बौद्धिक-कार्यों (Intellectual Performances) में २ वर्ष अग्रसर (advance) है। दूसरी ओर नीरद एक लड़का है, जिसकी वास्तविक आयु १२ वर्ष है। अगर वह १०

वर्षीय स्तर के बुद्धि-परीक्षणों में सफल होता है, किन्तु ११ वर्षीय स्तर तथा उसके बाद के परीक्षणों में असफल, तो उसकी मानसिक आयु (M. A.) १० वर्ष होगी। इस स्थिति में नीरद की मानसिक आयु उसकी वास्तविक आयु से २ वर्ष कम है। वस्तुतः वह अपनी वास्तविक आयु के अनुरूप बौद्धिक कार्यों (Intellectual Performances) से २ वर्ष पीछे रहता है।

हम देखते हैं कि केवल मानसिक आयु से बुद्धि के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त नहीं होती। इसके पूर्ण विवरण के लिये वास्तविक आयु (C. A.) का ज्ञान भी आवश्यक है। अतः, जिस बालक या बालिका की वास्तविक आयु (C. A.) ८ वर्ष है और उसकी मानसिक आयु (M. A.) १० वर्ष, तो सामान्य बालक या बालिका से उसकी बुद्धि अधिक तीव्र होगी। दूसरी ओर, अगर किसी बालक या बालिका की वास्तविक आयु (C. A.) १२ वर्ष है और उसकी मानसिक आयु (M. A.) १० वर्ष है, तो अन्य सामान्य बालक या बालिका से उसकी बुद्धि कम अथवा अवरुद्ध (retarded) मानी जायगी। इस तरह हमलोग व्यक्तियों की सापेक्ष (relative) तीव्र बुद्धि (brightness) अथवा मंद-बुद्धि (dullness) के निर्धारण के लिये उनकी मानसिक आयु की तुलना वास्तविक आयु के साथ करते हैं। मनोविज्ञान में मानसिक आयु (M. A.) का काफी महत्त्व है। योग्यता-निर्देशनांक (ability index), जिसे साधारणतः बुद्धि-लब्धि (I. Q.) कहा जाता है, की स्पष्ट रूप से व्याख्या मानसिक आयु के द्वारा ही की जा सकती है।

अल्फ्रेड बिने (Alfred Binet) ने मानसिक आयु (M. A.) संबोध (Concept) प्रस्तुत किया। इसके बाद स्टर्न (stern) द्वारा बुद्धि-लब्धि (Intelligence Quotient) का सुझाव पेश किया गया। वास्तविक आयु (C. A.) के प्रति मानसिक आयु (M. A.) के अनुपात (ratio) को समझने के लिये बुद्धि-लब्धि (I. Q.) को अधिक उपयुक्त तरीका माना गया। इसका सिद्धान्त अधिक जटिल नहीं है। बुद्धि-लब्धि की जानकारी के लिये इतना ही आवश्यक है कि मानसिक आयु (M. A.) में वास्तविक आयु (C.A.) का भाग दे दिया जाय और तत्पश्चात प्राप्त भिन्न (fraction) में १०० का गुणा कर दिया जाय ताकि, दशमलव (Dicimal) न रहने पाये। इस तरह पिछले पृष्ठ में वर्णित सिद्धान्त ([illegible]) को नीचे दिये गये सूत्र (formula) के रूप में लिखा जा सकता है :—

$$\text{I. Q.} = \frac{\text{M. A.}}{\text{C. A.}} \times १००$$

या

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १००$$

वस्तुत: वास्तविक आयु (C. A.) के प्रति मानसिक आयु (M. A.) के अनुपात को ही बुद्धि-लब्धि (I. Q.) कहते हैं। लब्धांक में आये हुए दशमलव को दूर करने के लिये १०० का गुणा कर दिया जाता है। दिये गये सूत्र (formula) के अनुसार अगर किसी बालक की वास्तविक आयु (C. A.) १० वर्ष है तथा १० वर्षीय स्तर के बुद्धि-परीक्षणों (Intelligence Tests) में वह सफल होता है, तो उसकी मानसिक आयु (M. A.) भी १० वर्ष होगी और उसकी बुद्धि-लब्धि (I. Q.) १०० होगी। अर्थात् वह औसत बुद्धि (Average Intelligence) का बालक कहलायगा।

उदाहरण १

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{१०}{१०} \times १००$$

$$= १००$$

अगर किसी बालक की वास्तविक आयु १० वर्ष है तथा वह १४ वर्षीय स्तर के बुद्धि-परीक्षणों में सफल होता है, तो उसकी मानसिक आयु १४ वर्ष होगी और उसकी बुद्धि-लब्धि १४० होगी। अतः, इसके बुद्धि-लब्धांक (I. Q. points) औसत बुद्धि के बालक से ४० अधिक होंगे।

उदाहरण २

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{१४}{१०} \times १००$$

$$= १४०$$

अगर किसी बालक की वास्तविक आयु १० वर्ष है तथा वह केवल ८ वर्षीय स्तर के बुद्धि-परीक्षणों में सफल हो सकता है और उसके बाद के कठिन बुद्धि-परीक्षणों में असफल रहता है, तो उसकी मानसिक आयु ८ वर्ष होगी। इस प्रकार दिये गये सूत्र के अनुसार उसकी बुद्धि-लब्धि ८० होगी। स्पष्ट है कि इस तीसरे बालक की बुद्धि-लब्धि औसत बुद्धि के बालक से २० अंक (points) कम

होगी। इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि १० वर्षीय बालकों की सामान्य मानसिक योग्यता के स्तर से यह बालक ८० बुद्धि-लब्धांक से नीचे है। इसे मंद-बुद्धि (dull child) का बालक कहा जायगा।

उदाहरण ३

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{८}{१०} \times १००$$

$$= ८०$$

यह जानना आवश्यक है कि वास्तव में बुद्धि-लब्धि (I. Q.) का स्थूल-गणन (calculation) किस तरह उपयोग में लाया जाता है। इस सिल-सिले में स्टैनफोर्ड-बिने के परीक्षण को लें। इस परीक्षण में प्रत्येक आयु-स्तर (age level) पर प्रायः ६ कार्य (tasks) में जितने कार्यों के सम्पादन में सफलता मिलती है, उसी आधार पर मानसिक आयु (M. A.) निर्धारित की जाती है। एक उदाहरण के सहारे स्पष्ट किया जा सकता है। 'आनन्द' एक लड़का है जिसकी आयु १० वर्ष है। वह १० वर्षीय स्तर के सभी बुद्धि-परीक्षणों में सफल होता है। ११ वर्षीय स्तर के बुद्धि-परीक्षणों के ६ कार्यों (tasks) में केवल ५ कार्यों में वह सफलता प्राप्त करता है; १२ वर्षीय स्तर के बुद्धि-परीक्षण के ६ कार्यों में वह ३ कार्यों में सफल होता है तथा १३ वर्षीय स्तर के ६ कार्यों में केवल १ कार्य में वह सफल हो सकता है। इस तरह आनन्द की मानसिक आयु (M. A.) उसकी वास्तविक आयु (C. A.) से अधिक मालूम पड़ती है; क्योंकि वह अपने वास्तविक आयु-स्तर से अधिक आयु-स्तर (age level) के बुद्धि-परीक्षणों के कई कार्यों (tasks) में सफल होता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्येक आयु-स्तर (age level) के बुद्धि-परीक्षण में ६ कार्य (tasks or items) है। दूसरी ओर १ वर्ष में १२ महीने होते है; अतः इन ६ कार्यों में प्रत्येक कार्य २ महीने की मानसिक वृद्धि (mental growth) का प्रतिनिधित्व करता है।

ऊपर के उदाहरण में आनन्द की वास्तविक आयु C. A.) १० वर्ष है, किन्तु, वह ११ वर्षीय स्तर के ५ कार्यों में सफलता प्राप्त करता है अर्थात (५ × २) = १० महीने अधिक मानसिक आयु उसकी होती है। इसी तरह १२ वर्षीय स्तर के ३ कार्यों (tasks) में सफलता प्राप्त करने के फलस्वरूप (३ × २) = ६ महीने तथा १३ वर्षीय स्तर के १ कार्य में सफल होने के

फलस्वरूप (१ × २) = २ महीने अधिक मानसिक आयु होती है। इस प्रकार कुल मिलाकर १० + ६ + २ = १८ महीने अधिक मानसिक आयु (M. A.) उसकी वास्तविक आयु (C. A.) की अपेक्षा होती है। चूंकि, आनन्द की वास्तविक आयु १० वर्ष यानी १२० महीने (१० × १२) है और उसकी मानसिक आयु इससे १८ महीने अधिक है, इसलिये उसकी मानसिक आयु १३८ (१२० + १८) हुई। हम देखते हैं कि आनन्द १० वर्षीय स्तर से नीचे सभी आयु-स्तर के बुद्धि-परीक्षणों (Intelligence Tests) में सफल होता है तथा १० वर्षीय स्तर के बुद्धि-परीक्षण के सभी कार्यों (tasks) में भी सफलता प्राप्त करता है। अतः, उसकी मानसिक आयु १० वर्ष (१२० महीने) होती है, लेकिन, १० वर्षीय स्तर के बुद्धि-परीक्षणों में भी वह आंशिक सफलता प्राप्त करता है, जिसके फलस्वरूप उसकी मानसिक आयु १० वर्ष से अधिक होती है। उसका पूर्ण विवरण यानी स्थूल गणन (calculation) नीचे दिया जाता है :—

उदाहरण ४

१० वर्षीय स्तर के सभी कार्यों (tasks) का सम्पादन—			१२० महीने
११ ,,	के केवल ५ कार्यों ,,	(५ × २)	१० महीने।
१२ ,,	के ,, ३ ,, ,,	(३ × २)	६ महीने
१३ ,,	के ,, १ ,, ,,	(१ × २)	२ महीने
		कुल जोड़	१३८ महीने

आनन्द की मानसिक आयु (M. A.) ११८ महीने हुई। उसकी वास्तविक आयु (C. A.) १२० महीने (१० वर्ष) है। अतः, बुद्धि-लब्धि (I. Q.) सूत्र के अनुसार—

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{१३८}{१२०} \times १००$$

$$= ११५$$

आनन्द की बुद्धि औसत बुद्धि से अधिक है। इसे तीव्र बुद्धि (Bright or Superior) का बालक कहेंगे।

अब एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठ सकता है कि अगर दो बच्चों की मानसिक आयु (M. A.) तथा बुद्धि-लब्धि (I. Q.) समान (equal) हो, तो

क्या दोनों की मानसिक योग्यता (mental ability) भी समान होगी ? ऐसी स्थिति में दोनों की वास्तविक आयु (C. A.) का ज्ञान आवश्यक है। अगर दोनों की वास्तविक आयु बराबर है और मानसिक आयु भी बराबर है, तो बुद्धि-लब्धि भी (I. Q.) बराबर होगी। लेकिन, दोनों की मानसिक योग्यता बिल्कुल समान नहीं कही जा सकती है। दोनों का कुल लब्धांक (total scores) बराबर हो सकता है, किन्तु यह भी ध्यान रखना है कि इसकी प्राप्ति समान ढंग से नहीं हो पाती। समान लब्धांक (equal scores) की प्राप्ति दोनों बच्चों द्वारा बुद्धिमापन (scale) के विविध परीक्षणों में भिन्न-भिन्न तरीकों से प्राप्त सफलता तथा असफलता के फलस्वरूप भी हो सकती है। उदाहरण के लिये, अगर एक बच्चा परिस्थितियों को समझने तथा अनेक उदाहरणों द्वारा किसी सामान्य नियम के अनुमान या विवेक में दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ हो सकता है, तो दूसरा भी किसी विषय, जैसे—अंक, शब्द या वाक्य आदि को कंठस्थ करने में आगे बढ़ सकता है। इस प्रकार से दोनों में अंतर (difference) दीख पड़ता है। दोनों अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण ही अध्ययन में लाभान्वित हो सकते हैं। इस प्रकार, यद्यपि दोनों की मानसिक आयु (M. A.) तथा बुद्धि-लब्धि (I. Q.) समान है, फिर भी दोनों की मानसिक योग्यताओं (mental abilities) में भिन्नता है। माँ-बाप तथा अध्यापकों को इस स्थिति में काफी सावधानी की आवश्यकता है कि वे दोनों बालकों से सभी स्थितियों में समान सफलता की उम्मीद न करें। उन्हें यह समझना चाहिये कि दोनों की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। मुख्यतः अध्यापकों के लिये अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दोनों के बराबर (equal) बुद्धि लब्धांक (I. Q. points) पाकर भी दोनों की मानसिक योग्यता को समान न समझें तथा दोनों बच्चों से हर परिस्थिति में समान रूप से सफलता की उम्मीद न करें।

४. बुद्धि-लब्धि की स्थिरता

(Constancy of I. Q.)

बुद्धि-लब्धि की स्थिरता के संबंध में परम्परागत विचार यह है कि किसी व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि (I. Q.) में न तो वृद्धि (increasement) होती है और न उसमें कमी। इस मत के समर्थक अभी भी मिलते हैं। मनो-

वैज्ञानिकों का दूसरा समुदाय (group) है, जो बुद्धि-लब्धि के सम्भाव्य परिवर्तन को स्वीकार करता है। इन मनोवैज्ञानिकों ने यह बतलाने की चेष्टा की है कि वातावरण के परिवर्तन के अनुकूल बुद्धि-लब्धि में भी कमी-बेसी होती है। आयोवा विश्वविद्यालय (Iowa university) के स्कील्स (skeles, 1938) ने बतलाया है कि बच्चों की बुद्धि (Intelligence) पर वातावरण का काफी प्रभाव पड़ता है। अगर औसत बुद्धि (average intelligence) के बच्चों को किसी उन्नत परिवार (advaned family) में रखकर पाला जाय, तो वे तीव्र बुद्धि (superior) के स्तर तक प्रगति पा सकते हैं।

इन दो तरह की विचारधाराओं के समर्थकों में काफी मतान्तर है। यह वाद-विवाद काफी दिनों से चल रहा है और अभी तक बुद्धि-लब्धि की स्थिरता के बारे में मतैक्य नहीं हो सका है।

इस विषय की स्पष्टता के लिये कुछ प्रमुख मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन को प्रस्तुत करना युक्तिसंगत तथा आवश्यक मालूम पड़ता है। इतना तो अधिकांश मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि वातावरण का प्रभाव बौद्धिक विकास पर स्पष्ट रूप से पड़ता है। फलतः बुद्धि-लब्धि में ५ अंक (points) तक कमी (deterioration) तथा वृद्धि (increasement) देखी जाती है। मुख्यतः बुद्धि-लब्धि की कमी-बेसी तीव्र बुद्धि के बच्चों (superior children) में ही होती है, मंद बुद्धि के बच्चों (feeble minded children) में नहीं। औसत बच्चों (average children) की बुद्धि-लब्धि में लगभग ५ अंक की ही कमी-बेसी हो पाती है।

अब यह प्रश्न उठता है कि किसी बच्चे की बुद्धि-लब्धि (I. Q.) जब एक बार माप ली जाती है, तब कहाँ तक उसकी स्थिरता (constancy) रह पाती है। बुद्धि-लब्धि की स्थिरता के बारे में काफी वाद-विवाद हो चुका है तथा इस समस्या पर काफी अन्वेषण भी किये गये हैं। इन अन्वेषणों (Researches) द्वारा यह स्पष्ट होता है कि बुद्धि-लब्धि की स्थिरता कई तत्त्वों (factors) पर निर्भर करती है। इन तत्त्वों में बुद्धि-लब्धि के स्तर (I. Q. level), परीक्षार्थी की आयु (age of the testee) तथा परीक्षार्थी पर किये गये प्रथम बुद्धि-परीक्षण (I. T.) और द्वितीय बुद्धि-परीक्षण के बीच की अवधि (period) आदि मुख्य हैं।

बुद्धि-लब्धि की स्थिरता के सिलसिले में मैकनेमर (Mcnemar) का अध्ययन काफी महत्त्वपूर्ण है। १६४२ ई० में उन्होंने २ सप्ताह के अंतर में बुद्धि-लब्धांक (I. Q. Scores) की अस्थिरता के अध्ययन के लिए स्टैनफोर्ड-बिने परीक्षण (Stanford-Binet Tests) का प्रयोग किया। उन्होंने देखा कि लगभग २/३ यानी दो-तिहाई बच्चों के प्रथम परीक्षण में प्राप्त बुद्धि-लब्धांक से द्वितीय परीक्षण में प्राप्त बुद्धि-लब्धांक में ४ या ५ अंक से कम का ही अंतर (differnce) था। केवल ५% बच्चों के बुद्धि-लब्धांक में ५ अंक से अधिक की अस्थिरता (Variability) देखी गई। मैकनेमर ने इस अध्ययन से प्राप्त बुद्धि-लब्धांक का विश्लेषण (analysis) आयु (age) के अनुसार किया। देखा गया कि ५ वर्ष से अधिक आयु के बच्चों की अपेक्षा ५ वर्ष से कम आयु के बच्चों की बुद्धि-लब्धि में अधिक अस्थिरता थी। इसके अतिरिक्त, औसत बुद्धि-लब्धि के स्तर (I. Q. level) से जिन बच्चों का बुद्धि-लब्धांक अधिक या कम था, उनमें औसत बच्चों की अपेक्षा अधिक अस्थिरता पाई गई। फिर, मंद बुद्धि (dull) के बच्चों की अपेक्षा तीव्र बुद्धि (Bright) के बच्चों की बुद्धि-लब्धि में अधिक परिवर्तन पाया गया।

इस समस्या पर कैटेल (Cateli) नामक मनोवैज्ञानिक ने भी काफी प्रकाश डाला है। १६३७ ई० में उन्होंने जो अध्ययन किया, वह उल्लेखनीय है। अपने अध्ययन में उन्होंने प्रथम तथा द्वितीय बुद्धि-परीक्षणों (Test and Retest) के बीच कई वर्षों का अंतर (difference) रखा। परिणामस्वरूप, बुद्धि-लब्धि में काफी परिवर्तन पाया गया। कैटेल ने बतलाया कि स्टैनफोर्ड-बिने-परीक्षण (Stanford-Binet Test) के मुताबिक परीक्षण में सम्मिलित व्यक्तियों में ०·३ प्रतिशत व्यक्तियों की बुद्धि-लब्धि में ४० अंक तक या इससे भी अधिक परिवर्तन था। केवल १% व्यक्तियों की बुद्धि-लब्धि में ३० अंक या अधिक परिवर्तन पाया गया। इसी तरह, ५% व्यक्तियों की बुद्धि-लब्धि में २० अंक, १०% व्यक्तियों की बुद्धि-लब्धि में १५ अंक तक २५% व्यक्तियों की बुद्धि-लब्धि में ८ अंक के लगभग या कुछ अधिक अंकों तक परिवर्तन देखा गया।

ऊपर दिए गये अध्ययनों की विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि बुद्धि-लब्धि (I. Q.) में परिवर्तन होता है। परम्परागत विचारों से सभी मनोवैज्ञानिक सहमत नहीं है। एक आयु में प्राप्त बुद्धि-लब्धि की तुलना जब बाद की आयु में प्राप्त बुद्धि-लब्धि से की जाती है, तब परिवर्तन (changes)

देखा जाता है। लेकिन, प्रथम और द्वितीय बुद्धि-परीक्षणों (Test and Retest to measure I. Q.) में अंतर (internal) कम होता है तो बुद्धि-लब्धांक (I. Q. Scores) में भी कम परिवर्तन होता है। दूसरी ओर, बुद्धि-परीक्षण तथा पुनर्परीक्षण (Test and Retest) के समय में अगर अधिक अंतर (कई वर्षों का) रहता है, तो बुद्धि-लब्धांक में भी काफी परिवर्तन हो जाता है। फिर, औसत बच्चों की अपेक्षा तीव्र बुद्धि अथवा मंद बुद्धि के बच्चों (Bright & Dull children) की बुद्धि-लब्धि में अधिक परिवर्तन की सम्भावना रहती है। अतः, हम दो मुख्य निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। पहला, परीक्षण तथा पुनर्परीक्षण (Test & Retest) के समय का अंतर (internal) जितना ही अधिक होता है, उतना ही बुद्धि-लब्धि (I. Q.) में भी अधिक परिवर्तन पाया जाता है। दूसरा, तीव्र बुद्धि तथा मंद बुद्धि के बच्चों (Bright & Dull children) की बुद्धि-लब्धि (I. Q.) में औसत बुद्धि के बच्चों से अस्थिरता (variability) रहती है।

५. बौद्धिक परिपक्वता

(Intellectual Maturity)

किसी आयुविशेष में बौद्धिक वृद्धि (Intellectual growth) के पूर्ण होने को 'बौद्धिक परिपक्वता' कहते हैं। आधुनिक अध्ययनों से पता चलता है कि बौद्धिक वृद्धि जन्म के पहले से ही प्रारम्भ हो जाती है और किशोरावस्था (Adolescence) के उत्तरार्द्ध भाग में रुक जाती है। बाल्यावस्था के प्रारम्भिक भाग में यह बौद्धिक वृद्धि (Intellectual growth) काफी तेजी (rapid) से होती है; लेकिन, १३ वर्ष की आयु के लगभग मंद (slow) हो जाती है। सामान्य तौर पर यह बौद्धिक वृद्धि मंद गति से जारी रहती है और १६ वर्ष की आयु के लगभग रुक जाती है। इसके बाद अगर होती भी है, तो बहुत कम; क्योंकि इस आयु (age) में स्नायु-मंडल (Nervous system), जो मानसिक विकास का आधार है, में काफी वृद्धि (growth) हो जाती है। किसी खास आयु (particular age) में बौद्धिक वृद्धि का अंत (cessation) हो जाने के संबंध में मनोवैज्ञानिकों में मतान्तर है। टरमन तथा मेरील (Terman and Merrill, 1937) के मतानुसार

स्टैनफोर्ड-बिने-परीक्षण पर बौद्धिक वृद्धि १६ वर्ष की आयु के लगभग पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। लेकिन, *फ्रीमैन* तथा *फ्लोरी* (Freeman and Flory, 1937) के मतानुसार बौद्धिक वृद्धि १८ वर्ष की आयु के लगभग (१८ और २० वर्ष के बीच की अवधि) पराकाष्ठा पर देखी जाती है। अमेरिकन सैनिकों पर अध्ययन करके देखा गया है कि १४ वर्ष की आयु के बाद उनकी बौद्धिक क्षमता में कोई वृद्धि नहीं होती। उनकी मानसिक योग्यता (mental ability) १४ वर्ष के छात्रों के बराबर होती है। यह देखा गया कि औसत सैनिकों ने बुद्धि-परीक्षण (Intelligenee Test) में ठीक १४ वर्ष के छात्रों के समान ही सफलता प्राप्त की। दूसरी ओर, उच्च विद्यालय (High School) के छात्रों में मानसिक योग्यता (mental ability) की वृद्धि १८ वर्ष की आयु तक देखी गई।

इस प्रकार हम देखते है कि औसत तौर पर बौद्धिक वृद्धि १३ वर्ष से लेकर २० वर्ष की आयु के बीच किसी समय पराकाष्ठा (maximum) पर पहुँच जाती है। इसके बाद नगण्य रूप में ही मानसिक योग्यता में वृद्धि सम्भव है। यों तो व्यक्ति जब तक जीवित रहता है, कुछ-न-कुछ सीखता ही रहता है; लेकिन परिपक्वावस्था (maturty) तक उसकी मानसिक योग्यता (mental ability) की वृद्धि एकदम रुक जाती है। अभी तक बौद्धिक परिपक्वता के संबंध में जो सामग्रियां (Data) प्राप्त है, उनमें यह स्पष्ट होता है कि बुद्धि-लब्धि (I. Q.) और बौद्धिक वृद्धि (Intellectual growth) में निश्चयात्मक संबंध (positive relation) है। तीव्र बुद्धि के बालकों में मंद बुद्धि के बालकों की अपेक्षा अधिक समय तक बौद्धिक वृद्धि जारी रहती है। उदाहरण के लिये, स्टैनफोर्ड-बिने-परीक्षण के द्वारा यह देखा गया है कि तीव्र बुद्धि (superior) के व्यक्ति की मानसिक योग्यता में में १८ वर्ष की आयु तक वृद्धि होती है; औसत (average) बुद्धि के व्यक्ति की बौद्धिक वृद्धि १५ या १६ वर्ष की आयु तक और तदनुसार मंद बुद्धि (dull) के व्यक्ति की मानसिक योग्यता की वृद्धि केवल १४ वर्ष की आयु में ही समाप्त हो जाती है।

बौद्धिक वृद्धि की समाप्ति के सिलसिले में जो भी मतान्तर है, उसके मुख्य कारण को समझने के लिये वह ध्यान में रखना आवश्यक है कि कौन-सा बुद्धि-परीक्षण (Intelligence Test) प्रयोग में लाया जाता है। अभी तक जो भी तथ्य (facts) ऊपर दिये गये है, वे निर्विवाद रूप से मान्य नहीं है।

६. बुद्धि-लब्धि का महत्व

(Significance of I. Q.)

जब हम किसी व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि (I. Q.) किसी बुद्धि-माप (scale) के द्वारा प्राप्त कर लेते है, तब यह जानना आवश्यक हो जाता है कि प्राप्त-लब्धांक (I. Q. Scores) का क्या महत्त्व होता है। इनकी व्याख्या के लिये यह जानना आवश्यक है कि किस बुद्धि-माप (scale) के द्वारा बुद्धि-लब्धि प्राप्त की गई है। फिर, अगर एक व्यक्ति का बुद्धि-लब्धांक १०० है, दूसरे का १४० है तथा तीसरे का ६० है, तो उनका क्या महत्त्व है और किस प्रकार उनकी व्याख्या की जा सकती है। उदाहरण के लिये, अगर स्टैनफोर्ड-बिने-परीक्षण द्वारा बुद्धि-लब्धि प्राप्त की गई है, तो प्रथम व्यक्ति मेधावी (genius), दूसरा सामान्य (average) तथा तीसरा निर्बल बुद्धि का (feeble minded) व्यक्ति कहलायगा। लेकिन, वेश्लर (wechsler) के बुद्धि-माप (scale) द्वारा प्राप्त बुद्धि-लब्धि (I. Q.) की व्याख्या का ढंग थोड़ा अन्तर रखता है। यहाँ पर स्टैनफोर्ड-बिने-परीक्षण १९३८-३९ ई० के आधार पर बुद्धि-लब्धि की व्याख्या सामान्य जनसंख्या में वितरण के रूप में दी जाती है।

बुद्धि-लब्धि (I. Q.)	वर्गीकरण (Classification)	जनसंख्या की प्रतिशतता (Percentage)
१४० तथा अधिक····	मेधावी (genius or very superior)····	१·३३
१२०—१३९ ····	तीव्र बुद्धि (superior)····	११·३०
११०—११९ ····	उच्च सामान्य बुद्धि (High average)····	१८·१०
९०—१०९ ····	सामान्य बुद्धि (Average)····	४६·५०
८०— ८९ ····	निम्न सामान्य बुद्धि (Low average)	१४·५०
७०— ७९ ····	न्यून बुद्धि (Borderline defective)	५·६०
६९ से कम ····	निर्बल बुद्धि (Feeble minded)····	२·६३

कुल जोड़ — ९९·९६

७. बुद्धि किससे अधिक प्रभावित होती है ?

बहुत-से मनोवैज्ञानिकों ने यह तुलनात्मक अध्ययन करने में दिलचस्पी ली है कि बुद्धि पर आनुवंशिकता (Heredity) का प्रभाव अधिक पड़ता है या वातावरण (Environment) का। इस सिलसिले में बर्क्स (Burks) का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। अपने निष्कर्ष (results) की व्याख्या करते हुए बर्क्स बतलाती है कि बुद्धि-लब्धि (I. Q.) के निर्धारण में सामान्यतः लगभग ८०% (अस्सी प्रतिशत) प्रभाव आनुवंशिकता (Heredity) का पड़ता है और लगभग २० % (बीस प्रतिशत्) प्रभाव वातावरण (Environment) का। वस्तुतः वातावरण का प्रभाव २०% से अधिक नहीं पड़ता। बर्क्स ने यह भी बतलाया है कि इसी अनुपात में आनुवंशिकता तथा वातावरण प्रत्येक बच्चा को प्रभावित नहीं करते।

बर्क्स (Burks) के इस मत से सभी मनोवैज्ञानिक सहमत नहीं हैं। कई मनोवैज्ञानिकों का मत है कि बच्चों की बुद्धि पर वातावरण का अधिक प्रभाव पड़ता है।

इस समस्या से संबंधित एक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारा ध्यान आकर्षित करता है। 'क्या बुद्धि जन्मजात है ?'—अथवा 'यह वातावरण की देन है ?' इस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल सीधे ढंग से नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः मनोवैज्ञानिकों में बुद्धि की परिभाषा के सिलसिले में मतैक्य नहीं है। वे प्रायः बुद्धि की व्याख्या भिन्न-भिन्न ढंग से करते है। अतः "बुद्धि जन्मजात है या उस पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है ?"—प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि बुद्धि (Intelligence) का अर्थ क्या है ? अगर बुद्धि का मतलब जीनीज (genes) में अच्छे मस्तिष्क की बनावट की क्षमता (potentialities) का वर्तमान रहना है, तो निस्सन्देह जन्मजात कहलायगी। दूसरी ओर, अगर बुद्धि को व्यक्ति के कार्य करने की योग्यता (abilities), जैसे—विद्यालय-सम्बन्धी विषयों का ज्ञान, सामयिक घटनाओं की जानकारी तथा जीवन की वास्तविक समस्याओं का समाधान आदि कहें, तो इस स्थिति में वातावरण का प्रभाव स्पष्ट रूप से माना जायगा ; क्योंकि कार्य करना या सीखना अवसर पर ही निर्भर करता है।

अतः, यह कहा जा सकता है कि बुद्धि वंशानुगत अवश्य है, किंतु वह वातावरण से प्रभावित होती है। बुद्धि का समुचित विकास (proper develop-

ment) वातावरण पर निर्भर करता है। उन्नत वातावरण (Advanced environment) तथा पिछड़े हुए वातावरण (Backward environment) के प्रभाव के फलस्वरूप बुद्धि-लब्धि (I. Q.) में बेसी तथा कमी भी देखी जाती है। इतना ही नहीं, जन्म के समय किसी प्रकार की मस्तिष्क की क्षति (Brain injury) के फलस्वरूप बौद्धिक विकास सामान्य ढंग से नहीं हो पाता। वस्तुतः बौद्धिक विकास में आनुवंशिकता तथा वातावरण का सापेक्ष (relatives) महत्त्व है।

—o—

अध्याय १३

खेल

(PLAY)

१. प्रारम्भ

जीवन में खेल का बहुत अधिक महत्त्व है। मुख्यत: बच्चों के जीवन में इसका महत्त्व बहुत अधिक समझा जाता है। बाल्यावस्था में हर आयु के बच्चे किसी-न-किसी प्रकार के खेल अवश्य खेलते है। इसलिये बाल्यावस्था को जीवन में खेल का समय (Play time of life) कहा गया है। खेल व्यक्ति की स्वाभाविक क्रिया (spontaneous activity) है, जिसमें आनन्द की प्राप्ति होती है। इस तरह की क्रिया किसी उद्देश्यविशेष की प्राप्ति के लिए नहीं की जाती। बच्चे प्राय: खेलना चाहते है और सुविधानुसार वे खेलने लगते है। खेलने के लिये अपनी रुचि के अनुसार वे साथी भी चुन लेते हें। अल्पायु बच्चे खिलौने के साथ खेलते हैं अथवा वयस्कों के साथ। बालकों के खेल के सिलसिले में मुख्य बात यह हे कि विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के लिये कहाँ तक उन्हें सुवधायें दी जातो है, जो उनके मानसिक विकास में सहायक हों तथा जिनसे अन्य व्यक्तियों अथवा साथियों के सम्पर्क में वे आ सकें। सम्भवत: इसी आधार पर

यह युक्ति यथार्थ मालूम पड़ती है कि जो बालक अधिक खेलता है, वह अधिक सीखता भी है। खेल के द्वारा बच्चे ही नहीं, बल्कि वयस्क भी सीखते रहते हैं। छुट्टियों में देशाटन (travelling), संगठित खेलों में भाग लेना, आनन्द के प्रसाधन—जैसे: चलचित्र, रेडियो आदि द्वारा पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। व्यक्तित्व-विकास (Personality development) के लिए खेल उपयोगी क्रिया है। इससे केवल शारीरिक विकास ही नहीं, बल्कि मानसिक, सांवेगिक तथा सामाजिक विकास भी होता है। खेल में वे व्यवहार-कुशल हो जाते हैं। जहाँ बच्चे खेल में एक ओर सहयोग दे सकते हैं, दूसरी ओर वे सहानुभूति भी प्राप्त करना सीख लेते हैं।

खेल बच्चों के लिये आनन्ददायक होता है और इससे उनके जीवन के आनन्द (happiness of life) में वृद्धि भी होती है। खेल इतनी स्वाभाविक तथा आत्मप्रेरित क्रिया होती है कि इसमें कितनी नई चीजों का अन्वेषण भी हो जाता है। एडिसन (Edison) का नाम एक वैज्ञानिक के रूप में काफी प्रसिद्ध है। उनका कथन है कि प्रयोगशाला में उन्होंने कभी भी कोई कार्य (work) नहीं किया। फिर भी, उन्होंने मानव-जीवन के लिये कई स्थायी महत्त्व की चीजें खोज निकालीं।

पहले के चिंतकों ने खेल को बेकार तथा निरुद्देश्य माना है और उनके मतानुसार खेलना समय को नष्ट करना है। खेल से किसी महत्त्वपूर्ण कार्य की सिद्धि नहीं होती। वे कार्य को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते थे। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने नये दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। ये खेल को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण क्रिया मानते हैं। इनके मतानुसार खेल निरुद्देश्य तथा बेकार नहीं होता, बल्कि व्यक्तित्व के विकास में इसका काफी महत्त्व है। खेल (play) और कार्य (work) दोनों क्रियाओं में अंतर (differences) स्पष्ट करने के लिये इन्होंने मनोवृत्ति (attitude) को प्रधान माना है।

२. खेल की परिभाषा

गुलिक (Gulick)[1] ने खेल की परिभाषा बड़े ही सरल शब्दों में की है। "स्वतंत्रतापूर्वक स्वेच्छा से की हुई हमारी कोई भी क्रिया खेल है।"

1. "Play is what we do when we are free to do what we will.—L. H. Gulick.
(A philosophy of play—New York.)

एलिजाबेथ बी० हरलॉक (E. B. Hurlock)[1] ने खेल के स्वरूप (nature) को अधिक रुचिकर ढंग से व्यक्त किया है। खेल एक ऐसी क्रिया है, जिसमें आनन्द की प्राप्ति होती है तथा किसी भी प्रकार के फल (endresult) की प्राप्ति का विचार नहीं रहता। ऐसी क्रिया व्यक्ति की स्वेच्छा से (voluntarily) होती है ; उसे बाध्य होकर कुछ नहीं करना पड़ता अथवा उस पर किसी प्रकार के दबाव का सर्वथा अभाव रहता है। व्यक्ति केवल खेलने के लिये अर्थात् आनन्द के लिये खेलता है, किसी दूरस्थ उद्देश्य (ulterior motive) की प्राप्ति के लिये नहीं।

दोनों विचारों से यह स्पष्ट होता है कि खेल एक आनन्ददायक क्रिया है, जो व्यक्ति की स्वेच्छा से होती है और जिसमें व्यक्ति पूर्णरूपेण स्वतंत्र रहता है। लेकिन, ध्यान रखना है कि अगर व्यक्ति की किसी भी समय कोई क्रिया आनन्द-प्राप्ति के बदले किसी फल-प्राप्ति की ओर निर्देशित हो, तो उसे खेल नहीं कहा जा सकता।

मनोवैज्ञानिकों ने खेल के स्वरूप की उचित व्याख्या के लिये उसकी कसौटी निर्धारित की है। इसमें व्यक्ति की मनोवृत्ति (attitude) की सबसे अधिक प्रधानता है।

खेल ऐसी क्रिया है, जिसमें व्यक्ति को स्वतंत्रता (freedom) रहती है और जो आनन्ददायक (pleasurable) तथा प्रेरणात्मक (motivated) होती है। यह क्रिया साधन (means) तथा साध्य (end) दोनों ही है ; क्योंकि खेलने से आनन्द की प्राप्ति होती है तथा संतोष मिलता है। अतः, आनन्द तथा संतोष के लिये ही बच्चे खेलते हैं जो, खेलने में ही प्राप्त हो जाते हैं। इसीलिये कहा जा सकता है कि आनन्द, जो यहाँ साध्य है, खेलने में ही प्राप्त हो जाता है। अब हम तीनों कसौटियों (criteria) का विवेचन करेंगे।

खेल एक आनन्ददायक क्रिया है, जिसमें व्यक्ति को संतोष की प्राप्ति होती है। जब बच्चे खेलते हैं, तब उनकी क्रिया किसी ऐसी दिशा में निर्देशित नहीं होती कि खेलने के बाद किसी फल की प्राप्ति हो। वे खेलते हैं और प्रसन्न होते हैं। वे अपनी इच्छा से ही खेलते हैं। प्रायः सामान्य बच्चों को खेलने के लिये

1. Elizabeth B. Hurlock—"Child Development"

आदेश की आवश्यकता नहीं। वे तो अवकाश पाते ही खेलना शुरू कर देते हैं। स्वस्थ बच्चे तो खेलने में अधिकाधिक रुचि रखते ही हैं, अस्वस्थ बच्चे भी खेलते हुए दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः वे खेलना चाहते हैं; क्योंकि खेलने में उन्हें आनन्द एवं संतोष की प्राप्ति होती है और इसीलिये वे खेलते हैं। यह भी स्पष्ट है कि क्रियामात्र का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि क्रिया के प्रति व्यक्तिविशेष की मनोवृत्ति का। अतः, किसी भी क्रिया के प्रति अगर बच्चे की मनोवृत्ति (attitude) आनन्ददायक है, तो वह क्रिया खेल कही जा सकती है।

खेल की दूसरी कसौटी है—व्यक्ति की स्वतंत्रता। बच्चे खेल में स्वतंत्रता का अनुभव करते हैं। परिवार में वयस्कों का दबाव तथा आदेश बच्चों में पराधीनता का अनुभव लाता है। इसके फलस्वरूप वे स्वतंत्रता चाहते हैं। खेल में इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। अतः, स्वतंत्रतापूर्वक की गई क्रिया खेल होती है और वही क्रिया जब आदेशानुसार की जाती है, तब कार्य (work) हो जाती है। यहाँ खेल की मनोवृत्ति (play attitude) ही प्रधान है। इसी मनोवृत्ति के आधार पर एक ही क्रिया एक स्थिति में खेल (play) हो जाती है और दूसरी स्थिति में कार्य (work)। बच्चे जब तक खेलना चाहते हैं, तब खेलते हैं। इस सिलसिले में छोटे-छोटे बच्चे एक खेल को छोड़कर दूसरे खेल में भी भाग ले सकते हैं। वे पूर्णरूपेण स्वतंत्र रहते हैं और स्वतंत्रतापूर्वक अपनी संतुष्टि एवं आनन्द के लिये स्वेच्छा से ही खेलते हैं। संगठित खेल (organized play) में इतनी अधिक स्वतंत्रता नहीं रहती। दूसरी ओर, कार्य (work) में तो स्वतंत्रता बिल्कुल ही नहीं रहती। व्यक्ति यहाँ स्वतंत्रता का अनुभव नहीं कर सकता; क्योंकि इसमें कार्य-पूर्ति की जिम्मेदारी रहती है। कार्य में संघर्ष (conflict) रहता है, लेकिन खेल में नहीं।

खेल की तीसरी कसौटी है—प्रेरणात्मकता। खेल प्रबल रूप से अनुप्रेरित (strongly motivated) होता है। बच्चा खेल में इसलिये आनन्दित होता है कि वह जो कुछ करना चाहता है, उसे पूरा कर पाता है। प्रायः संगठित खेल (organized play) में प्रबल प्रेरणा देखी जाती है। खिलाड़ी की विभिन्न चेष्टायें इतनी अधिक अनुप्रेरित तथा उद्देश्यपूर्ण रहती है कि खेल में उनके आनन्द तथा संतोष की मात्रा बढ़ जाती है। कोई भी क्रिया केवल आनन्ददायक अथवा स्वच्छन्द हो, तो वह खेल नहीं हो सकती। अतः,

जब बच्चा खेलने के लिये प्रेरित हो जाता है, तब अन्त तक वह निर्द्वंद्व (free from conflicts) होकर खेलता ही रहता है।

३. खेल और कार्य
(Play and work)

खेल के स्वरूप (nature) को अधिक स्पष्ट करने के लिये खेल (Play) और कार्य (work) के अंतर (difference) को समझना भी आवश्यक है। खेल और कार्य दोनों दो प्रकार की क्रियायें नहीं है ; दोनों एक ही क्रिया हो सकती है, जो व्यक्ति की उस क्रिया के प्रति मनोवृत्ति (attitude) पर निर्भर करती है। + हरलाक (Hurlock) ने खेल और कार्य की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि कार्य (work) एक ऐसी क्रिया (activity) है, जो उद्देश्य की ओर निर्देशित होती है ; जिसमें व्यक्ति अपनी क्रिया जारी रखता है, इसलिये नहीं कि उसे आनन्द की प्राप्ति होती है, बल्कि इसलिये कि वह उद्देश्य-विशेष की प्राप्ति चाहता है। प्रायः बच्चे वाह्य अवस्थाओं (exterior conditions) के आधार पर ही खेल और कार्य में फर्क (difference) समझते हैं। तदनुसार गृह-कार्य (house-works) और अध्ययन (studies) के अतिरिक्त सभी प्रकार की क्रियायें उनके लिये खेल हो जाती हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि कार्यकर्त्ता का उद्देश्य उसके कार्य में नहीं, बल्कि कार्य से परे उसके फल में पाया जाता है। लेकिन, खेल में खिलाड़ी का उद्देश्य खेलने में ही निहित रहता है ; खेलने में ही उसे आनन्द एवं संतोष की प्राप्ति हो जाती है और खेल के समाप्त होने के साथ-ही-साथ उद्देश्य की पूर्ति भी हो जाती है।

खेल में बच्चा स्वतंत्रता का अनुभव करता है। कार्य में स्वतंत्रता का अभाव रहता है। बच्चे इसलिये खेलते है कि उन्हें आनन्द की प्राप्ति होती है, लेकिन कार्य-सम्पादन में आनन्द नहीं भी मिल सकता। कार्य (work) से मतलब है कि इसमें क्रिया (activity) स्वयं कर्त्ता अथवा अन्य व्यक्ति द्वारा निर्देशित होती है, जिससे किसी फल (result) की प्राप्ति आवश्यक है। कार्य में आनन्द की प्राप्ति कर्त्ता के लिये आवश्यक नहीं, बल्कि कार्य के प्रति उसका समुचित

+ Child Development

अभियोजन (adequate adjustment) भी सम्भव नहीं हो पाता। खेल में ऐसी बातें नहीं होती। खिलाड़ी खेल में अभियोजन स्थापित कर ही लेता है; क्योंकि वह स्वेच्छा से अपनी रुचि (interest) तथा प्राप्ति (attainment) के अनुकूल ही खेलता है और इसीलिए वह आनन्द तथा संतोष भी प्राप्त कर सकता है।

घर में माँ को रसोई बनाते देख, बच्चे भी खेल में रसोई बनाते हैं। वे मिट्टी के पात्र इकट्ठा कर लेते हैं और सभी सामग्रियाँ भी उपलब्ध करके खेलना शुरू कर देते हैं। खेल में सहयोग-दान (co-operation) आवश्यक हो जाता है और वे सभी मिलकर स्वच्छंदतापूर्वक खेलते हैं तथा आनन्दित होते हैं। ठीक इसी प्रकार की क्रिया के लिये गृह-कार्य में अगर उनकी माँ किसी बच्चे को आदेश दें, तो उसका पालन बच्चे के लिये खेल नहीं रह जाता, बल्कि कार्य के रूप में परिणत हो जाता है। यहाँ यह स्पष्ट है कि क्रिया (activity) एक ही प्रकार की है—केवल उस क्रिया के प्रति विभिन्न मनोवृत्ति ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, जो किसी क्रिया को खेल अथवा कार्य बना सकती है। विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि पहली अवस्था में स्वछन्द होकर आनन्द के लिये बच्चे खेलते हैं और दूसरी अवस्था में उनकी स्वतंत्रता छिन जाती है और साथ-ही-साथ आनन्द भी उन्हें नहीं मिलता; क्योंकि दूसरी अवस्था में क्रिया आवश्यक हो जाती है जो स्वेच्छा से नहीं होती, बल्कि दूसरों के द्वारा निर्देशित होती है।

४. बच्चों के खेल की विशेषताएँ

(Characteristics of Children's play)

बच्चों के खेल की अपनी विशेषताएँ होती हैं। ये विशेषताएँ प्रायः किसी भी समुदाय में पायी जाती हैं। वयस्कों के खेल में ये विशेषताएँ नहीं रहतीं; क्योंकि उनके खेल अधिक संगठित होते हैं और परिपक्वता (maturity) के फलस्वरूप उनमें नई-नई विशेषताएँ आ जाती हैं। हरलॉक (Hurlock) ने बच्चों के खेल की विशेषताओं का उल्लेख बड़े ही क्रमबद्ध ढंग से और सविस्तर किया है। उसी आधार पर यहाँ हम कुछ मुख्य विशेषताओं को प्रस्तुत करेंगे।

(क) बाल्यावस्था से लेकर परिपक्वावस्था तक हर प्रकार के वातावरण में आयुविशेष में प्रायः खास ढंग के ही खेलने की क्रिया व्यक्तियों में देखी जाती है। आरम्भ में बच्चों में केवल शारीरिक अवयवों की उद्देश्यहीन गतियाँ

(random movements) होती है। तत्पश्चात् परिपक्वीकरण के फलस्वरूप खेल जटिलतर होता जाता है। बाल्यावस्था के प्रारम्भिक भाग में गुड़ियों का खेल (toy-play) काफी रुचिकर होता है और ७ वें तथा ८ वें वर्ष की आयु में अत्यधिक खेला जाता है। क्रमशः नये-नये खेलों के प्रति बच्चों की अभिरुचि बढ़ती जाती है। पहले वे ऐसा खेल खेलने में आनन्दित होते हैं, जिसमें अधिक दौड़-धूप अथवा उछल-कूद सम्भव हो सके और तत्पश्चात् नियम-बद्ध तथा सुसंगठित खेल की ओर आकृष्ट होते हैं। पढ़ने-लिखने तथा सांस्कृतिक मनोरंजन के प्रति उनकी रुचि इसके बाद ही होती है। बाल्यावस्था का उत्तरार्द्ध खेल-प्रधान होता है।

(ख) बच्चों के खेल की दूसरी विशेषता है कि उनकी आयु-वृद्धि के साथ-साथ उनके खेल की संख्या में कमी होती जाती है। बाल्यावस्था में विभिन्न प्रकार की खेलने की क्रियायें देखी जाती है और बाद में इनमें कमी आ जाती है। कॉन (Conn, 1951) के अध्ययन से स्पष्ट है कि ४-६ वर्ष की आयु में बच्चों के खेल की संख्या सबसे कम होती है। ७-६ वर्ष की आयु में वे सबसे अधिक संख्या में खेल खेलते हैं और १०-१३ वर्ष की आयु में खेल के प्रति उनकी रुचि में कमी आ जाती है।

खेलने के अवसर में कमी होने के कारण भी बच्चों के खेलने की क्रियाओं में कमी देखी जाती है। वे ज्यों-ज्यों बड़े होते जाते है, त्यों-त्यों अपनी रुचि (interest) तथा योग्यता (ability) को उचित रूप से समझने लगते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि वे किसी खेल को अधिक देर तक खेलकर आनन्द प्राप्त कर सकते है। छोटे बच्चों के साथ ऐसी बातें नहीं है। वे अधिक देर तक एक ही खेल से आनन्द नहीं ले सकते।

(ग) बच्चों के खेल की तीसरी विशेषता यह है कि आयु में वृद्धि के साथ-खेलने में वे कम समय बिताते है। देखा जाता है कि प्रायः कम आयु के बच्चे हमेशा खेलते ही रहते है। जब वे पाठशाला जाना प्रारम्भ करते है, तब वहाँ अध्ययन में उन्हें अधिक समय देना पड़ता है। इसी प्रकार घर का भी कुछ-न-कुछ कार्य (work) उन्हें करना ही पड़ता है, जिसके फलस्वरूप उनके अवकाश में कमी हो जाती है। अतः, वे अपनी रुचि के मुताबिक कुछ ही खेलों को चुन लेते हैं। क्रमशः उनके खेलों की संख्या तथा खेलने के समय में कमी होती जाती है और अन्त में किसी एक खेल में वे अधिक समय बिताते हैं। *ब्रिजेज* (Bridges,

1929) ने बतलाया है कि बच्चे ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं, त्यों-त्यों किसी एक खेल के खेलने में उनका अधिकाधिक समय लगता है। उनके खेल की यह एक विशेषता है।

(घ) बाल्यावस्था के खेल अयथाविधि (Informal) होते हैं। बच्चे अपनी इच्छानुसार खेलते है। खेलने के लिये वे समय तथा स्थान विशेष (time and place) की परवाह नहीं करते। वे जहाँ कहीं जो कुछ पाते हैं, वहीं उसी के साथ खेलना शुरू कर देते है। खेलने में वे अनुकरणशील (imitative) होते है। प्राय: वयस्कों के खेल की सामग्रियों के साथ खेलना उन्हें अधिक भाता है। छोटे-छोटे बच्चों को खेलने की तैयारी नहीं करनी पड़ती। वे स्वाभाविक रूप से ही खेलने में अधिक आनन्दित होते हैं। प्रायः अधिक-आयु के बच्चों को संगठित खेल (organized play) में अधिक अभिरुचि (interest) बढ़ने लगती है, लेकिन कम आयु के बच्चे यथा-विधि रूप से नहीं खेल पाते। खेलने में अगर उनकी पोशाक (dress) गंदी हो जाय अथवा फट जाय, तो भी उन्हें कोई परवाह नहीं।

किशोरावस्था में खेल प्राय: यथा-विधि (formal) हो जाते हैं और खेलने की स्वाभाविकता (spontaniety) में पर्याप्त कमी आ जाती है। प्राय: बाल्यावस्था के अंतिम भाग में बच्चे खेल-विशेष (particular game) के लिये उचित पोशाक (proper dress) पहनना चाहते है। खास ढंग के खेल के लिये वे स्थानविशेष तथा समयविशेष का भी महत्त्व समझने लगते हैं। वस्तुतः उनकी आयु में वृद्धि के साथ-साथ प्रतिवर्ष उनके खेल की अयथाविधि (Informality) में कमी आती जाती है।

५. खेल के सिद्धान्त
(Theories of Play)

बच्चे खेलते हैं। वे क्यों खेलते है—इसकी विभिन्न व्याख्यायें की गई हैं। किंतु, सभी मनोवैज्ञानिकों में मतैक्य नहीं है। इस सिलसिले में भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा कई सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं। अत:, 'बच्चे क्यों खेलते है ?' इसे समझने के लिये इन सिद्धान्तों की विवेचना आवश्यक है। यहाँ कुछ मुख्य सिद्धान्तों की व्याख्या की जाती है।

(क) शीलर-स्पेंसर सिद्धान्त (Schiller-spancer theory)

खेल का यह सिद्धान्त अत्यधिक प्रचलित है। *शीलर तथा स्पेंसर* ने बतलाया कि बच्चों में प्रवृद्ध शक्ति (surplus energy) होती है, जिसकी

अभिव्यक्ति खेलने की क्रिया में होती है। अगर बच्चों में इतनी अधिक शक्ति न होती, तो वे इतना नहीं खेलते। प्रायः देखा जाता है कि बच्चे तरह-तरह के खेल खेलने में व्यस्त रहते हैं। छोटे-छोटे बच्चे अत्यधिक क्रियात्मक खेल में अधिकाधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। वे दौड़ते हैं, उछल-कूद करते हैं तथा खूब हँसते हैं। इन क्रियाओं से स्पष्ट होता है कि उनमें शक्ति (energy) असीमित रहती है, जिसकी अभिव्यक्ति सहज रूप में होती है। अतः, इस सिद्धांत को प्रचुर-शक्ति-सिद्धान्त (surplus energy theory) भी कहते हैं।

यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि प्रचुर शक्ति के कारण ही बच्चे खेलते हैं। लेकिन, अस्वस्थ तथा कमजोर बच्चे भी खेलते देखे जाते हैं। यह सिद्धांत शक्ति की सीमा निर्धारित नहीं करता। थके हुए बच्चे भी अवकाश पाकर खेलना शुरू कर देते हैं। इतना ही नहीं, बीमार बच्चे भी खेलने के लिये तैयार रहते हैं, यद्यपि उनका खेलना अधिक क्रियात्मक नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि खेल शक्ति-वर्द्धक होता है। खेलने से बच्चे सशक्त होते हैं; क्योंकि यह एक प्रकार का कसरत हो जाता है। अतः, शक्ति-अतिरेक सिद्धांत आंशिक रूप से ही खेल की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस सिद्धांत यह व्याख्या नहीं करता कि बच्चे कोई खास खेल (particular play) क्यों खेलते हैं तथा आयुविशेष में किसी खास खेल के प्रति उनकी अभिरुचि क्यों अधिक होती है।

(ख) भावी जीवन की तैयारी का सिद्धांत—(Preparation for life theory)

इस सिद्धांत का प्रतिपादन कार्ल ग्रूस (Karl Greos) ने किया। कार्ल ग्रूस ने बतलाया कि बच्चे अचेतन रूप से खेल के द्वारा अपने भावी जीवन में करनेवाली क्रियाओं (activities) की तैयारी करते हैं। ग्रूस साहब ने छोटे-छोटे बच्चों तथा जानवरों का समुचित निरीक्षण किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि ये बच्चे खेल में उन्हीं क्रियाओं का अभ्यास करते हैं, जिनकी आवश्यकता उनके वयस्क जीवन में होती है। उदाहरण के द्वारा इसका स्पष्टीकरण हो सकता है। संथालों के बच्चे प्रारम्भ से ही तीर-धनुष के साथ जंगलों में शिकार खेला करते हैं। छोटी-छोटी लड़कियाँ घर में गुड़ियों के साथ खेलने में

अधिक दिलचस्पी लेती हैं। वे इन गुड़ियों का ब्याह रचाती हैं, दुल्हन का शृंगार करती हैं तथा इस अवसर पर अन्य साथियों के सहयोग में भोजन आदि बनाने की व्यवस्था भी करती हैं। इन लड़कियों की ये सारी क्रियायें उनके नारी-जीवन का स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करती हैं। बच्चे पुल (Bridge) बनाते हैं, घर का निर्माण करते हैं तथा सामग्री एकत्रित करने में अधिक रुचि दिखाते हैं। पुरुष जीवन की तैयारी इस दिशा में हो सकती है। जानवरों में भी देखा जाता है कि बिल्ली के बच्चे उछल-कूद करते है तथा किसी वस्तु को मुँह से पकड़ने का अभ्यास करते है। यह अभ्यास अचेतन रूप में चूहे पकड़ने की तैयारी हो सकता है। उछल-कूद का अभ्यास दूरस्थ वस्तुओं को प्राप्त करने में सहायक होता है, जो उनके लिये आवश्यक है।

किन्तु, आधुनिक सभ्यता में बच्चों के खेल में सहज व्यवहार हमेशा नहीं देखे जाते। कोई आवश्यक नहीं कि उनका खेलना उनके भावी जीवन की तैयारी ही होती है; क्योंकि वयस्क जीवन में होने वाली सभी क्रियाओं की तैयारी खेल में नहीं हो पाती। वस्तुतः खेलने की क्रियाओं और वयस्क जीवन में होने वाली विभिन्न क्रियाओं में समुचित अनुरूपता (correspondance) नहीं होती है। बच्चे बहुत ऐसे भी खेल खेलते हैं, जिनका वयस्क जीवन में कोई भी महत्त्व नहीं रह पाता। यह सिद्धांत भी खेल की संतोषप्रद व्याख्या करने में असमर्थ है। फिर भी, खेल की आंशिक व्याख्या इस सिद्धान्त में प्राप्त होती है। प्रायः बच्चे भावी जीवन की तैयारी के लिये नहीं खेलते। हाँ, यह निश्चित है कि खेल के द्वारा बच्चों में कई तरह की चीजों का सीखना सम्भव हो पाता है, जिससे जीवन में काफी सहायता मिलती है।

(ग) पुनरावृत्ति सिद्धांत (Recapitulation theory)

जी० स्टानले हॉल (G. Stanley Hall) का पुनरावृत्ति-सिद्धांत बड़े ही आकर्षक ढंग से खेल की व्याख्या प्रस्तुत करता है। बच्चे खेलने के सिलसिले में अपने पूर्वजों (ancestors) की क्रियाओं को दुहराते हैं। *हॉल* के अनुसार बच्चे खेल में अपने विगत जातिगत अनुभवों (racial experiences) की पुनरावृत्ति करते हैं। इस प्रकार इन्होंने खेल को प्रजातिगत (racial) माना है। अतः, यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति अपने जीवन में जो कुछ करता है अथवा जितने भी गुण अर्जित करता है—उनकी पुनरावृत्ति उनके बच्चों द्वारा खेलने की क्रिया में होती है।

इस सिद्धान्त का आधार वंशानुगत अर्जित गुण (acquired characteristics) है, जिसका आधुनिक जीवशास्त्रियों (Biologists) ने खंडन किया है। अतः, खेल का यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं है।

(घ) जन्मजात प्रवृत्ति सिद्धान्त (Instinct theory)

मैक् डूगल (Mc Dougall) ने खेल को जन्मजात प्रवृत्ति माना है। उनके मतानुसार उचित समय के पूर्व ही सहज प्रवृत्तियों (Instincts) के परिपक्व (matured) होने के कारण बच्चे खेलते हैं। जब ये सहज प्रवृत्तियाँ परिपक्व (matured) हो जाती है, तब अन्यान्य उपयोगी क्रियाओं के लिये उनकी आवश्यकता होती है। किन्तु, इसके असमय परिपक्व हो जाने के कारण ही उनकी अभिव्यक्ति खेलने की क्रिया में होती है।

मैक् डूगल का यह सिद्धांत भिन्न-भिन्न प्रकार के खेलों की समुचित व्याख्या करने में असफल है। इसके अतिरिक्त, आधुनिक काल में जन्मजात प्रवृत्ति के सिद्धांत पर अधिक जोर नहीं दिया जाता। अतः, यह सिद्धान्त भी यथेष्ट मान्यता प्राप्त नहीं कर सका।

(च) विश्रांति सिद्धांत (Relaxation theory)

पैट्रिक (Patrick) का मत है कि खेल के द्वारा हम अपनी थकावट को दूर करने में समर्थ होते हैं। दिन भर कार्य करने के फलस्वरूप हमलोग थक जाते हैं। फिर, एक ही प्रकार के कार्य करने से एकरसता (monotony) आ जाती है। इन्हीं तनावों (tensions) को दूर करने के लिये खेलना आवश्यक हो जाता है ; क्योंकि खेल के द्वारा ही यह तनाव दूर हो सकता है। खेलना हमारे लिये कार्योपरान्त विश्राम (relaxation) हो जाता है। इसमें क्रियाओं (activities) में परिवर्तन होता है, जो थकावट तथा एकरसता (fatigue and monotony) दूर करने में सक्षम होता है। कार्य (work) करने के बाद संगीत में भाग लेना, मनोरंजक पुस्तकें पढ़ना अथवा मित्रों के साथ बातचीत करना आदि भी खेल कहा जा सकता है, जो स्वेच्छा से आनन्द के लिये किये जा सकते हैं। आधुनिक काल में बच्चों तथा वयस्कों के लिये रेडियो, टेलीविजन तथा सिनेमा आदि आनन्द के सुंदर साधन हैं, जिनका उपयोग कार्योपरान्त किया जाता है। पाठशाला से अवकाश पाते ही बच्चे रास्ते में सक्रिय खेलों में भाग लेते हुए ही घर पहुँचते हैं। अधिक आयु के बच्चे गेंद

तथा बैडमिंटन अथवा प्रचलित स्थानीय खेलों में भी सक्रिय भाग लेते हैं। इस प्रकार दिन-भर के कार्य-भार की थकान को मिटाने के लिये ही वे खेलते हैं।

पैट्रिक के इस मत का भी खंडन किया गया है। यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक सिद्ध हो चुका है; क्योंकि विभिन्न शारीरिक अवयवों (limbs) के पूर्व ही मस्तिष्कीय केन्द्रों (Brain centres) की थकावट का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

(छ) मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत (Psychoanalytic theory)

मनोविश्लेषकों का दृष्टिकोण अन्य मनोवैज्ञानिकों से भिन्न है। वे व्यक्ति के सांवेगिक (emotional) जीवन को अधिक महत्त्व देते है। उनके मतानुसार मानसिक अंतर्द्वंद्वों (mental conflicts) एवं इच्छाओं (desires) की अभिव्यक्ति के लिये ही बच्चे खेलते है।

इस मत के समर्थकों में *अन्ना फ्रायड* (Anna Freud) तथा *एम० क्लाइन* (M. klein) के नाम उल्लेखनीय है। प्रारम्भिक जीवन में बच्चों का सम्पर्क (contact) माँ-बाप अथवा परिवार के अन्य सदस्यों के साथ रहता है। इसके बाद अध्यापकों से उनका परिचय होता है। इन व्यक्तियों के साथ बच्चों का जैसा भी संवेगात्मक संबंध (emotional relation) रहता है, उसकी अभिव्यक्ति खेल में होती है। अगर माँ-बाप के साथ बच्चे का संबंध संतोषप्रद (satisfactory) नहीं रहता, तो इसके फलस्वरूप उनमें मानसिक अन्तर्द्वंद्व (mental conflicts) पैदा हो जाता है। खेलने के सिलसिले में वे किसी वस्तु को माँ-बाप का प्रतीक (symbol) मान कर उसे तोड़ने की चेष्टा करते हैं। इससे स्पष्ट है कि अचेतन रूप में (unconsciously) वे अपने माँ-बाप के प्रति अनादर तथा घृणा (hatred) अभिव्यक्त करते है। इसी प्रकार, जब अध्यापकों का व्यवहार भी बच्चों के प्रति संतोषजनक एवं संतुलित (balanced) नहीं हो पाता, तब बच्चे खेल में अचेतन रूप से उनके प्रति घृणा के भाव व्यक्त करते हैं।

प्रायः बच्चे चित्रों (drawings) के द्वारा इन दमित इच्छाओं (repressed desires) की अभिव्यक्ति स्वच्छन्द होकर करते हैं और इसके बाद वे काफी संतुष्ट दीख पड़ते हैं। खेल में खिलौने के चुनाव तथा इनके प्रतीक (symbols) बनाने में उनकी मनोवृत्ति (attitude) स्पष्ट

रूप से ज्ञात हो जाती है। बच्चों की असंतुष्ट इच्छाओं की अभिव्यक्ति भी खेल में होती है।

यह सिद्धांत भी केवल आंशिक रूप से खेल की व्याख्या करता है। बच्चे तरह-तरह के खेल खेलते है और सभी प्रकार के खेलों में वे अपनी मानसिक अन्तर्द्वंद्वों तथा चिंताओं (anxities) की अभिव्यक्ति नहीं करते। वे बहुत-से ऐसे भी खेल खेलते है, जिनसे उनकी किसी प्रकार की इच्छा की संतुष्टि नहीं होती। अतः, यह सिद्धांत सर्वमान्य नहीं हो सकता।

(ज) 'खेल ही जीवन है'—सिद्धान्त ('Play is Life' theory)

खेल की इस महत्त्वपूर्ण व्याख्या का श्रेय *डीवी* (Dewy) को है। सभी प्राणी स्वाभवतः सक्रिय (active) रहते है। *डीवी* के मतानुसार प्राणी की स्वाभाविक सक्रियता के आधार पर ही खेल की व्याख्या की जा सकती है। अपनी आन्तरिक उत्तेजना (internal stimulation) के कारण प्राणी अनवरत सक्रियता की स्थिति में रहते है। वस्तुतः क्रिया (activity) ही जीवन का सार है। बच्चे क्यों खेलते है?—इसकी व्याख्या अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा *डीवी* का यह सिद्धांत अधिक संतोषप्रद प्रतीत होता है। हर प्रकार की क्रिया की व्याख्या के लिये यह सिद्धान्त पर्याप्त है। खेल बच्चों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। इस स्वाभाविक क्रिया में बच्चों को आनन्द मिलता है। खेल के बिना व्यक्ति का जीवन नीरस तथा दूभर हो जाता है। यह सिद्धांत अपने व्यापक दृष्टिकोण के कारण सर्वाधिक मान्य है।

६. खेल का महत्व
(Values of Play)

मनोवैज्ञानिकों ने खेल को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण क्रिया माना है। खेल समय (time) तथा शक्ति (energy) की बरबादी नहीं, बल्कि उपयोगी (useful) क्रिया है। खेल आनन्ददायक होता है। खेल में ही बच्चे स्वतंत्रता का अनुभव कर सकते है, जो उनके लिये आवश्यक है। हमेशा माँ-बाप अथवा अभिभावक (Guardians) पर निर्भर रहने के फलस्वरूप उनके व्यक्तित्व के समुचित विकास में बाधा उपस्थित होने की सम्भावना रहती है। अतः, वे उस वातावरण के प्रति विद्रोह कर सकते है, अगर खेलने का सुअवसर

उन्हें प्राप्त न हो। खेलने से शक्ति (energy) की बरबादी नहीं, बल्कि शक्ति प्राप्त (build up energy) होती है। जीवन के विभिन्न पहलुओं पर खेल का प्रभाव पड़ता है जिसके फलस्वरूप शारीरिक, मानसिक, सामाजिक नैतिक, सांवेगिक तथा शिक्षागत विकास होता है। अंत में, यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व-विकास में भी खेल काफी महत्त्वपूर्ण होता है। खेल के इन विभिन्न महत्त्वों (values) पर प्रकाश डालना यहाँ अपेक्षित है।

१. शारीरिक महत्त्व (Physical Value)

प्रायः देखा जाता है कि स्वस्थ बच्चे खेलते रहते है। खेलने से बच्चा स्वस्थ होता है तथा उसका शरीर (body) सुगठित एवं सुडौल हो जाता है। रक्त-परिचारण (Blood-circulation) भी समुचित रूप से होता है। शरीर की मांसपेशियाँ (muscles) खेलने के फलस्वरूप काफी विकसित हो जाती है। पर्याप्त सक्रियता के कारण पाचन-क्रिया भी उचित रूप में होती है तथा अनावश्यक चीजें (waste products) शरीर के बाहर आसानी से चली आती है। बच्चों में काफी शक्ति (energy) होती है, जिसका व्यय खेल में होता है। अगर खेल में इस प्रवृद्ध शक्ति का व्यय न हो, तो शरीर का तनाव (tension) दूर नहीं हो सकता और असामान्य व्यवहार की सम्भावना हो जाती है। खेल में शरीर के विभिन्न भागों को नियंत्रित करना पड़ता है, जिससे बच्चे अपनी कर्मेंद्रियों को अधिकाधिक नियंत्रित करने में समर्थ हो पाते हैं। यह कहा जा सकता है कि खेल में शारीरिक विकास बड़े ही संतुलित (balanced) ढंग से हो पाता है।

२. मानसिक महत्त्व (Mental Value)

खेल का प्रभाव बच्चों के मानसिक विकास पर पड़ता है। खेल में कई चीजों की जानकारी उन्हें प्राप्त होती है। विभिन्न वस्तुओं के संबंध (relations) तथा उनके उपयोग (uses) का ज्ञान उन्हें हो पाता है। खेल में तरह-तरह की समस्यायें (problems) उनके सामने उपस्थित होती है, जिनके समाधान के लिये उन्हें चिंतन (thinking) करना पड़ता है। समस्याओं के समाधान में उनका मानसिक विकास (mental development) सम्भव होता है तथा वे तर्क करना (Reasoning) भी सीखते हैं। खेल में बच्चों के मानसिक अन्तर्द्वंद्व (mental conflicts) की अभिव्यक्ति होती है, जो मानसिक संतुलन के लिये आवश्यक है। साथियों के बीच

विचारों का आदान-प्रदान (exchange of ideas) होता है तथा नये नये विचार और दृष्टिकोण (viewpoints) आते है, जिनके फलस्वरूप उनकी विचारधारा काफी प्रभावित होती है।

३. सांवेगिक महत्त्व (Emotional value)

बच्चों के सांवेगिक जीवन (emotional life) को भी खेल कम प्रभावित नहीं करता। हमारे सामाजिक जीवन का आधार संवेगात्मक संबंध (emotional relation) है। जब कोई किसी कठिनाई में पड़ जाता है, तब उसके प्रति सहानुभूति (sympathy) दिखाना स्वाभाविक होता है। खेल में बच्चे अपने क्रोध (anger) पर नियंत्रण करना सीखते है। साथियों के सम्पर्क में नई चीजों के प्रति उनका भय भी कम होता हुआ पाया जाता है। प्रायः देखा जाता है कि कुछ बच्चे घर में प्रसन्न नहीं रहते, किन्तु घर के बाहर खेल में वे मुक्त होकर हँसते तथा किलकारी मारते है। उनकी खुशी (joy) की अभिव्यक्ति का खेल एक उत्तम माध्यम है। खेलने के सिलसिले में बच्चे अपने संवेगात्मक अन्तर्द्वंद्व (emotional conflicts) तथा चिन्ताओं (anxieties) को अभिव्यक्त करते है, जिनसे उनके सांवेगिक तनाव (emotional tensions) में कमी हो जाती है। सांवेगिक जीवन के संतुलन के लिये बच्चों का खेलना काफी महत्त्वपूर्ण है।

४. सामाजिक महत्व (Social value)

बच्चों की सामाजिकता के विकास में खेल का काफी महत्त्व है। खेल में सहयोग (co-operation) की आवश्यकता होती है। अगर एक बच्चा दूसरे को सहयोग न दे, तो खेलना सम्भव नहीं हो सकता। अतः, खेल की सफलता के लिये वे सहयोग देना सीखते है। बच्चे खेल में समुदाय (group) के अनुशासन (discipline) को मानना सीखते है और काफी दिलचस्पी से खेल में भाग लेते हैं। वे खेल के नियमों (rules) का पालन करना तथा एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति (sympathey) प्रकट करना अत्यावश्यक समझते है। जिन बच्चों को खेलने का अवसर नहीं मिलता, वे आत्मकेंद्रित (self-centred) तथा स्वार्थी (selfish) होते है। लेकिन, खेल में वे स्वार्थ का परित्याग करना सीख जाते है; क्योंकि इसके बिना खेल सफल नहीं हो सकता। समुदाय (group) का एक नायक होता है, जो खिलाड़ियों को निर्देशित (directs) करता है। खेल में बच्चे अपनी योग्यतानुसार नायक

(leader) बनकर अन्य बच्चों पर नियंत्रण करना सीखते है। दूसरी ओर अन्य बच्चे अधीनता स्वीकार करते है। इस तरह वे आपस में मिलना तथा सहयोग देना सीख पाते हैं, जो सामाजिक जीवन के लिये काफी उपयोगी होता है। खेल में विभिन्न प्रकार की स्थितियाँ आती हैं, जिनमें बच्चे दूसरों की सहायता करना तथा बचाव करना (defend) सीखते है। खेल में वे निर्भीक (bold) बनते हैं तथा अनुशासित ढंग से सामाजिक व्यवहार प्रगट करना सीखते है। जीवन में सामाजिक जिम्मेदारी (social responsibility) सम्हालने में खेल काफी सहायक होता है। खेल के मैदान में ही बच्चों के सामाजिक व्यवहार (social behaviour) का स्वाभाविक ढंग से अध्ययन किया जा सकता है।

५. शिक्षागत महत्त्व (Educational value)

प्राचीन विचारक खेल को बेकार (useless) समझते थे; किंतु आधुनिक मनोवैज्ञानिक खेल के शिक्षागत महत्त्व (educational value) पर काफी जोर देते है। खेल में बच्चे नई-नई वस्तुओं के नाम सीखते है तथा उनके आकार-प्रकार और रूप-रंग से परिचित होते हैं। खेल में सभी समान आयु (equal age) के बच्चे नहीं रहते; कुछ बड़े होते है और कुछ छोटे। कम आयु के बच्चों को बड़े बच्चों से सीखने का अवसर खेल में मिलता है। उन्हें नये विचार (ideas) मिलते है तथा नये-नये शब्दों के उपयोग करने का अवसर भी प्राप्त होता है। अपने बड़े साथियों से नई-नई सूचनायें (informations) मिलती हैं, जो उनके वातावरण की घटनाओं (events) से संबंधित होती है। खेल के नियम (rules) तथा उनका पालन भी उन्हें सीखना पड़ता है। विचारों के आदान-प्रदान तथा नये-नये शब्दों के प्रयोग के फलस्वरूप उनका शब्द-भंडार (vocabulary) भी काफी वृहत्त हो जाता है और भाषा-विकास (language development) भी समुचित ढंग से हो पाता है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में रेडियो (Radio) तथा चल-चित्र (Cinema) भी बच्चों के मनोरंजन का उत्तम साधन बन चुके हैं और चल-चित्र तो बच्चों को अधिकाधिक आकर्षित कर सका है; क्योंकि इससे श्रव्य-दृश्य (audo-visual) दोनों प्रकार की संतुष्टि संभव होती है। इनसे उन्हें तरह-तरह की सूचनाएँ (informations) प्राप्त होती है। मेधावी बच्चे (Bright child) सक्रिय खेलों (active plays) की अपेक्षा पढ़ने (reading) में अधिक रुचि

दिखाते हैं। इस प्रकार पढ़ने, खेलने, रेडियो सुनने तथा चल-चित्र देखने में वे काफी लाभान्वित होते हैं और उनका ज्ञान-भंडार भी काफी वृहद् हो जाता है। खेल में बच्चों का नैतिक पक्ष (moral aspect) भी विकसित होता है, जिससे समुदाय अथवा समाज में अच्छा-बुरा तथा सही-गलत (right-wrong) का ज्ञान उन्हें हो जाता है।

अन्त में, कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व-विकास (personality development) में खेल का काफी महत्त्वपूर्ण हाथ है। खेल में बच्चों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है; उन्हें आनन्द मिलता है। खेल के द्वारा आत्म-विश्वास (self-confidence) तथा आत्मबल प्राप्त होता है। बच्चे रचनात्मक खेल (constructive play) भी खेलते है, जिनसे उनके रचनात्मक-चिंतन (creative thinking) का विकास होता है। खेल में वे ईमानदारी, सहिष्णुता (tolerance) लगनशीलता तथा अनुशासन (descipline) आदि का महत्त्व समझने लगते है, जो उनके व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिये आवश्यक होता है। प्रतिकूल वातावरण के फलस्वरूप उत्पन्न विभिन्न प्रकार के तनावों (tensions) की अभिव्यक्ति खेल के द्वारा संभव होती है, जो संतुलित व्यक्तित्व (balanced personality) के लिये अपेक्षित है। खेल के द्वारा बच्चों की रुचि (interest), मनोवृत्ति (attitude), सांवेगिक संघर्ष (emotional conflicts) तथा व्यक्तित्व (personality) आदि का अध्ययन आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का बड़ा ही रुचिकर विषय हो गया है। वस्तुतः खेलने के सिलसिले में विभिन्न प्रकार के वातावरण के प्रति अभियोजन करना (adjustment) बच्चे सीख जाते है। यह अभियोजन की क्षमता उनके व्यक्तित्व के लिये काफी महत्वपूर्ण है।

७. खेल को प्रभावित करने वाले तत्त्व
(Factors influencing play)

१. आयु (Age)

छोटे तथा बड़े बच्चे की रुचि (interest) एक ही प्रकार के खेल के प्रति नहीं होती। १ वर्ष का बच्चा गोद में खेलता है; लेकिन ५ वर्ष का बच्चा गोद में नहीं खेलता। परिपक्वीकरण के फलस्वरूप उनका विकास होता जाता है और अपने शारीरिक अंगों (parts of the body) को वे अधिकाधिक

नियंत्रित कर सकते हैं। अतः, बच्चों के खेलने की क्षमता तथा उनका खेलना उनके विकास पर ही निर्भर करता है। छोटे-छोटे बच्चे प्रारम्भ में वयस्कों के साथ खेलते हैं। उस समय उनके हाथ तथा पैर में ही गति देखी जाती है। वे वस्तुओं को पकड़ नहीं सकते; क्योंकि उनकी मांसपेशियों का उचित विकास नहीं हुआ रहता है। ३ वर्ष के बच्चे गुड़ियों के खेल में अधिक रुचि दिखाते हैं। वे दौड़ सकते हैं तथा सभी वस्तुओं को उचित रूप में हाथ तथा अंगुलियों के सहारे सम्हाल सकते हैं। तदुपरान्त ५ वर्ष के बच्चे अधिक सक्रिय खेलों में भाग लेने लगते हैं। उनका भाषा-विकास भी हो जाता है, ताकि वे अपने विचारों को साथियों के बीच व्यक्त कर सकें। इस आयु तक बच्चों के स्नायु तथा मांसपेशियों के बीच समन्वय (co-ordination) की मात्रा काफी हो जाती है। आयु-वृद्धि के फलस्वरूप ही बच्चों के खेल में परिवर्तन देखा जाता है। ऐसी कोई बात नहीं कि अचानक उनके खेल में परिवर्तन दिखाई पड़े। आयु-वृद्धि (growth in age) ही खेल के प्रति परिवर्तित रुचि का कारण होता है। इसके फलस्वरूप बच्चे अपनी रुचि के अनुकूल खेलों में ही भाग लेते हैं। ज्यों-ज्यों बच्चे अधिक आयु के होते है, त्यों-त्यों उनके खेलों की संख्या में कमी आती जाती है और साथ-ही-साथ कुछ चुने हुए खेलों में अधिक-से-अधिक समय बिताने में वे विशेष आनन्द प्राप्त करते हैं। वस्तुतः आयु-वृद्धि के साथ-साथ बच्चों के क्रियात्मक विकास (motor development) की मात्रा पर ही उनके खेल निर्भर करते हैं।

२. स्वास्थ्य (Health)

प्रायः देखा जाता है कि स्वस्थ बालक खेलते रहते हैं। उन्हें कोई खेलने को नहीं कहता। वे खेलना चाहते हैं और खेलने में अधिक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। ठीक दूसरी ओर, देखा जाता है कि अस्वस्थ बच्चे अधिक सक्रिय खेलों (active plays) में भाग नहीं लेते। अध्ययन के आधार पर देखा गया है कि अस्वस्थ बच्चे की अपेक्षा स्वस्थ बच्चे अधिक खेलते हैं। कम आयु में भी स्वस्थ बच्चे खेलने की वस्तु के प्रति अधिक रुचि दिखाते हैं। स्वस्थ बच्चों में अत्यधिक शक्ति (energy) होती है, जिसके कारण वे खेलों में अधिक सक्रिय भाग लेते हैं।

३. बुद्धि (Intelligence)

सभी बच्चे खेलते है, चाहे वे तीव्र बुद्धि के हों या मंद बुद्धि के। लेकिन, उनके खेलने तथा विशेष प्रकार के खेल के प्रति रुचि में अंतर रहता है। तीव्र बुद्धि के

बच्चे (Bright children) मंद बुद्धि के बच्चों (dull children) की अपेक्षा अधिक खेलते है। दोनों के खेलों में प्रथम वर्ष के बाद ही भिन्नता (difference) देखी जाती है। छोटे-छोटे बच्चे खेल में बड़ों की क्रियाओं का अनुकरण करते है। तीव्र बुद्धि के बच्चे बड़ी शीघ्रता से ही अनुकरण करना प्रारम्भ कर देते है। आयु-वृद्धि के साथ-साथ दोनों प्रकार के बच्चों के खेल में पर्याप्त अंतर (difference) दिखाई पड़ने लगता है। स्पष्ट है कि बुद्धि बच्चों के खेलों को अत्यधिक प्रभावित करती है। तीव्र बुद्धि के बच्चे की रुचि किसी खेल के प्रति अधिक देर तक स्थिर रह पाती है। मेबरी (Maybury) के मतानुसार ५ वर्ष से कम आयु के बच्चे, जिनकी बुद्धि-लब्धि (I. Q.) अधिक होती है, अभिनयपूर्ण खेल (dramatic play) तथा रचनात्मक क्रिया (creative activities) में अधिक रुचि दिखाते है। वे मिट्टी की मूर्तियाँ तथा खिलौने बनाते है, चित्रकारी करते है तथा कागज काटकर खेल की सामग्रियाँ तैयार करने में अधिक दिलचस्पी लेते हैं। पढ़ने में उनकी विशेष रुचि देखी जाती है; क्योंकि इसमें उन्हें विभिन्न प्रकार की सूचनायें प्राप्त होती है तथा उनका मनोरंजन होता है। उनकी रुचि समुदाय (group) के साथ खेलने में कमती जाती है। *लेहमैन* तथा *विटी* (Lehman and witty) ने बतलाया है कि तीव्र बुद्धि के बच्चे मंद बुद्धि के बच्चों की अपेक्षा अधिक प्रकार के खेल खेलने की क्रियाओं में रुचि दिखाते हैं तथा खेलने में अधिक समय भी बिताते है। *हरलॉक* (Hurlock) के अध्ययन से स्पष्ट है कि तीव्र बुद्धि के बच्चों में प्रारम्भ से ही पढ़ने के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाती है तथा उनमें पढ़ने की योग्यता भी पायी जाती है। इसी तरह अधिक तीव्र बुद्धि के बच्चे (very bright children) सामान्य बुद्धि के बच्चों की अपेक्षा पढ़ने में अधिक समय देते है तथा विभिन्न प्रकार की चीजों को पढ़ने में उनकी रुचि बढ़ती जाती हैं।

४. यौन-भेद (Sex difference)

बाल्यावस्था के प्रारंभिक भाग में लड़के-लड़कियों के खेलने की क्रियायें समान होती हैं। उनके खेल में कोई विशेप अंतर नहीं रहता। सामाजिक तथा पारिवारिक वातावरण में प्रचलित इन बच्चों के खेलने के साधन भिन्न-भिन्न होते है। लड़कियों का गुड़ियों के साथ तथा लड़कों का गेंद खेलना प्रायः देखा जाता है। इसके फलस्वरूप बच्चे यह जान पाते है कि लड़कों के लिये अमुक खेल, की सामग्रियाँ उचित है और लड़कियों के लिये अमुक। भारतीय समाज मे

लड़कियों पर बाल्यावस्था के प्रारम्भिक भाग से ही इतना अधिक नियंत्रण डाला जाता है कि उनके खेलने में भी पूरी स्वतंत्रता नहीं रह पाती। वे हर प्रकार के खेल हर जगह नहीं खेल सकतीं।

खेलने में अधिक आयु के साथियों का अनुकरण तथा अभिभावकों की स्वीकृति उनके लिये मान्य होती है। अतः, प्रारम्भ से ही यौन-भेद से बच्चों के खेल प्रभावित होने लगते हैं। मेबरी (Maybury) के मतानुसार लड़कियों की अपेक्षा लड़के अधिक सक्रिय खेलों में भाग लेते हैं।

खेलने में यौन-भेद का प्रभाव स्पष्ट रूप से ८-१० वर्ष की आयु में देखा जाता है। इस आयु में लड़के अन्य लड़कों के साथ तथा लड़कियाँ अन्य लड़कियों के साथ खेलना उत्तम समझती हैं। खेल में वे बच्चे प्रायः समान आयु के साथियों को चुनते हैं। हॉनजिक (Honzik) का मत है कि सभी आयु में (at all ages) लड़कियों की अपेक्षा लड़कों के खेलने की अभिरुचि (interests) अधिक विस्तृत (wide) होती है।

किशोरावस्था में लड़के प्रायः संगठित खेलों (organized plays) में अधिक रुचि दिखाते हैं और प्रतियोगिता में भी सक्रिय भाग लेते हैं। लेकिन, लड़कियों पर इस अवस्था में सामाजिक प्रथानुसार अधिकाधिक प्रतिबंध लगाये जाते हैं। फलस्वरूप, लड़कियाँ अपेक्षाकृत कम सक्रिय खेलों में भाग लेती हैं। लेकिन, जिन समाज में उन पर विशेष प्रतिबंध नहीं है और लड़के-लड़कियों को स्वतंत्रता है, लड़कियाँ भी खेलने में सक्रिय भाग लेती हैं। वे केवल घर के अंदर खेले जाने वाले खेलों (indoor games) में ही नहीं, बल्कि मैदानों में खेले जाने वाले खेलों (outdoor games) में भी सक्रिय भाग लेती हैं।

४. वातावरण (Environment)

बच्चों के खेल वातावरण से बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। बच्चे दूसरों के खेलों का अनुकरण करते हैं, जो उस वातावरण में खेले जाते हैं। एक समाज में विशेष प्रकार के खेल प्रचलित होते हैं। बच्चे अपने घर के पास, जहाँ कहीं उन्हें जगह मिल जाती है, खेलते हैं। हर जगह खेलने के लिये मैदानों की सुविधा नहीं रहती। अतः, जिस जगह, जिस प्रकार के खेल की सम्भावना (possibilities) हो पाती है, वे खेलना प्रारम्भ कर देते हैं। प्रायः नगरों में खेलने के लिये मैदान तथा उसमें तरह-तरह के प्रसाधन की व्यवस्था रहती है, जहाँ बच्चे अवकाश के

क्षणों में खेलते हैं। दूसरी ओर, देहातों में इसकी कोई भी व्यवस्था नहीं। अशिक्षा के कारण हमारे समाज में खेल के लिये मैदान की आवश्यकता नहीं समझी जाती। फिर भी, वातावरण के अनुकूल सुविधानुसार बच्चे खेलते ही हैं। अतः, यह वातावरण पर निर्भर करता है कि वे किस प्रकार के खेल खेल सकते हैं।

बच्चों के खेल पर ऋतुओं (seasons) का भी प्रभाव पड़ता है। प्रायः बच्चे जाड़े की ऋतु में अधिक सक्रिय (active) दीख पड़ते हैं और अधिक देर तक खेलते रहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में गर्मी के कारण वे अधिक देर तक नहीं खेल सकते तथा संध्या समय ही खेल में भाग ले सकते हैं। वर्षा ऋतु में भारतीय बच्चों के लिये मानसूनी बारिश काफी मनोरंजक होती है। वर्षा के समय बूँदों के साथ खेलना तथा जल के साथ उछल-कूद करना और इसके समाप्त होने पर इन्द्र-धनुष (Rain-bow) की मनोहारी छटा देखकर आनन्दित होना आदि बाल्यावस्था के विशेष प्रकार के खेल हैं।

हमारे समाज में मजदूरों के बच्चों को बाल्यावस्था से ही कार्य करना पड़ता है और उन्हें खेलने का अवकाश कम मिलता है। अतः, वे समय निकाल कर उस सिलसिले में खेल की व्यवस्था कर लेते हैं। लेकिन, जिस परिवार की आर्थिक अवस्था अच्छी रहती है, वहाँ उन्हें कोई विशेष कार्य का भार नहीं रहता और खेलने का यथेष्ट अवसर प्राप्त होता है।

हरलॉक (Hurlock) के मतानुसार निर्धन वातावरण (poor environment) की अपेक्षा उत्तम वातावरण के बच्चे अधिक खेलते हैं। आंशिक रूप से स्वास्थ्य में अंतर (difference) होने के कारण भी ऐसा हो सकता है; लेकिन अधिकांशतः आर्थिक दृष्टिकोण से उत्तम वातावरण के बच्चों की अपेक्षा निर्धन वातावरण के बच्चों को स्थान, समय तथा खिलौने आदि साधनों का अधिक अभाव रहता है। क्रेमर (Cramer, 1950) का भी मत है कि धनी परिवार के बच्चे नृत्य, संगीत तथा नाटक आदि सांस्कृतिक क्रियाओं और संगठित खेलों में निर्धन परिवार के बच्चों की अपेक्षा अधिक संलग्न रहते हैं।

—०—

अध्याय १४

व्यक्तित्व-विकास

(PERSONALITY DEVELOPMENT)

१. व्यक्तित्व का स्वरूप

व्यक्ति के सभी पहलुओं के विकासात्मक अध्ययन में व्यक्तित्व-विकास का अध्ययन सबसे अधिक कठिन है। मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया है। यह अध्ययन इतने बृहद् रूप से किया गया है कि इसका एक समृद्ध साहित्य ही बन गया है। मनोविज्ञान में व्यक्तित्व-विकास का अध्ययन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

मनोवैज्ञानिक जब 'व्यक्तित्व' शब्द का प्रयोग करते हैं, तब उससे यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व व्यक्ति की सभी विशेषताओं की समन्वयित क्रिया का प्रतिरूप है। वे व्यक्ति की किसी भी विशेषता (characteristics) की उपेक्षा नहीं करते, जो उसे वातावरण के साथ अभियोजन करने में सहायक होती है। व्यक्ति की ऐसी सभी विशेषतायें उसके व्यक्तित्व-विकास के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। अतः, व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक

तथा चारित्रिक आदि विशेषताओं का समुचित अध्ययन उसके व्यक्तित्व को समझने के लिये आवश्यक हो जाता है।

व्यक्तित्व की परिभाषा अनेक मनोवैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न ढंग से की है। किंतु उनमें मतैक्य नहीं पाया जाता। अतः, इस उलझन में न पड़कर इस पद (term) के अर्थ को समझने की चेष्टा ही उत्तम है। इसकी व्याख्या से यह स्पष्ट हो जायगा कि व्यक्तित्व का स्वरूप क्या है और उसका विकास किन-किन तत्त्वों (factors) पर निर्भर करता है। वस्तुतः व्यक्तित्व को हम व्यक्ति की बौद्धिक, सांवेगिक तथा क्रियात्मक आदि सभी प्रकार की विशेषताओं के विशिष्ट संगठन (characteristic organization) के रूप में मानते हैं। हर व्यक्ति के चिंतन तथा कार्य करने की अपनी विशिष्ट शैली होती है, जिसके कारण वह अन्य व्यक्तियों से भिन्नता रखता है। व्यक्ति की इन विशेषताओं का विकास उसकी आनुवंशिकता (Heredily) तथा वातावरण (Environment) पर निर्भर करता है। अतः प्राणी तथा वातावरण दोनों की पारस्परिक क्रिया (interaction) के फलस्वरूप ही व्यक्तित्व का उद्गमन होता है।

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को हम उसके व्यवहार के द्वारा ही जान सकते हैं; क्योंकि उसके विचारों तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति व्यवहार के माध्यम से होती है। लेकिन, केवल व्यक्ति के व्यवहारों को जानने से हम उसके व्यक्तित्व को नहीं समझ सकते। समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों का व्यवहार एक-सा नहीं होता, बल्कि व्यवहार प्रकट करने का उनका अपना-अपना ढंग होता है। इसी विशिष्ट व्यवहार को मनोवैज्ञानिकों ने विशेषक (trait) के रूप में माना है, जो प्रायः व्यक्ति में स्थायी रूप में (consistently पाया जाता है। उदाहरण के लिये ईमानदारी, दृढ़ता, सांवेगिक अस्थिरता, खिन्नता, उदारता तथा साहस इत्यादि। लेकिन, परिस्थिति में परिवर्तन के साथ-साथ इन प्रतिक्रियाओं में भी परिवर्तन पाया जाता है। व्यक्तित्व को समझने के लिये इन विशेषकों (traits) का वैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व के बारे में बड़े ही सरल ढंग से बतलाया है—"व्यक्ति जो कुछ है, वही उसका व्यक्तित्व है।"[1].

1. Psychology for Life—Ruja.

हारवार्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ऑलपोर्ट (G. W. Allport) ने व्यक्तित्व की बहुत ही उत्तम परिभाषा की, है जो काफी संतोषप्रद मालूम पड़ती है। उनके मतानुसार—

"व्यक्तित्व उन मनोदैहिक विशेषताओं का गत्यात्मक संगठन है, जो वातावरण के साथ उनके अपूर्व अभियोजन को निर्धारित करता है।" ×

ऑलपोर्ट ने इस परिभाषा में व्यक्ति की शारीरिक तथा मानसिक विशेषताओं के साथ-साथ उनके गत्यात्मक संगठन और फिर उनके कारण वातावरण के साथ अपूर्व अभियोजन की क्षमता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कोई व्यक्ति इन्हीं विशेषताओं के गत्यात्मक संगठन के कारण वातावरण के साथ विशिष्ट रूप से अभियोजन करने की शैली विकसित कर लेता है। इतना निश्चित है कि व्यक्तित्व व्यक्ति की कोई एक विशेषता नहीं, बल्कि वह किस प्रकार चिंतन करता है, अनुभव करता है तथा उन्हें व्यवहार के द्वारा व्यक्त करता है आदि सभी व्यक्तित्व के अंदर आ जाते हैं। किसी भी व्यक्ति में ऐसी अनेकों विशेषतायें रहती हैं और इनके गत्यात्मक संगठन को ही 'व्यक्तित्व' कहा गया है। इस प्रकार, व्यक्तित्व का अध्ययन कई दृष्टिकोण से हमलोगों के लिये महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा हम मानव-स्वभाव (Human Nature) को अच्छी तरह समझने में समर्थ होते हैं; क्योंकि व्यक्तित्व किसी भी व्यक्ति की पूर्ण व्याख्या के रूप में माना जा सकता है।

२. व्यक्तित्व-विकास का आरम्भ

जन्म के समय व्यक्ति केवल एक जैविकीय प्राणी (Biological organism) रहता है और इसके बाद ही वह समाज के सम्पर्क में सामाजिक बनता है। नवजात शिशु में केवल कुछ प्रतिक्षेप क्रियायें (Reflexes), सहज प्रवृत्तियाँ तथा क्षमतायें आदि वर्तमान रहती हैं। वातावरण के सम्पर्क में उसे नये-नये अनुभव प्राप्त होते हैं। फलत: उसके व्यवहार में काफी परिवर्तन

"+ Personality is the dynamic organization within the individual of those psychophysical systems that determine his unique adjustment to his environment."—Gordon W. Alloport.

श्रा जाता है। किसी बच्चे का व्यक्तित्व किसी खास रूप में क्यों विकसित होता है—इसे समझने के लिये उसकी आनुवंशिकता तथा समाज के सम्पर्क में होनेवाले अनुभवों को भी जानना अत्यन्त आवश्यक है। बच्चों का व्यक्तित्व परिपक्वीकरण तथा शिक्षण—दोनों पर निर्भर करता है। नवजात शिशु के रूप में न वह बोल सकता है, न चल-फिर सकता है और न सामाजिक व्यवहार ही प्रदर्शित करने में समर्थ हो सकता है। बाद में मानव-समाज में, उसका समाजीकरण (socialization) होता है, जिसके फलस्वरूप उसमें विभिन्न प्रकार की विशेषतायें विकसित हो जाती है।

बच्चों में संतोष तथा असंतोष का अनुभव अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क पर ही निर्भर करता है। अतः, उनकी मनोवृत्तियों का विकास इन्हीं परिस्थितियों में होता है। उनका अन्य व्यक्तियों से अपने को हीन (Inferior) या श्रेष्ठ (superior) समझना अथवा उग्र (aggressive) या अधीनतापूर्ण हो जाना अथवा आत्मकेंद्रित होना या अन्य व्यक्तियों में रुचि रखना आदि उन्हीं अनुभूतियों पर निर्भर करते हैं, जो समाज में अन्य व्यक्तियों के प्रति होते हैं।

प्रारम्भ से ही बच्चे के व्यवहार में कुछ विशेषतायें देखी जाती हैं। कुछ बच्चे सामाजिक होते हैं, जो अन्य बच्चों से मिलकर खेलते हैं, खुश होते हैं तथा सहयोग का भाव दिखाते हैं। लेकिन, कुछ बच्चे बिल्कुल शांत और सुस्त रहते हैं। इस तरह, दोनों के व्यक्तित्व में आरम्भ से ही अंतर दिखाई पड़ने लगता है। समाजीकरण के फलस्वरूप उनमें नई-नई विशेषतायें विकसित होती हैं। व्यक्तित्व के कुछ विशेषक (traits) लगभग ३ महीने की आयु में ही प्रकट हो जाते हैं और प्रायः बच्चों के व्यवहार में देखे जाते हैं। इन विशेषकों को परिवर्तित वातावरण भी प्रभावित करता है, जिसके परिणाम-स्वरूप उनमें संभवतः कुछ परिमाण में परिमार्जन संभव हो जाता है। व्यक्तित्व के विकास में जीवन के प्रथम ५ वर्षों का काफी महत्त्व है; क्योंकि इस अवधि में प्रायः मुख्य विशेषकों (traits) का संस्थापन हो जाता है।

३. व्यक्तित्व-विकास को प्रभावित करने वाले तत्त्व

हमें यह ज्ञात है कि व्यक्तित्व का विकास व्यक्ति की आनुवंशिकता (Heredity) तथा उसके वातावरण (Environment)—दोनों पर निर्भर

करता है। वस्तुतः व्यक्तित्व का उद्‌गम प्राणी और वातावरण की पारस्परिक क्रिया के फलस्वरूप ही होता है। अतः, यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति की योग्यता, क्षमता, उपलब्धि तथा चारित्रिक विशेषता आदि आनुवंशिकता तथा वातावरण के ही प्रतिफल है। व्यक्ति की कुछ विशेषतायें आनुवंशिक रूप से प्राप्त होती हैं और कुछ वातावरण के प्रभाव के फलस्वरूप विकसित होती है। शारीरिक बनावट, रंग-रूप, बुद्धि तथा स्वभाव आदि आनुवंशिक विशेषतायें है और व्यक्तित्व-विकास के क्रम में इन पर वातावरण का अपेक्षाकृत कम प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति की वे सभी विशेषतायें जो शिक्षण तथा प्रशिक्षण के फलस्वरूप प्राप्त नहीं होतीं, आनुवंशिक कही जाती हैं। व्यक्तित्व-विकास में वातावरण का प्रभाव कम नहीं पड़ता। पारिवारिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक वातावरण व्यक्तित्व को अत्यधिक प्रभावित करते है, जिनके फलस्वरूप अर्जित विशेषतायें देखी जाती हैं। आनुवंशिक तत्त्व को जैविकीय तत्त्व (Biological factor) भी कहा जाता है और सामाजिक आर्थिक (Socio-economic) तथा सांस्कृतिक (Cultural) तत्त्वों को वातावरण-संबंधी तत्त्व के अंतर्गत माना जाता है। जैविकीय तत्त्व व्यक्तित्व-विकास की सीमा निर्धारित करता है, जिससे अधिक वातावरण व्यक्ति को प्रभावित नहीं कर सकता। अब हम यहाँ इस पर विचार करेंगे कि आनुवंशिकता और वातावरण किस प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास को प्रभावित करते हैं।

४. आनुवंशिक प्रभाव

१. शारीरिक बनावट तथा स्वास्थ्य

व्यक्ति की शारीरिक विशेषताओं में शारीरिक बनावट, ऊँचाई, वजन तथा रंग-रूप आदि उल्लेखनीय हैं। सामान्य ऊँचाई के बच्चों का विकास उचित रूप से होता है। जिन बच्चों की ऊँचाई कम होती है, वे अपने में कमी का अनुभव करते है और इसके फलस्वरूप हीनभाव (feeling of inferiority) विकसित कर लेते है। इसी प्रकार शारीरिक बनावट में किसी प्रकार के दोष (defect) के कारण भी बच्चों का व्यक्तित्व-विकास सामान्य रूप में नहीं हो पाता। अल्फ्रेड एडलर (Alfred Adler) ने स्पष्ट रूप से बतलाया है कि किसी प्रकार का शारीरिक दोष ही सर्वप्रथम हीन भाव का कारण होता है। इस हीन भाव के विकसित होने के फलस्वरूप

बच्चों का मनोवैज्ञानिक विकास समुचित रूप से नहीं हो पाता। बच्चे इस पक्ष की कमी की पूर्ति करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रयास में संतुलित ढंग से कमी की पूर्ति नहीं हो पाती। इसकी अभिव्यक्ति उनके व्यवहार के रूप में होती है। उनमें से कुछ बच्चों का व्यवहार सामाजिक ढंग से तथा अन्य बच्चों का गैरसामाजिक ढंग से होता है। अतः, शारीरिक बनावट के दोष तथा असामान्य ऊँचाई का प्रभाव बच्चों के शारीरिक तथा मानसिक—दोनों पहलुओं के विकास पर महत्त्वपूर्ण ढंग से पड़ता है। रंग-रूप भी व्यक्तित्व-विकास को कम प्रभावित नहीं करता। आकर्षक चेहरा तथा उत्तम रंग व्यक्तित्व की विशेषतायें मानी जाती हैं। इसके विपरीत कुरूप बच्चे को सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं होती और वे हीन भाव से ग्रस्त रहते हैं। सम्भवतः शारीरिक पक्ष की इस कमी की पूर्ति बच्चे मानसिक पक्ष की उन्नति के द्वारा करने की चेष्टा करते हैं, ताकि व्यक्तित्व-विकास में एक पक्ष की कमी की पूर्ति दूसरे पक्ष में करके संतुलन कायम हो सके।

शारीरिक दोष के कारण तो अंग-विशेष का विकास नहीं हो पाता और साथ-साथ खेलने तथा सामाजिक संबंध का भी लाभ उठाने से बच्चे वंचित रह जाते हैं। मुँह में किसी प्रकार के दोष के कारण उनका वाणी-विकास सामान्य रूप में नहीं हो सकता। तुतलाने तथा हकलाने के फलस्वरूप वे सबों से अपने भावों तथा विचारों को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाते हैं और आलोचना के कारण वे हतोत्साह भी होते दिखाई पड़ते हैं। फलतः वे सामाजिक वातावरण से विमुख हो जाते हैं।

स्वस्थ बच्चे अधिक प्रसन्न और सक्रिय देखे जाते हैं। उनका शारीरिक विकास उत्तम ढंग से होता है और वे हीन भाव से मुक्त रहते हैं। व्यक्तित्व-विकास पर स्वास्थ्य का प्रभाव काफी महत्त्वपूर्ण ढंग से पड़ता है। स्वस्थ रहने के कारण अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में वे अधिक सुविधाजनक ढंग से आते हैं, जिससे उनका सामाजिक विकास उचित रूप में हो पाता है तथा व्यक्तिगत रूप से वे अधिक लाभान्वित होते हैं। लेकिन, अस्वस्थ तथा पीड़ित बच्चे सामान्यतः विकास-क्रम में पीछे पड़ जाते हैं। अस्वस्थता के कारण उनके शारीरिक विकास में तो अवरोध पैदा हो ही जाता है, साथ-साथ सांवेगिक जीवन भी असंतुलित रूप से विकसित होता है। इससे उनका व्यक्तित्व-विकास बहुत अधिक प्रभावित होता है।

२. स्नायु-मंडल (Nervous System)

स्नायु-मंडल की उचित क्रिया तथा रक्त-संचालन के द्वारा ही व्यक्ति समन्वित ढंग से प्रतिक्रिया प्रकट करने में समर्थ हो पाता है। स्नायु-मंडल की क्रिया में किसी प्रकार के दोष के कारण सामान्य शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं में बाधा उपस्थित हो जाती है। बतलाया जाता है कि हमारे मस्तिष्क (Brain) के किसी भाग में किसी प्रकार की क्षति हो जाने के फलस्वरूप व्यक्तित्व पर उसका काफी प्रभाव पड़ता है। इस क्षति (distruction) के कारण हमारी मानसिक क्रियाओं में बहुत अधिक परिवर्तन हो जाते हैं। मस्तिष्क में किसी प्रकार की क्षति का प्रभाव सीमित रूप से नहीं पड़ता, बल्कि सम्पूर्ण केन्द्रीय स्नायु-मंडल और उससे संबंधित अन्यान्य स्नायु-क्रियायें भी प्रभावित होती हैं। शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ, ग्राहक (Receptor) तथा प्रभावक (Effector) आदि सभी आपस में एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं तथा एक की क्रिया दूसरे पर निर्भर करती है। अतः, हमारी हर प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक क्रियायें स्नायु-मंडल की उचित क्रिया पर ही आधारित है। इतना ही नहीं, बल्कि वातावरण में वर्तमान वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति भी हमारा सम्पर्क इसी पर निर्भर रहता है। हम अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों तथा परिस्थितियों (situations) के प्रति किस प्रकार प्रतिक्रिया करते हैं तथा किस प्रकार उनके साथ अभियोजन (adjustment) करते हैं, आदि हमारी इसी यांत्रिक पक्ष की क्रिया पर निर्भर करता है। हमारा शिक्षण-प्रशिक्षण, भाषा-विकास, संवेगात्मक अभिव्यक्ति, चिंतन तथा अन्यान्य क्रियायें सभी स्नायु-मंडल से संबंधित हैं। हमारी योग्यता, क्षमता तथा उपलब्धि (attainment) भी इसकी व्यवस्थित क्रिया पर निर्भर करती है। अगर स्नायु-मंडल की क्रिया में कोई बाधा उपस्थित हो जाती है, तो शारीरिक और मानसिक विकास के अतिरिक्त व्यक्ति के समुचित अभियोजन में भी अव्यवस्था आ जाती है। स्नायु-मंडल की क्रिया इतनी शीघ्रता से होती है कि स्नायुविक आवेग शरीर के एक भाग से दूसरे भाग में तत्क्षण ही पहुंच जाता है और प्राणी समग्र रूप से क्रियाशील हो उठता है।

अतः, यह निश्चित है कि व्यक्तित्व के सर्वांगीन विकास के लिये स्नायु-मंडल की सामान्य क्रिया अत्यन्त आवश्यक और महत्वपूर्ण है। अगर स्नायु-मंडल की रचना तथा क्रिया में कोई दोष (defect) नहीं हो, तो व्यक्तित्व का विकास सामान्य रूप में होगा। लेकिन, उसमें किसी प्रकार की क्षति, दोष या बीमारी के

फलस्वरूप व्यक्तित्व-विकास में असामान्यता (abnormality) देखी जाती है।

३. अन्तःस्रावी पिंड (Endocrine Glands)

अन्तःस्रावी पिंड भी व्यक्तित्व-विकास को काफी प्रभावित करता है। व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा सांवेगिक पक्षों के विकास पर इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। शरीर में कई स्रावी पिंड हैं, जो विभिन्न भागों में स्थित हैं। इनसे एक प्रकार का तरल रासायनिक पदार्थ निकलता है, जिसे हॉरमन (Hormones) कहते हैं। यह हॉरमन सीधे रक्त में मिलकर व्यक्ति को प्रभावित करता है। भिन्न-भिन्न पिंडों से निकले हुए हॉरमन का प्रभाव समान नहीं होता। फिर भी, ऐसे भी पिंड हैं जिनकी सक्रियता से दूसरे पिंड सक्रिय हो जाते हैं और प्रभावित होते हैं। यहाँ पर हम कुछ प्रमुख पिंडों की क्रिया और उसके प्रभाव का उल्लेख करेंगे।

(क) पिट्युरी पिंड (Pituitary Gland)- शारीरिक विकास पर इस पिंड का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त, यह पिंड यौन-पिंड को भी सक्रिय बनाता है तथा प्रभावित करता है। अगर पिट्युरी पिंड अधिक सक्रिय हो जाता है, तो व्यक्ति का शारीरिक विकास असामान्य रूप से अधिक हो जाता है। उसका दैत्याकार शरीर सामान्य व्यक्तित्व के लिये ठीक नहीं होता। इसका प्रभाव मानसिक पक्ष पर भी पड़ता है। व्यक्ति का व्यवहार उग्र (aggressive) हो जाता है और अन्य व्यक्तियों के साथ अभियोजन में उन्हें कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसके विपरीत, अल्प सक्रियता के कारण शारीरिक विकास कुंठित या अवरुद्ध हो जाता है। हड्डियाँ, मांसपेशियाँ तथा ऊंचाई आदि सामान्य रूप में विकसित नहीं हो पातीं। व्यक्ति की जननेन्द्रिय (sex organ) भी अविकसित रह जाती है। इससे मानसिक पक्ष भी प्रभावित होता है। व्यक्ति भीरु (coward) तथा संकोची बन जाता है। उसमें पुरुषोचित साहस, उग्रता तथा सक्रियता की कमी देखी जाती है। इस तरह हम देखते हैं कि पिट्युरी पिंड व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास को काफी महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करता है।

(ख) थाइरोवाइड पिंड (Thyroid gland)—यह पिंड कंठ में स्थित है। इस पिंड की क्रिया का प्रभाव व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक

विकास पर पड़ता है। इसमें आयोडिन (Iodine) निकलता है, जो बच्चों के विकास के लिये आवश्यक है। शरीर से अनुपयोगी पदार्थों को बाहर निकालने में यह सहायक होता है। अगर यह पिंड अधिक सक्रिय (over active) होता है, तो व्यक्ति के शरीर के अंदर काफी परिवर्तन होने लगता है। शारीरिक तंतु अत्यधिक उत्तेजित हो जाते हैं तथा मांसपेशियों में तनाव बढ़ जाता है। व्यक्ति उत्तेजित, बेचैन तथा चिन्तित दीख पड़ता है। थाइरॉयाइड पिंड की अल्प-सक्रियता के कारण शारीरिक परिवर्तन मंद हो जाता है तथा व्यक्ति सुस्त और उदास दीख पड़ता है। वह शीघ्र थकावट महसूस करने लगता है तथा खिन्नता का अनुभव करता है।

(ग) पाराथाइरॉयाइड पिंड (Parathyroid gland)—यह पिंड थाइरॉयाइड पिंड से सम्बद्ध कंठ में ही स्थित है। थाइरॉयाइड पिंड की क्रिया का संतुलन (balance) इसकी क्रिया के द्वारा होता है। जब पाराथाइरॉयाइड पिंड अधिक सक्रिय होता है, तो व्यक्ति शांत दीख पड़ता है। इस पिंड से कैलसियम निकलता है, जो शारीरिक विकास तथा क्रिया के लिये काफी उपयोगी है। अधिक सक्रियता के कारण कैलसियम का संतुलित प्रभाव नहीं रह पाता। अल्प सक्रियता के फलस्वरूप व्यक्ति अत्यधिक सक्रिय दीखता है।

(घ) एड्रिनल पिंड (Adrenal glands)—एड्रिनल पिंडों से एड्रनलिन (adrenalin) तथा कॉर्टिन (cortin) नामक दो प्रकार के हॉरमन निकलते है। ये हॉरमन रक्त-प्रवाह में मिलकर व्यक्ति के संवेगों में होने वाले शारीरिक परिवर्तनों को प्रभावित करते है। कॉर्टिन में कई प्रकार के रासायनिक पदार्थों का सम्मिश्रण रहता है और वह विभिन्न शारीरिक क्रियाओं पर प्रभाव डालता है। कार्टिन के अभाव में रक्त का निर्जलीकरण हो जाता है।

(ङ) यौन-पिंड (Gonadal Gland)—यौन-पिंड की सक्रियता के फलस्वरूप व्यक्ति में परवर्ती यौन विशेषतायें (secondary sex characteristics) प्रकट होती हैं। यौन-पिंड से जो रासायनिक पदार्थ निकलता है, उसे यौन-हॉरमन (Sex Hormones) कहते है। इस यौन-हॉरमन के प्रभाव के फलस्वरूप ही व्यक्ति में पुरुषत्व या नारीत्व का विकास संभव होता है। इसके अभाव में पुरुषोचित तथा स्त्रीयोचित विशेषताओं का विकास संभव नहीं होता। अगर यौन-पिंड की सक्रियता में कमी रहती है, तो यौन-विकास सामान्य रूप में नहीं हो पाता और इसकी अत्यधिक सक्रियता के

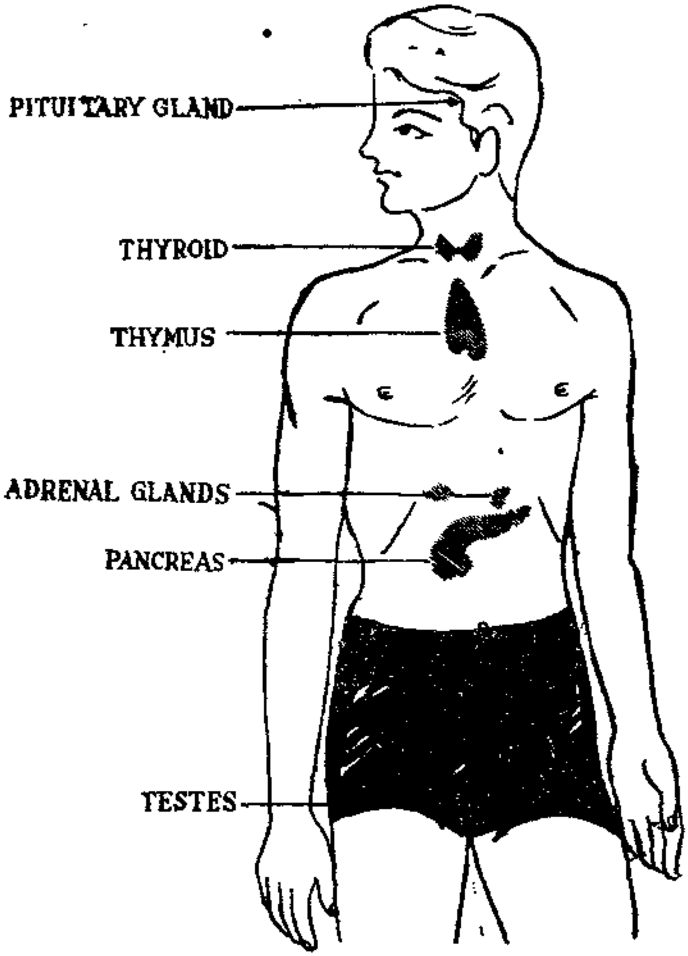

पुरुष में अन्तःस्रावी पिंड

फलस्वरूप यौन-विकास उपयुक्त समय से पहले ही हो जाता है तथा यौन-जीवन (sex life) संतुलित नहीं रह पाता। इन पिंड का प्रभाव शारीरिक, मानसिक तथा सांवेगिक पक्षों पर पड़ता है। किशोरावस्था में होने वाले शारीरिक परिवर्तन जैसे ; मूँछ-दाढ़ी का निकलना, ऊंचाई में वृद्धि होना तथा जननेन्द्रिय का बढ़ना इत्यादि लड़कों में, और वक्षःस्थल का उभरना, रजस्वला होना तथा सुपुष्ट रूप में शरीर का विकसित होना आदि लड़कियों में बिल्कुल स्पष्ट हो जाते हैं। मनोवैज्ञानिक पक्ष में भी कम परिवर्तन नहीं होता। यौन-आकर्षण तथा यौन-रुचि स्वाभाविक रूप से बढ़ जाती है। व्यक्ति अपने बारे में अधिक विश्लेषण करने लगते हैं कि उनकी शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक उपलब्धियाँ (attainments) सामाजिक मान्यता के अनुकूल कहाँ तक हो पायी हैं। वे सामाजिक आलोचनाओं के प्रति अत्यन्त संवेदनशील हो जाते हैं।

अंत में यह कहा जा सकता है कि इन अंतःस्रावी पिंडों का प्रभाव व्यक्तित्व पर सीधे नहीं पड़ता; बल्कि इनके प्रभाव के फलस्वरूप होने वाले शारीरिक, मानसिक तथा सांवेगिक परिवर्तनों के कारण व्यक्ति के अनुभवों और व्यवहारों में अधिकाधिक जटिलता आ जाती है, जिससे उनका व्यक्तित्व-विकास अत्यधिक प्रभावित होता है।

४. बुद्धि (Intelligence)

व्यक्तित्व-विकास में बुद्धि का प्रभाव काफी महत्त्वपूर्ण ढंग से पड़ता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से स्पष्ट है कि तीव्र बुद्धि के बच्चों का शारीरिक तथा मानसिक विकास तीव्र गति से होता है, लेकिन, अल्प बुद्धि के बच्चों का विकास सामान्य रूप में नहीं हो पाता। यह व्यक्ति की आनुवंशिक विशेषता है, जिसमें वातावरण के कारण कम परिवर्तन हो पाता है और व्यक्ति की एक अनुपम विशेषता मानी जाती है। इसी विशेषता के द्वारा व्यक्ति की योग्यता जानी जाती है कि नवीन एवं जटिल परिस्थितियों में वह कितनी सफलता के साथ अभियोजन कर सकता है। बुद्धि जीवन में प्रगति लाती तथा उपलब्धि में अत्यधिक सहायक होती है। शिक्षण-प्रशिक्षण, अभियोजन तथा समस्या-समाधान में सूझ (insight) की बहुत आवश्यकता होती है। मेधावी (talented) व्यक्ति अन्वेषण तथा शोध का श्रेय लेते हैं। व्यक्तित्व के लिये बुद्धि अथवा मेधा (talent) वरदान के रूप में मान्य है। इसके कारण व्यक्ति का व्यक्तिगत तथा सामाजिक सम्बन्ध और उसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त

संतुलित तथा आकर्षक ढंग से होती है। जीवन में सभी प्रकार की उपलब्धियाँ बुद्धि के द्वारा काफी सुलभता से सम्भव हो जाती है।

गाल्टन, गोडार्ड तथा *डुग्डेल* आदि के अध्ययन से यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रतिभा (Genius) तथा मानसिक दुर्बलता (Mental Deficiency) आनुवंशिक होती है, जो एक परम्परा से दूसरी परम्परा (generation) में जाती रहती है। व्यक्तित्व-विकास में आनुवंशिक तत्त्व (Hereditory factor) सीमा निर्धारित करता है। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति मानसिक दुर्बलता आनुवंशिक रूप से प्राप्त कर चुका है, उसका व्यक्तित्व-विकास सामान्य रूप में सम्भवतः नहीं हो सकता। इसके विपरीत तीव्र बुद्धि या प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति का व्यक्तित्व-विकास सामान्य व्यक्तियों से भी अधिक उत्तम रूप में हो सकता है अगर उन्हें उचित नियंत्रण तथा निर्देशन प्राप्त हो। सामाजिक सम्बन्ध की सफलता और व्यक्तिगत जीवन की उन्नति के लिये बुद्धि का बहुत अधिक महत्त्व है।

५. वातावरण का प्रभाव

१. पारिवारिक वातावरण

बच्चों का सर्वप्रथम सामाजिक सम्पर्क अपने माँ-बाप या परिवार के अन्य सदस्यों से होता है। बच्चे को इसी पारिवारिक वातावरण में प्रारम्भिक अनुभव तथा ज्ञान होता है, वहाँ उन्हें विभिन्न प्रकार की उत्तेजनायें मिलती है। कहा जाता है कि परिवार ही जीवन में सीखने का सबसे प्रथम शिक्षालय (institution) है। बच्चों की तरह-तरह की शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें रहती हैं, जिनकी पूर्ति उनके संतोष एवं आनन्द के लिये आवश्यक होती है। अतः, बच्चों के प्रति माँ-बाप की मनोवृत्ति का प्रभाव उनके सांवेगिक, मानसिक तथा सामाजिक जीवन पर पड़ता है। अगर माँ-बाप का व्यवहार बच्चों के प्रति आनन्ददायक तथा संतोषप्रद होता है, तो उनका सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विकास संतुलित होता है। इसके अभाव में वे असुरक्षित तथा असंतुष्ट दीख पड़ते है और मानसिक संतुलन नहीं रख पाते। अत्यधिक प्यार भी बच्चों के सामान्य व्यक्तित्व-विकास के लिये उत्तम नहीं होता। माँ-बाप के अनुकूल मनोवृत्ति (attitude) के फलस्वरूप बच्चों के जीवन में संतोष, विश्वास आदर-भाव तथा सहयोग की भावना आती है। ठीक इसका उल्टा प्रभाव उनके

जीवन में तब पड़ता है, जब कि माँ-बाप का व्यवहार उनके प्रति असामान्य रहता है। इससे संतुलित व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं हो पाता।

अल्फ्रेड एडलर (Alfred Adler) ने परिवार में बच्चों के जन्म-क्रम (Birth order) को व्यक्तित्व-विकास के सिलसिले में काफी महत्त्वपूर्ण माना है। उनके मतानुसार परिवार के दो बच्चों को कभी भी समान वातावरण नहीं मिलता। प्रथम, अंतिम तथा दोनों के बीच के बच्चों की स्थिति जन्म-क्रम में समान नहीं रहती और न उन्हें परिवार में समान रूप से पारिवारिक वातावरण प्राप्त हो सकता है। इस भिन्नता के कारण उनकी जीवन-शैली (style of life) भिन्न-भिन्न रूप में विकसित होती है। कहा जा सकता है कि उनका व्यक्तित्व-विकास भी समान ढंग से नहीं होता। एडलर ने बतलाया है कि परिवार में सबसे बड़ा बच्चा ईर्ष्यालु होता है तथा आदर चाहता है। वह अन्य बच्चों पर अपना आधिपत्य रखना चाहता है। सबसे छोटा बच्चा अत्यधिक प्यार और सुरक्षा की आकांक्षा करता है तथा दूसरों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है। वह हमेशा सहानुभूति तथा सहयोग चाहता है। प्रथम और अंतिम के बीच के बच्चों की स्थिति भिन्न होती है। इन्हें बड़े और छोटे बच्चों की तरह हर प्रकार की सुविधायें तथा प्यार प्राप्त नहीं होते। अतः ये हीन भाव (feeling of inferiority) से ग्रस्त हो जाते हैं। इनमें हीन भाव का प्रमुख कारण यह होता है कि ये अपने में बड़े बच्चों की अपेक्षा ऊँचाई तथा ताकत में कमी महसूस करते हैं। फलतः इस कमी की पूर्ति (compensation) के लिए ये उग्र (aggressive) हो जाते हैं तथा परिवार में मा-बाप का विरोध भी करते हैं। ये बच्चे प्रायः महत्वाकांक्षी होते हैं।

२. शिक्षालय

परिवार के बाद शिक्षालय दूसरी सामाजिक संस्था है, जिसका प्रभाव व्यक्तित्व-विकास पर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रूप से पड़ता है। इस वातावरण में बच्चों का संपर्क साथियों तथा अध्यापकों से होता है। अपने साथियों तथा अध्यापकों के साथ इनकी कैसी प्रतिक्रिया होती है तथा उन लोगों का व्यवहार इनके प्रति किस प्रकार का होता है, आदि बच्चों के सामाजिक अनुभव को प्रभावित करते हैं, जिनके फलस्वरूप उसी के अनुकूल इनका व्यक्तित्व-विकास संभव होता है। साथियों के बीच वह नेता भी बन सकता है और कभी उनके द्वारा बेवकूफ तथा अयोग्य भी सिद्ध हो सकता है। ऐसी स्थिति में शिक्षालय का वातावरण उन्हें अपने बारे में

मन स्थापित करने को लाचार कर देता है। अगर साथियों के बीच कोई बच्चा हमेशा आलोचना का पात्र बन जाता है, तो उसका सामाजिक अनुभव स्वस्थ नहीं हो पाता और प्रतिकूल दिशा में प्रतिक्रिया होती है।

आधुनिक शिक्षा-पद्धति में मनोवैज्ञानिकों की सबसे अधिक देन (contribution) है। बच्चों की शिक्षा-दीक्षा मनोवैज्ञानिक ढंग से ही दी जाती है तथा उनके सांवेगिक और सामाजिक विकास के लिये मनोवैज्ञानिक वातावरण की भी सुविधा देने की व्यवस्था होती है। इसके लिये उनकी रुचि के अनुकूल खेलने की समुचित व्यवस्था रहती है और मनोरंजन के लिये पर्याप्त अवकाश भी दिया जाता है। बच्चों के बौद्धिक विकास के लिये उन्नत वातावरण की सुविधाएँ दी जाती है तथा योग्यतानुसार उनका वर्गीकरण कर शिक्षण-व्यवस्था की जाती है। इससे उनका व्यक्तित्व-विकास काफी प्रभावित होता है।

बच्चों का व्यक्तित्व शिक्षकों की योग्यता तथा चरित्र से कम प्रभावित नहीं होता। शिक्षक की विशेषताओं को बच्चे अपनाते है और उनके द्वारा दिये गये प्रशिक्षण के अनुकूल ही योग्यता प्राप्त करते है। अगर शिक्षक का सांवेगिक तथा सामाजिक जीवन संतुलित होता है, तो बच्चों के प्रति उनकी मनोवृत्ति भी स्वस्थ रहती है और दोनों के बीच एक अनुकूल मनोवैज्ञानिक संबंध रह पाता है जो बच्चों के व्यक्तित्व-विकास के लिये लाभदायक होता है। लेकिन, यह कहना कठिन है कि सभी शिक्षकों का जीवन संतुष्ट तथा संतुलित रहता है। संभव है कि वे अत्यधिक उग्र (over aggressive), चिड़चिड़े, असंतुलित हों, तो इनका प्रत्यक्ष प्रभाव बच्चों के सामाजिक जीवन पर पड़ता है। ऐसे शिक्षकों का संबंध बच्चों के साथ उत्तम नहीं रहता और बच्चों का स्वस्थ मानसिक तथा सामाजिक विकास भी नहीं हो पाता। किसी प्रकार की असंतुष्टि या असफलता के कारण अगर उसकी अभिव्यक्ति वे बच्चों को दंड देने के रूप में करें, तो इसका असर भी बच्चों के व्यक्तित्व-विकास पर पड़ता है। दंड के द्वारा शिक्षक बच्चों को अधिक सफलता से नहीं सिखा सकते, बल्कि बच्चों के साथ वे अप्रिय संबंध स्थापित कर लेते हैं। फलतः बच्चे अध्यापक से घृणा करने लगते हैं। इस अप्रिय अनुभूति का दमन (repression) हो जाता है, जो उचित व्यक्तित्व-विकास के लिये उत्तम नहीं होता।

३. खेल के मैदान और साथी

खेलना बच्चों की स्वाभाविक क्रिया है। वे खेलना चाहते है और खेलने में प्रसन्नता तथा स्वतंत्रता का अनुभव करते हैं। घर के वातावरण में वे स्वतंत्रता

का अनुभव नहीं करते; क्योंकि उनपर वयस्कों का शासन रहता है। अतः, खेल के मैदान में वे मुक्त होकर खेलते है। वहाँ उन्हें किसी की सहायता नहीं चाहिये, बल्कि सहयोग देकर खेलने में वे अधिक रुचि दिखाते हैं। खेल के मैदान में समस्याओं का समाधान वे स्वतः करते हैं। वहाँ वयस्कों की मदद अपेक्षित नहीं होती। बच्चे घर के बंधन से मुक्त होना चाहते है, इसलिये खेल के मैदान के प्रति वे अधिक दिलचस्पी रखते है; क्योंकि वहाँ वयस्कों का दबाव या अनुशासन नहीं रहता, बल्कि समान आयु के हमजोलियों का ही दल रहता है। अतः, वहाँ बच्चों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है। मनोविश्लेषकों ने तो बतलाया है कि खेलने में बच्चे अपने मानसिक अंतर्द्वंद्वों (mental conflicts) तथा अतृप्त इच्छाओं की भी अभिव्यक्ति स्वच्छंद होकर करते हैं। इससे उनका मनोवैज्ञानिक तनाव (Psychological tension) कम हो जाता है, जो सामान्य व्यक्तित्व-विकास के लिये उत्तम होता है।

खेल से बच्चों का शारीरिक गठन तथा स्वास्थ्य उत्तम हो जाता है। खेलने में वे नये-नये शब्दों को सीखते है तथा वाक्य-प्रयोग में भी कुशल हो जाते है। तरह-तरह के नियमों के सीखने तथा समस्या-समाधान के लिये खेल के मैदान में काफी अवसर मिलता है। खेलने में बच्चे सहयोग देने, मैत्री स्थापित करने तथा नेतृत्व करने आदि सामाजिक व्यवहार में कुशल होते हैं। इतना ही नहीं, वे क्रोध की अभिव्यक्ति पर नियंत्रण करना, निराधार भय को दूर करना तथा सहानुभूति प्रकट करना भी सीखते हैं। उनका सांवेगिक जीवन खेल में अधिक संतुलित हो पाता है; क्योंकि संवेगात्मक तनाव को खेलने में सक्रिय भाग लेकर या आपस में सामाजिक व्यवहार के द्वारा वे कम करने का अवसर पाते है। खेलने में बच्चे बहुत तरह के अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। अतः, यह कहा जाता है कि व्यक्तित्व-विकास में खेल का बहुत अधिक महत्त्व है; क्योंकि खेलने से उनका सर्वांगीण विकास होता है। खेल का अर्थ हमें वृहद् रूप में समझना होगा। इसकी चर्चा 'खेल' अध्याय में विशद रूप से गई है। खेलने में तरह-तरह के साथियों के साथ बच्चे अभियोजन करना सीखते है, जो वास्तविक जीवन के लिये काफी उपयोगी होता है। खेलने में वे नई-नई विशेषताओं को अर्जित करते है, जो उनके व्यक्तित्त्व के लिये महत्वपूर्ण मानी जाती हैं।

खेल के मैदान तथा साथियों का प्रभाव हमेशा अनुकूल रूप में ही नहीं पड़ता, बल्कि कुछ बच्चे यहीं अवांछित (undesirable) विशेषतायें विकसित कर लेते है। साथियों का प्रभाव उनके व्यवहार पर बहुत अधिक पड़ता है।

दल-निर्माण (gang formation) आदि भी यहीं से आरम्भ होता है। अतः, साथियों के चुनाव में सावधानी की आवश्यकता है। हीन भाव से ग्रस्त या परिवार से उपेक्षित बच्चे अपनी कमी की पूर्ति के सिलसिले में यहाँ गैरसामाजिक व्यवहार विकसित कर लेते हैं। अतः, व्यक्तित्व-विकास इन सभी चीजों से बहुत अधिक प्रभावित होता है।

४. पुस्तकालय और चलचित्र

विद्यालय के अतिरिक्त पुस्तकालय तथा चलचित्र भी व्यक्ति को प्रभावित करता है। प्रायः जासूसी उपन्यास तथा सस्ते साहित्य में रुचि विकसित हो जाने पर व्यक्ति के दृष्टिकोण में काफी परिवर्तन आ जाता है। गाँव तथा शहर के पुस्तकालयों में ऐसी पुस्तकें कम नहीं रहतीं; क्योंकि वे सस्ती होती हैं। पुस्तकाध्यक्ष भी इतनी रुचि नहीं रखते कि किस बच्चे या व्यक्ति को किस प्रकार की पुस्तकें दी जाती हैं। किशोरावस्था में जब व्यक्ति की यौन-रुचि बढ़ जाती है, तब वे यौन-साहित्य (Sex-Literature) के अध्ययन की ओर मुड़ जाते हैं। अगर ये पुस्तकें अवैज्ञानिक ढंग से लिखी होती हैं, तो व्यक्ति यौन-जीवन के प्रति अस्वस्थ मनोवृत्ति विकसित कर लेते हैं।

मनोरंजन के साधन के रूप में चलचित्र (cinema) आकर्षण का केन्द्र है। यद्यपि श्रव्य-दृश्य प्रसाधन (audio-visual aid) के रूप में उन्नत राष्ट्रों में इसका उपयोग शिक्षा-प्रसार में किया जाता है, कुछ देशों में यह मात्र आनन्द का साधन है। तरह-तरह के अभिनेताओं और अभिनेत्रियों का अनुकरण करना व्यक्ति का एक रुचिकर विषय बन गया है। कहा जाता है कि किशोरावस्था में प्रेमी नायक तथा खलनायक दोनों व्यक्ति को अधिक प्रभावित करते हैं और दर्शकों में जाने कितने बाल अपराधी (delinquaint) बन जाते हैं। चलचित्र ने व्यक्ति के सामाजिक जीवन को बहुत प्रभावित किया है। अध्ययन से पता चलता है कि चलचित्र के कारण तरह-तरह के अपराधों में भी वृद्धि हुई है।

५. सामाजिक नियम

जिस सामाजिक वातावरण में व्यक्ति रहता है, उसमें प्रचलित नियमों के द्वारा वह अनुशासित होता है। उसी समाज की मान्यता के अनुकूल वह आदतों तथा विशेषताओं को अर्जित करता है। एक समाज में रहने वाले व्यक्ति का व्यवहार दूसरे समाज के व्यक्तियों के व्यवहार से भिन्न हो सकता है; दोनों प्रकार के

समाज में व्यक्तित्व-विकास समान रूप में नहीं हो सकता। भाषा तथा पहनावा आदि भी दो समाज में भिन्न हो सकते हैं। दोनों समाजों में भिन्न-भिन्न प्रकार के विश्वासों की मान्यता हो सकती है। अंत में यह भी कहा जा सकता है कि दोनों समाज में रहने वाले व्यक्तियों के ढंग (manners) में भी भिन्नता हो सकती है। अतः, व्यक्तित्व-विकास पर वर्तमान सामाजिक वातावरण का काफी महत्त्व-पूर्ण प्रभाव पड़ता है।

६. संस्कृति

सांस्कृतिक वातावरण व्यक्तित्व-विकास के लिये बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। सभी संस्कृति में व्यक्तित्व का विकास समान रूप में नहीं होता। हर संस्कृति की अपनी परम्परा (traditions) होती है, जिसके अनुकूल व्यक्ति शिक्षित होते हैं और सांस्कृतिक मान्यतायें प्राप्त करते हैं। संस्कृति का मतलब होता है कि किसी भी सामाजिक समुदाय (social group) के विशिष्ट व्यवहार का ढंग क्या होता है। रॉल्फ लिन्टन (Ralph Linton) ने इसकी परिभाषा 'किसी भी समाज में रहने के ढंग' के रूप में की है। सभी संस्कृतियों में बच्चों के पालन-पोषण का ढंग समान नहीं होता। अतः, उनका व्यक्तित्व-विकास भी भिन्न-भिन्न रूप में होता है। प्राचीन तथा आधुनिक सभ्य संस्कृतियों में व्यक्ति के जीवन में बहुत अधिक अंतर है। सभ्य संस्कृति में व्यक्ति की अधिकांश समस्याओं को हल करने की उपलब्धियाँ वर्तमान हैं जब कि प्राचीन संस्कृति का जीवन अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। व्यक्तित्व और संस्कृति में बहुत ही घना संबंध है। जिस संस्कृति में समाज तथा सामाजिक जीवन का जो स्वरूप होता है, उसी के अनुकूल व्यक्ति का विकास होता है। इतना कहा जा सकता है कि धार्मिक परिपाटी, वेश-भूषा, परम्परागत विश्वास, चिन्तन, सामाजिक मान्यता तथा जीवन-शैली आदि के द्वारा व्यक्तित्व-विकास काफी प्रभावित होता है।

६. व्यक्तित्व के विशेषक

(Personality Traits)

व्यक्तित्व को अच्छी तरह समझने के लिये व्यक्तित्व-विशेषकों (Personality traits) को समझना आवश्यक है। पहले व्यक्तित्व को 'प्रकार' (types) के रूप में समझा जाता था, किन्तु अब मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व-विशेषकों को व्यक्तित्व-प्रकार से अधिक उत्तम मानते हैं। साहस, उदारता,

ईमानदारी, सामाजिकता तथा दृढ़ता आदि व्यक्तित्व के कुछ विशेषक हैं। ये विशेषतायें संगतिपूर्वक उनके व्यवहार में प्रदर्शित होती हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि विशेषक (trait) से व्यक्ति के संगत व्यवहार (consistent behaviour) का बोध होता है। विशेषकों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति किस प्रकार अपने व्यवहार प्रकट करता है। परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ व्यक्ति के व्यक्तित्व-विशेषकों में भी परिवर्तन देखा जाता है।

इन विशेषकों में कुछ आनुवंशिक होते हैं और कुछ अर्जित। यौन-भेद के अनुसार लड़के और लड़कियों में भिन्न-भिन्न विशेषतायें देखी जाती हैं। बाल्यावस्था में बच्चों का अधिकांश समय अन्य साथियों के सम्पर्क में बीतता है। उनके सामाजिक विशेषकों का विकास उस वातावरण के साथियों की मान्यताओं तथा आलोचनाओं पर ही निर्भर करता है। अतः, उनकी मनोवृत्तियों और प्रतिक्रियाओं पर सामाजिक मत (opinion) का काफी प्रभाव पड़ता है। इससे उनके व्यक्तित्व में काफी परिवर्तन होता है। लड़कों में जिन विशिष्ट व्यवहारों की मान्यतायें स्वीकृत होती है, सम्पर्क में आनेवाले सभी लड़के तदनुसार अपने व्यवहार में परिमार्जन लाने की चेष्टा करते है। उनमें शारीरिक बनावट, दृढ़ता, प्रभुत्व, मैत्री तथा नेतृत्व आदि विशेपताओं का सामाजिक महत्त्व अधिक दिया जाता है। लड़कियों के लिये भिन्न सामाजिक विशेषकों की मान्यता रहती है; उनमें सौन्दर्य, स्वच्छता, सुव्यवस्थितता तथा सामाजिक कौशल आदि विशेषतायें प्रशंसनीय हैं। व्यक्ति की इन विशेषताओं में आयु-वृद्धि के साथ परिवर्तन भी होता है। उनके आदर्श (ideals) तथा व्यवहार में भी काफी परिवर्तन पाया जाता है, जिसका प्रभाव व्यक्तित्व पर बहुत अधिक पड़ता है।

यों तो विशेपकों की एक लम्बी सूची ही दी गई है; किन्तु कैटेल (Cattell) ने बाद में एक संक्षिप्त सूची प्रस्तुत की है, जिसमें २० विशेषकों का उल्लेख है। इस सूची में आए हुए विशेषकों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। यद्यपि यह संक्षिप्त सूची काफी महत्त्वपूर्ण है, फिर भी, हम यहाँ कुछ ही प्रमुख विशेषकों का उल्लेख कर सकेंगे। अतः, यहाँ पर प्रभुत्व-अधीनता, अन्तर्मुखता- बहिर्मुखता, दृढ़ता, सामाजिकता तथा संवेगात्मक अस्थिरता आदि विशेषकों का उल्लेख किया जायगा :—

१. प्रभुत्त्व-अधीनता (Dominance-Submission)

प्रभुत्त्व-अधीनता व्यक्तित्व के एक प्रमुख विशेषक के रूप में मानी जाती है। यह विशेषता व्यक्ति में किसी भी मात्रा में देखी जा सकती है। जब कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति या समुदाय पर अपना प्रभाव या अधिकार दिखाता है, तो उसे प्रभुत्त्व के रूप में समझा जाता है। ठीक इसके विपरीत जब कोई व्यक्ति किसी की अधीनता स्वीकार कर लेता है, तो उसे 'अधीनता' कहते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने बच्चों पर इस विशेषक (trait) का अध्ययन किया है। देखा गया है कि कुछ बच्चे दूसरों पर अपना अधिकार जमाना चाहते हैं; खेल में काफी सक्रिय भाग लेते है तथा नेतृत्त्व करने को अग्रसर हो जाते हैं। अगर उनके आदेशानुसार अन्य बच्चे उनका अनुगमन नहीं करते, तो वे विरोध करते हैं। इसके विपरीत, कुछ बच्चे आदेश का पालन करने, समर्थन करने तथा अनुगमन करने को तैयार हो जाते है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह विशेषता बच्चों में जीवन के प्रारम्भिक भाग से ही देखी जाती है।

यह ध्यान में रखना है कि प्रभुत्त्व और अधीनता के दोनों सीमान्तों पर पाये जानेवाले व्यक्तियों की संख्या बहुत कम होती है। दोनों के मध्यवर्ती भाग में ही बहुसंख्यक का प्रमाण मिलता है। व्यक्तित्व का यह विशेषक विभिन्न परिस्थितियों में समान रूप में नहीं देखा जाता; बल्कि परिवर्तित परिस्थितियों में इसमें भी परिवर्तन पाया जाता है। कोई व्यक्ति एक परिस्थिति में प्रभुत्त्व दिखा सकता है, तो दूसरी परिस्थिति में अधीनता।

सामान्यतः कोई बच्चा समुदाय में, जहां वह अपना प्रभाव दूसरों पर दिखा सकता है, नेतृत्व करने में समर्थ होता है। किंतु, दूसरी परिस्थिति में, जहाँ समुदाय का नेतृत्व करने में असफलता दीखती है, वहाँ अधीनता स्वीकार कर लेता है। एक अधीनताप्रिय व्यक्ति भी अनुकूल परिस्थिति में किसी समुदाय का नेतृत्व करते देखा गया है। व्यक्ति के सामाजिक अनुभव (social experience) तथा प्रशिक्षण (training) के फलस्वरूप इस प्रभुत्व-अधीनता विशेषक मे बहुत हद तक परिमार्जन संभव होता है।

२. अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता (Introversion-Extroversion)

अन्तर्मुखता तथा बहिर्मुखता व्यक्तित्व के प्रमुख विशेषक है, जिनसे यह ज्ञात होता है कि कोई व्यक्ति किस प्रकार वातावरण के साथ अपना अभियोजन

स्थापित करता है। प्राय: अन्तर्मुखी व्यक्ति 'अहम्' (self) की प्रधानता अधिक देते हैं और स्पष्टत: उनका व्यवहार कुछ ऐसा होता है, जैसे वाह्यजगत की प्रधानता अपेक्षाकृत कम हो। लेकिन, बहिर्मुखी व्यक्ति स्वभावत: वस्तु-निष्ठ रूप से (objectively) चिंतन तथा कार्य करते हैं। बाल्यावस्था से ही ये विशेषक (traits) बच्चों में देखने को मिलते हैं। कुछ बच्चे बड़ी सुगमता से अन्य व्यक्तियों से मिलते हैं तथा खेल में सभी वस्तुओं के साथ अपना संबंध स्थापित कर लेते हैं। ठीक इसके विपरीत कुछ ऐसे भी बच्चे हैं, जो तटस्थ रहते, वस्तुओं के सम्पर्क में नहीं आते तथा अपरिचित व्यक्तियों से अपना संबंध भी स्थापित नहीं कर सकते।

जिन बच्चों का पालन-पोषण संतुलित ढंग से किया जाता है तथा वातावरण की विभिन्न वस्तुओं के साथ सम्पर्क कराया जाता है, वे अधिक सामाजिक होते हैं। लेकिन, जिनका समाजीकरण उचित ढंग से नहीं हो पाता और किसी व्यवहार के लिये आलोचना और दंड (punishment) ही मिल पाता है, तो ऐसी स्थिति में वे वाह्यवातावरण से विमुख होने की प्रवृत्ति विकसित कर लेते हैं। वे संभवत: आत्मकेंद्रित हो जाते हैं। शारीरिक दोष तथा अभियोजन की असफलता के कारण प्राय: अन्तर्मुखता विशेषक का विकास होता है।

अन्तर्मुखी व्यक्ति का जीवन व्यक्तिनिष्ठ (subjective) होता है। प्राय: वे शांत रहना तथा निर्जन स्थान अधिक पसन्द करते हैं। उनके विचारों में दृढ़ता तथा आदर्श पाये जाते हैं तथा वे दिवास्वप्न (daydreaming) और आत्म-विश्लेषण (seft-analysis) में मस्त रहते हैं। वे अल्पभाषी तथा संकोची होते हैं। बहिर्मुखी व्यक्ति वाचाल तथा सहयोगी होते हैं। वे वातावरण के साथ अपना संबंध स्थापित कर लेते हैं तथा आलोचनाओं से अधिक नहीं घबड़ाते। उनमें संदेह की भावना कम देखी जाती है। वे समुदाय के सदस्यों से सहर्ष मिलने तथा नेतृत्व करना पसन्द करते हैं। उनका सांवेगिक जीवन अपेक्षाकृत उत्तम होता है। न्युकॉम्ब (Newcomb) के अध्ययन से भी यह स्पष्ट है कि बच्चों में आरम्भ से ही अन्तर्मुखता तथा बहिर्मुखता विशेषक देखे जाते हैं। उनमें किसी परिस्थिति में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति, तो दूसरी परिस्थिति में बहिर्मुखी प्रवृत्ति देखी जाती है।

जुंग (Jung) ने अन्तर्मुखी (Introvert) तथा बहिर्मुखी (Extrovert)—दो प्रकार के व्यक्तित्व का उल्लेख किया है। लेकिन,

ये दोनों व्यक्तित्व-प्रकार (Personality types) चरम सीमा के द्योतक हैं। इन दोनों सीमान्तों में मध्य ही अधिकांश व्यक्ति पाये जाते हैं, जिनमें परिस्थितियों के अनुकूल दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। ऐसे व्यक्तियों को उभयमुखी (Ambivert) कहते हैं।

आजकल कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता के अन्तर्गत बहुत-से विशेषक आ जाते हैं; अतः उन्हें केवल एक विशेषक के रूप में मानना उचित नहीं। उनमें से प्रत्येक में करीब पाँच-पाँच विशेषकों का उल्लेख मिलता है।

३. दृढ़ता (Persistence)

व्यक्तित्व-विशेषकों में दृढ़ता (persistence) का काफी महत्त्व है। कुछ व्यक्तियों में यह विशिष्ट व्यवहार देखा जाता है कि विघ्न-बाधाओं की परवाह न करते हुए अपने कार्य का सम्पादन करके ही दम लेते हैं। यह उनकी दृढ़ता कही जाती है। मनोवैज्ञानिकों ने अध्ययन के आधार पर बतलाया है कि कुछ बच्चे काफी लगन के साथ कार्य नहीं कर सकते और किसी प्रकार की बाधा से घबड़ाकर वे कार्य को अधूरा ही छोड़ देते हैं। ऐसे बच्चों में दृढ़ता की कमी रहती है। लेकिन, अध्ययन के सिलसिले में ऐसे भी बच्चे देखे गये हैं, जो बहुत हठी होते हैं और काफी दृढ़ता के साथ हर तरह की दिक्कतों को उठाते हुए अपने लक्ष्य की प्राप्ति करके ही संतुष्ट हो पाते हैं। जिन बच्चों में दृढ़ता की क्षमता रहती है, वे कार्य-सम्पादन में कभी हतोत्साह नहीं होते, बल्कि अन्य सहयोगियों को भी प्रोत्साहित करते हैं।

४. सामाजिकता (Sociability)

बच्चों के सामाजिक व्यवहार के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि कुछ बच्चों में सामाजिकता अपेक्षाकृत अधिक देखी जाती है। वे अन्य बच्चों के साथ खेलने, अपने खिलौने देने तथा दूसरों के खिलौने लेने में नहीं हिचकिचाते। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी बच्चे होते हैं, जो अन्य व्यक्तियों से मिलने या खेलने में सक्रिय भाग नहीं लेते। सामाजिकता के कारण बच्चों में मैत्री-भाव रखने तथा सामाजिक कार्यों में भाग लेने में दिलचस्पी रहती है। इस विशेषता के कारण ऐसे व्यक्ति सामाजिक संस्थाओं में खुल कर भाग लेते हैं तथा नेता भी बनते हैं। जिन व्यक्तियों में इसका अभाव रहता है, वे लजालु, तटस्थ तथा शांत होते हैं।

वे सामाजिक आलोचनाओं के प्रति अत्यन्त संवेदनशील होते है। यह सामाजिकता सभी व्यक्तियों में समान रूप में नहीं पायी जाती। देखा गया है कि विभिन्न परिस्थितियों में इसमें मात्रा-भेद रहता है। यह भी पाया गया है कि कोई बच्चा एक परिस्थिति में विशिष्ट सामाजिक व्यवहार दिखाता है, तो दूसरी परिस्थिति में पृथकता।

५. संवेगात्मक अस्थिरता (Emotional Instability)

व्यक्तित्व का यह विशेषक सांवेगिक जीवन के लिये काफी महत्त्वपूर्ण है। सामाजिक जीवन, मैत्री तथा प्रेम के लिये संवेग ही प्रेरित करता है। अतः, संतुलित सांवेगिक जीवन व्यक्ति को आनन्द प्रदान करता है। संवेगात्मक अस्थिरता के कारण व्यक्ति चिड़चिड़ा हो जाता है। वह अनुकूल परिस्थिति में अपनी संवेगात्मक अभिव्यक्ति पर नियंत्रण रखने में असमर्थ रहता है। कभी तो वह अत्यधिक खुश रहता है, तो कभी बहुत दुःखी। उसकी संवेगात्मक अभिव्यक्ति में स्थिरता नहीं देखी जाती। कभी साधारण आलोचना के प्रति भी उसमें बहुत अस्वाभाविक ढंग से प्रतिक्रिया हो जाती है, तो कभी इसके विपरीत व्यवहार होता है। संवेगात्मक अस्थिरता के कारण व्यक्तित्व का विकास संतुलित ढंग से नहीं हो पाता। कुछ बच्चे प्रारम्भ से ही खिन्न (depressed) तथा चिड़चिड़े देखे जाते हैं। अतः, ऐसे व्यक्तियों के जीवन में सुखद तथा दुःखद भावों में संतुलन नहीं रह पाता। वस्तुतः संवेगात्मक अस्थिरता के कारण व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य सामान्य नहीं माना जा सकता।

—o—

सहायक ग्रंथों की सूची

1. Manual of Child Psychology
   —*Edt. by Leonard Carmichael.*
2. Child Psychology —*F. D. Brooks.*
3. Child Development—*E. B. Hurlock.*
4. Child Psychology—*A. T. Jersield.*
5. Developmental Psychology—*E. B. Hurlock.*
6. Adolescent Development—*E. B. Hurlock.*
7. Child Psychology—*Leigh Peck.*
8. Human Development
   —*J. P. Zubek and P. A. Solberg.*
9. The Psychology of Adolescence
   —*S. Hoglingworth.*
10. Psychology of Adolescence—*K. C. Garrison.*
11. An Introduction to Child study—*P. Strange.*
12. Psychology of Adolescence—*Louella Cole.*
13. Wechsler Intelligence scale for children
    —*David Wechsler.*
14. Reading Readiness—*M. Lucile Harrison.*
15. Infants without families
    —*By Anna Freud & Dorothy Burlingham.*
16. Psychoanalysis of Children—*Melani Klein.*
17. Psychoanalysis for Teachers & Parents
    —*Anna Freud.*
18. The first five years of life—*Arnold Gesell.*
19. Social Development in young child
    —*Susan Isaecs:*
20. Anger in children—*Florence Goodenough.*

21. Jealousy in children : A Guide for Parents
—*Edmund Ziman.*
22. Psychological Factors in Marital Happiness
—*Lewis M. Terman & Others.*
23. The Chosen Baby—*Valentina P. Wasson.*
24. The story of my Psychoanalysis
—*John Knight.*
25. Child Behaviour and Development
—*Baker, Kounin & Wright.*
26. The first year of Life—*C. Buhler.*
27. Infancy and Human growth—*Arnold Gesell.*
28. Developmental Psychology—*F. L. Goodenough.*
29. Psychology of Play activities
—A. *C. Lehman & P. A. Witty.*
30. Social and Emotional Development of the preschool child—*Bridges.*
31. The language and thought of the child
—*J. Piaget.*
32. Judgement and Reasoning in the child
—*J. Piaget.*
33. Children's Reading Interest—*R. L. Thorndike*
34. Child Behaviour
—*Frances L. Ilg & Louise Bates Ames-*
35. The Miracle of Growth
—*Pub. from University of Illinois.*
36. Understanding Human Nature—*Alfred Adler.*
37. The Psychology of Personality
—*Bernard Not cutt.*
38. Psychology for Life—*Harry Ruja.*
39. Foundations of Psychology
—*E. G. Boring, Langfeld and* Weld.
40. Psychology Applied to Human affairs—*Gray.*

—o—

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	१२	Delingquency	Delinquency
१३	५	Diagonosis	Diagnosis
१६	२०	Cinimatography	Cinematorgraphy
४५	१२	Influnce	Influence
५२	२६	Chimpansee	Chimpanzee
५८	१७	तारुगयारंभ	तारुण्यारम्भ
५६	२८	Filbers	Fibers
६१	४	Pituitery	Pituitary
६८	१२	खड़खड़हट	खड़खड़ाहट
८०	८	Lyryux	Laryux
८२	७	Pronounciation	Pronunciation
८२	२२	Languge	Language
१०१	१०	Charactoristics	Charecteristics
११०	६	Parentl	Parental
११४	११	Charactoristics	Characteristics
११६	१२	Strage	Strange
११६	२८, ३०	Chimpanzess	Chimpanzees
१२०	२	assoication	association
१·३	४	Charactoristics	Characteristics
१३६	१५	Coressed	Caressed
१४५	१६	Indentification	Identification
१५३	१६	socio-econonic	Socio-economic
१५५	२५	जातो	जाती
१५८	११	अभिलाषित	अभिलषित
१५६	४	अभिलाषित	अभिलषित

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६२	१७	समाजीकरण	सामान्यीकरण
१६३	२	समाजोकरण	सामान्यीकरण
१६७	७	Adolsence	Adolescence
१६६	११	anailability	availability
१७२	२२	chrowlogical	chronological
१७६	२०	११८ महीने	१३८ महीने
१७७	२८	increasement	increment
१७८	१७	increasement	increment
१७८	७	advaned	advanced
१८७	४	endresult	end result
१६६	२५	sympathey	sympathy
२०८	४	व्यक्तित्व उन...	व्यक्तित्व व्यक्ति के उन
२०८	१८	व्यात्रया	व्याख्या
२१६	७	Hereditory	Hereditary
२२४	२१	Seft analysis	Self-analysis